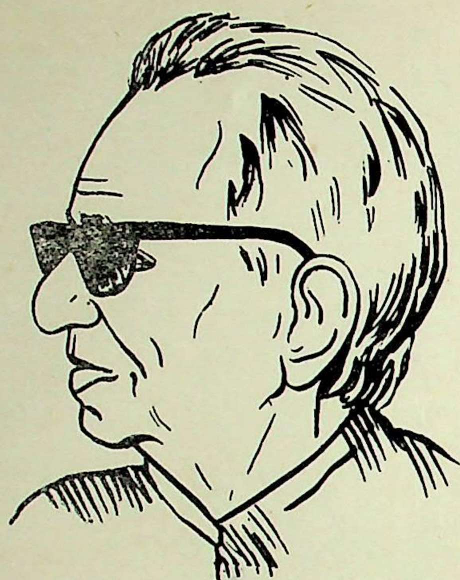
संपादक
डॉ० नारायणदत्त पालीवाल

सहायक संपादक
हरिसुमन बिष्ट

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिन्दी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

सपर्क सम्पादक हिन्दी अकादमी दिल्ली ए-२६/२७, सनलाइट इश्योरैंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११० ००२



जैनेन्द्र कुमार

जन्म : २ जनवरी, १९०५

निधन : २४ दिसम्बर, १९८८

मुख्य रचनाएँ : 'प्रस्तुत प्रश्न', 'कल्याणी', 'जड़ की बात', 'पाजेब', 'धुव्र-यात्रा', 'जयसंधि', 'पूर्वोदय', 'सुखदा', 'सोच-विचार,' 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जैनेंद्र की कहानियाँ', (दस भागों में), 'साहित्य का श्रेय और प्रेम', 'काम, प्रेम और परिवार', 'मंथन', 'ये और वे', 'जयवर्धन' ,'समय और हम', 'इतस्ततः', 'अनाम स्वामी', 'परि-प्रेक्ष्य', 'राष्ट्र और राज्य', 'साहित्य और संस्कृति', 'प्रेमचन्द एक कृती व्यक्तित्व', 'कहानी : अनुभव और शिल्प', 'समय, समस्या और सिद्धान्त,' 'प्रेम और विवाह', 'अकाल पुरुष गाँधी', 'प्रश्न और प्रश्न', 'वृत्त बिहार', 'शिक्षा और संस्कृति', 'क्या अभी भविष्य है ?', 'मेरे भटकाव', 'कश्मीर की वह यात्रा', 'दशार्क' तथा 'पाप और प्रकाश', (अनूदित), 'यामा', (अनूदित) आदि ।

पुरस्कार : इंडियन अकादमी, इलाहाबाद ('परख'—१९२९), भारत सरकार, शिक्षा मंत्रालय, ('प्रेम में भगवान'—१९५२), साहित्य अकादमी ('मुक्ति-बोध'—१९६५), हस्तीमल डालमिया पुरस्कार, उत्तर प्रदेश राज्य सरकार ('समय और हम'—१९७०), पद्‌मभूषण (भारत सरकार—१९७१), मानद डी० लिट्० (आगरा विश्वविद्यालय-१९७२), मानद डी० लिट्०(दिल्ली विश्वविद्यालय-१९७३), साहित्य वाचस्पति (उपाधि : हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग-१९७३), विद्या वाचस्पति (उपाधि गुरुकल कांगड़ी), साहित्य अकादमी की फैलोशिप (१९७४), एक लाख रुपये का अणुव्रत पुरस्कार (१९७८), उत्तर प्रदेश सरकार का एक लाख रुपये का 'भारत भारती' पुरस्कार (१९८४) आदि ।

प्रस्तुति : **हरिसुमन बिष्ट**

इन्द्रप्रस्थ भारती

वर्ष २ ; अंक १

जनवरी-मार्च १९८९

इस पत्रिका में व्यक्त विचार रचनाकारों के अपने हैं। इनसे सम्पादक की नीतियों व विचारों का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

आवरण चित्र

प्रमोद गणपत्ये

शुल्क : एक प्रति **पाँच रूपये**, वार्षिक **बीस रूपये**। वार्षिक ग्राहक बनने के लिए शुल्क,

सचिव,

हिन्दी अकादमी, दिल्ली,

ए-२६/२७, सनलाइट इश्योरेंस बिल्डिंग, आसफ अली रोड नई दिल्ली/११० ००२ को भेजें।

पाठकीय

'इन्द्रप्रस्थ भारती' का अक्तूबर-दिसम्बर, १९८८ अंक प्राप्त हुआ।

मन तो अंक की सभी रचनाओं पर विस्तार से लिखने को कर रहा है, पर 'टिप्पणी' की अपनी एक खास सीमा होती है, जो कलम को जकड़ रही है।

'सम्पादकीय' में कल और आज की दिल्ली एवं दिल्ली की धूमिल होती जा रही लोक-संस्कृति पर एक अच्छा संक्षिप्त लेख प्रस्तुत किया गया है। वैसे आज की दिल्ली का विकृत चेहरा भी खुलकर प्रस्तुत किया जाना चाहिए था। लगता है, या तो आप आज की दिल्ली के कुरूप चेहरे को सामने लाने से बचना चाहते हैं अथवा सम्पादकीय की संक्षिप्तता की अनिवार्यता के वश आपने नहीं लिखा, फिर भी चन्द पंक्तियों में आपने आज की दिल्ली को परिभाषित किया है, बधाई स्वीकारें।

'हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ आत्मकथा' एक ऐतिहासिक प्रस्तुति है। 'राष्ट्रीय एकता और हिन्दी' लेख तो मैं अपने बच्चों को भी पढ़ा रहा हूँ। 'समकालीन कहानी : अघोषित आन्दोलन' में सिद्धेश्वर जी ने भी वैसा ही कुछ किया है, जैसा वे आरोप लगाते हैं—पूर्वग्रह का।

योगेश गुप्त की कहानी 'उत्तराधिकारी' आज के सन्दर्भ में शत-प्रतिशत प्रासंगिक है। 'तिरस्कृत' में मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग की एक ही समस्या को सामने रखकर दोनों की मानसिकताओं के अन्तर का बखूबी निर्वाह किया गया है। 'जीवन संध्या' कहानी अति-सामान्य लगी, क्योंकि इस तरह की कहानियाँ **उषा प्रियंवदा** की 'वापसी' से लेकर **रामधारी सिंह दिवाकर** की कहानी 'जहर' तक कई लेखकों ने बारम्बारता में लिखी हैं।

रमाकान्त के उपन्यास-अंश ने भी संतुष्ट किया। **रतन वर्मा**

हजारीबाग (बिहार)

'इन्द्रप्रस्थ भारती' का अक्तूबर-दिसम्बर, १९८८ अंक लब्ध हुआ। मस्तिष्क को पूरी खुराक मिली। हर प्रान्तीय भाषा की साहित्य-वाटिका की अपनी मधुरिमा, खुशबू है। पर, राष्ट्रभाषा हिन्दी उद्यान के बिखरे पुष्पों को एक सूत्रता में पिरोने का तथा आजाद चमन की बहार बरकरार रखने का सामर्थ्य रखती है। आप विश्व साहित्योद्यान के अनमोल फूलों को एकत्र कर हिन्दी के धागे में पिरोकर भारती की ग्रीवा में मनोज्ञ हार डालने का महत् कार्य कर रहे हैं। विष्णु प्रभाकर का लेख चिकोटी काटकर राजनीतिज्ञों के मानस का कपाट खोल देता है। पाठ्य सामग्री के संचयन के लिए कोटिशः धन्यवाद। **—वीरेन्द्र कुमार**

नवाही सुरसंड (बिहार)

सम्पादकीय

'इन्द्रप्रस्थ भारती' के इस अंक के साथ हम पत्रिका के दूसरे वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। पत्रिका के प्रकाशन में हमें विभिन्न साहित्यकारों, लेखकों, बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, हिन्दी प्रेमियों एवं प्रतिष्ठित व्यक्तियों से सहयोग, मार्ग-दर्शन एवं सुझाव मिलते रहे हैं। राजधानी दिल्ली में तो पत्रिका का स्वागत हुआ ही है, देश-विदेश से भी प्रबुद्ध पाठकों द्वारा इस कार्य का स्वागत किया गया। इस प्रकार पत्रिका के माध्यम से जो भी सेवा की जा सकी है उसका श्रेय हमारे पाठकों और उन सभी महानुभावों को जाता है, जिनके विचारों से हमें निरन्तर प्रेरणा मिलती है। अतः सबके प्रति कृतज्ञतापूर्वक आभार प्रकट करना हमारा पुनीत कर्त्तव्य है। नया वर्ष नई आशाएँ लेकर आया है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पत्रिका की सफलता के लिए तथा इसकी उपयोगिता को और अधिक बढ़ाने की दिशा में विभिन्न क्षेत्रों से सहयोग सुलभ होगा और वह सहयोग ही हमारा सम्बल होगा। इसी आशा के साथ नये वर्ष के उपलक्ष्य में हार्दिक शुभ कामनाएँ तथा हार्दिक बधाई।

बीते हुए वर्ष में साहित्य जगत के ख्याति प्राप्त एवं मूर्धन्य साहित्यकारों के निधन से अपार क्षति पहुँची है। जानेमाने साहित्यकार प्रो० उमाशंकर जोशी का दुःखद निधन भाषा और साहित्य जगत की अपूरणीय क्षति है। भारतीय साहित्य में उनका अनूठा स्थान था और वे सदैव भाषा और साहित्य की सेवा के लिए समर्पित रहे। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रेरणा लेकर हमें समस्त भारतीय भाषाओं के उन्नयन, विकास तथा पारस्परिक तालमेल की दिशा में दृढ़ संकल्प के साथ सक्रिय रूप से आगे बढ़ना है।

सुप्रसिद्ध तमिल साहित्यकार एवं समालोचक का० ना० सुब्रह्मण्यम् का निधन भारतीय साहित्य जगत को एक और गहरा आघात है। साहित्य अकादमी सहित अनेक राज्य सरकारों एवं संस्थानों द्वारा सम्मानित का० ना० सुब्रह्मण्यम् अनेक भाषाओं के ज्ञाता एवं ग्रंथों के प्रणेता थे।

२४ दिसम्बर १९८८ को हिन्दी साहित्याकाश का एक और उज्जवल नक्षत्र सदा के लिए ओझल हो गया। वयोवृद्ध साहित्यकार जैनेन्द्र जी के निधन से साहित्य जगत की उस पीढ़ी का एक और स्तम्भ गिर गया, जिसने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से एक युग का निर्माण किया था। वे लगभग दो वर्ष तक अपने अद्भुत जीवट के कारण मृत्यु से जूझते रहे। जैनेन्द्र कुमार एक ऐसे वट-वृक्ष थे जिसने अनेक झंझावातों को झेलते हुए भी अपनी साधना, निष्ठा और कर्मठता के द्वारा अपनी विशिष्ट पहचान बनाई। ऐतिहासिक व्यक्तित्व के धनी श्री जैनेन्द्र कुमार जी के साहित्य से भावी पीढ़ियाँ कई युगों तक प्रेरणा लेती रहेंगी। जहाँ तक राजधानी दिल्ली का संबंध है, कथाशिल्पी जैनेन्द्र जी के उदय से यहाँ के साहित्यिक वातावरण को नये आयाम मिले। उच्चकोटि के साहित्यकार, विचारक, चिंतक के रूप में जैनेन्द्र जी को समस्त साहित्य जगत

से सदैव सम्मान मिला। नश्वर शरीर के न रहने के बावजूद वे अपने विचारों, सिद्धांतों, आदर्शों तथा कृतित्व के आधार पर सदैव अमर रहेंगे और साहित्य जगत जब भी उन्हें याद करेगा सम्मान एवं श्रद्धा के साथ ही याद करेगा।

इन्द्रप्रस्थ भारती परिवार एवं हिन्दी अकादमी ऐसे व्यक्तित्व के धनी मनीषियों के प्रति अश्रुपूरित नेत्रों से विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

सुपरिचित रंगकर्मी सफदर हाशमी का छिन जाना हम सभी के लिए हृदय विदारक है।

नौ दिल्ली दस बादली किला वजीराबाद

दिल्ली को भारत का दिल कहा जाता है। दिल की यह बस्ती कई बार उजड़ी और कई बार बसी। कहावत प्रसिद्ध है—"नौ दिल्ली दस बादली किला वजीराबाद"। दिल्ली में कई सल्तनतें आयीं, कई सम्राटों ने दिल्ली के वैभव का भोग किया। कई बादशाहों की शान और शौकत देखते ही बनती थी। इतिहास के पन्ने पलटें तो दिल्ली के बदलते हुए रंग इसकी हजारों साल पुरानी कहानी कहते चले जाते हैं। जिन नौ दिल्लियों की बात कही गई है, उनमें से एक है 'इन्द्रप्रस्थ'। इन्द्रप्रस्थ का संबंध पाण्डवों से जोड़ा गया है जो दिल्ली के प्राचीन नगर होने का प्रमाण है। पाण्डवों का किला आज भी पुराने किले के रूप में उस काल की समृद्धि और वैभव का परिचायक है। खण्डहरों की एक-एक ईंट में उस समय का इतिहास बोलता है। ऐसे ही दिल्ली का एक रूप था 'राय पिथौरा' जिसे लाल कोट—दिल्ली कहा जाता था। एक ऊँची दीवार के घेरे में बसी हुई उस दिल्ली का संबंध कुतुबमीनार के आसपास के क्षेत्र से था। यह कुतुबमीनार सदियों से दिल्ली के उत्थान और पतन की साक्षी रही है और जिसके निकट आज भी 'फूल वालों की सैर' हमें एक सूत्र में बाँधे रहती है। 'किलोकरी' भी किसी समय राजधानी रही, ऐसी किंवदन्ती सिरी किले के विषय में भी प्रचलित है। तुगलकाबाद और फिरोजाबाद का संबंध भी राजधानियों से जोड़ा जाता रहा है। बादली और वजीराबाद भी समय से बदलते जा रहे हैं। सबसे दिलचस्प कहानी है, पुरानी दिल्ली की जिसे कभी 'शाहजहाँनाबाद' कहा जाता था। दिल्ली का लालकिला, अजमेरी गेट, दिल्ली गेट, तुर्कमान गेट और लाहौरी गेट आज भी शाहजहाँनाबाद की याद दिलाते हैं और चाहरदीवारी के भीतर घिरी हुई पुरानी दिल्ली उस बीते हुए युग की जीती जागती तस्वीर है। यहीं बसा है चाँदनी चौक और यहीं है दरीबा। लोग कहते सुने जाते हैं दिल्ली का दिल है दरीबा और दरीबे का दिल है जलेबी। चाँदनी चौक में घंटे वाले का शाही सोहन हलवा भला किसे नहीं लुभाता। इसी क्षेत्र में जामा मस्जिद, जैन मन्दिर, गौरी शंकर मन्दिर, गुरुद्वारा शीशगंज और फतहपुरी की मस्जिद सदियों से हमारी एकता, भाईचारे और साम्प्रदायिक सद्भाव के प्रेरक केन्द्र रहे हैं। यहाँ के धार्मिक आयोजन, सांस्कृतिक उत्सव, राजनीतिक सम्मेलन और साहित्यिक समारोह सभी दिल्ली को एक नई पहचान देते आए हैं। यहाँ के कारीगरों, फनकारों, कलाकारों, अदीबों, साहित्यकारों, पत्रकारों, समाज सेवियों, राजनेताओं, स्वतंत्रता सेनानियों, शायरों, कवियों, कला प्रेमियों और विभिन्न क्षेत्रों से जुड़े हुए व्यक्तियों ने अपने-अपने ढँग से इस शहर की सेवा की है। इसीलिए यहाँ निरंतर मिली-जुली संस्कृति के दर्शन होते हैं। आज यद्यपि दिल्ली फैलती जा रही है, नई-नई बस्तियाँ बनती जा रही हैं, परन्तु इसके दो ही मुख्य रूप हैं—पुरानी दिल्ली और नई दिल्ली। यहीं अनेकता में एकता तथा मिली-जुली संस्कृति का स्वरूप साकार होता है।

इस दिल्ली ने कई सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक उतार-चढ़ाव देखे। कोई जमाना था जब ताँगे और इक्के शाही सवारी के रूप में दिल्ली की सड़कों पर शान से दौड़ा करते थे। जेठ की दुपहरी में सूनसान गलियों से खोमचे वालों की सुरीली आवाजें खस की खुशबू में अलसाये हुए लोगों तक पहुँचती थीं। कहीं कबूतरों और बटेरों के शौकीन लोग थे तो कहीं पतंग बाजी, नाटक मंडलियों की रौनक, महफिलों की चहल-पहल, कव्वाली और शेरो-शायरी का दौर, खुले मैदानों में लगने वाले मेलों की चहल-पहल और मजमा जोड़ने वालों की वाक्‌चातुरी सब देखते ही बनती थी। तब दिल्ली के जीवन में कोई बड़ा व्यापारी था तो कोई प्रसिद्ध वैद्य या नामी हकीम, वकीलों, बैरिस्टरों, जजों और रईसों का दबदबा था। कहीं अखाड़ों में पहलवानों की कुश्तियाँ रंग लाती थीं तो कहीं गायकों व संगीतज्ञों की महफिलें। संतों और फकीरों का भी अपना अलग ही स्थान था। राजनीतिक सभाओं और धार्मिक आयोजनों का अलग महत्व था। इतना होते हुए भी न इतनी भीड़-भाड़ थी न आपाधापी। दिल्ली अपने आप में शांत और संतुष्ट दिखाई देती थी।

धीरे-धीरे दिल्ली का रूप बदलने लगा। देश के सारे रास्ते दिल्ली की ओर मुड़ते दिखाई देने लगे। सुन्दर बागों का यह शहर आलीशान महलों, लम्बी चौड़ी सड़कों, चहल-पहल वाले सजे-धजे बाजारों और जगमगाती हुई बिजली के प्रकाश में डूबने लगा। पहले जहाँ धर्म-शालाएँ और मुहल्ले के पंचायतघर हुआ करते थे वहाँ समुदाय भवनों की संस्कृति पनपने लगी। खोमचे वालों से समोसे, चाट या मिठाई का दोना लेकर चुपचाप दीवार की तरफ मुँह करके परदे में खाने वाली यह दिल्ली अब पाँच सितारा होटलों की संस्कृति के मोह में पड़ने लगी। ताशे, नफीरी और शहनाई के सुरीले स्वर भी आधुनिकता के मोह में उलझी डिस्को संस्कृति में बदलने लगे। समय की बदलती हुई रफ्तार ने सब कुछ बदल दिया। रीति-रिवाज बदले, आस्थाएँ बदलीं, मान्यताएँ बदलीं, और रहन-सहन तथा जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया।

विज्ञान और तकनीकी उन्नति के इस युग में दिल्ली नई आशाओं व आकांक्षाओं के अनुकूल फैलती गई। औद्योगिक बस्तियाँ बनीं। अनेक नगर तथा विहार अस्तित्व में आए। मास्टर प्लान बना। नौ दिल्ली वाली कहावत पुरानी पड़ गई। और बृहद दिल्ली तथा राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र का मामला उभरा। डी० डी० ए० ने विकास के नए आयाम प्रस्तुत किए। दिल्ली नए रूप में सजती संवरती और निखरती गई। विकास के इस नए दौर में दिल्ली में जनसंख्या निरन्तर बढ़ती गई। दिल्ली को समस्याओं की एक नगरी का रूप मिल गया। कभी पानी की समस्या है तो कभी राशन और दूध की। कभी महामारी है तो कभी बाढ़ का प्रकोप।

उद्योगों, कल-कारखाने और नित नए खुलने वाले संस्थानों ने जहाँ रोजगार के अवसर प्रदान किए वहीं पर्यावरण की समस्या भी खड़ी कर दी। दूसरी ओर आलीशान बस्तियों के चेहरों पर झुग्गी झोंपड़ियों के निशान दिल्ली के सौन्दर्य को बिगाड़ने की भूमिका अदा करने लगे। ऐसे माहौल में जहाँ समृद्धि है, सुख के साधन हैं और विलासिता का भरपूर वाता-वरण है वहीं दैन्य, भुखमरी, गरीबी और दाने-दाने के लिए तरसती हुई असंख्य आत्माएँ भी दिल्ली का ही सुख भोग रही हैं। बहुमंजिली वातानुकूलित इमारतों के निर्माण में अपने सौन्दर्य, शक्ति और श्रम की आहुति देते हुए मजदूरों के मासूम बच्चे जब तपती हुई दोपहरी में काम करती माँ के पास तारकोल की सड़क पर रोते-बिलखते रहते हैं या कड़ाके की सर्दी में खुले

आसमान के नीचे ठिठुरते रहते हैं तो दिल्ली के लिए 'वेदर्द दिल्ली' अथवा 'बेरहम दिल्ली' का विशेषण सार्थक लगने लगता है। उधर वातानुकूलित इमारतों में जीवन के समस्त ऐश्वर्यों के मध्य पलता हुआ जीवन दिल्ली की 'दरियादिली' का अहसास कराता है। कितना विचित्र शहर है यह दिल्ली।

जहाँ सब कुछ बदल रहा है, वहाँ दिल्ली का दिल भी बदल रहा है तभी तो अब न वह नौ दिल्ली वाली बात रही और न दिल्ली के जीवन का वह रंग व रूप। ग़ालिब, मीर व ज़ौक की दिल्ली बदल चुकी है। वे गलियाँ भी बदल रही हैं जिन्हें छोड़कर लोग जाना नहीं चाहते थे। बहादुरशाह जफर की उस तड़प के लिए आज भी दिल्ली का दिल तरस रहा है जो 'केवल दो गज जमीन' की हसरत मन में लिए रह गयी थी। गीतों के वे बोल अब कहाँ सुनाई देते हैं जो ढोल व मजीरे की धुन पर गूँज उठते थे---'ऐसो रे बजाओ डफ कि जमुना का नीर मगन हो जाए।' न वे बाग रहे और न बसन्त की वह बहार। न सावन की रिमझिम और झूलों के वे गीत। अमराइयों में गूँजने वाले वे गीत 'मेरे दिल की कुंजी, मेरी जान झूला। मेरी आरजू मेरे अरमान झूला।' अब कहाँ सुनाई देते हैं। पनघट की डगर भी अब बदल चुकी है। यद्यपि सरसों अब भी वैसे ही फूलती है, हरियाली का वही आकर्षण है, चक्की और रहट की धुन भी वही है, कुओं पर गागरों की वही खनक है, सखी-सहेलियों की वही चुहल है और पगडंडी का वही राग है पर शहरीकरण की छाया में तथाकथित सभ्यता के विस्तार से गाँवों का स्वरूप, सादगी और भोलापन सिमटता जा रहा है। एक ओर महानगरीय चहल-पहल और दूसरी ओर लोक-जीवन की सरसता और सादगी। बोली-भाषाओं, रीति-रिवाजों, प्रथा-परम्पराओं एवं सभ्यता-संस्कृतियों का यह अद्‌भुत सम्मिश्रण यहाँ की अपनी विशेषता है। यही दिल्ली की अपनी अलग पहचान है।

जयशंकर प्रसाद और साहित्य में स्वच्छंदतावादी यथार्थवाद

□ भीष्म साहनी

यह शब्द 'स्वच्छंदतावादी यथार्थवाद' मेरी समझ में नहीं आया। क्या इससे मुराद ऐसा यथार्थवाद है जिसका संबंध व्यक्ति की स्वच्छंदता से है, या ऐसा जिसका संबंध भारत की स्वच्छंदता से है, मतलब कि ऐसा यथार्थवाद जो देश की स्वच्छंदता की भावनाओं के अनुप्राणित हो या जो व्यक्ति की स्वच्छंदता की भावनाओं को वाणी देता हो। प्रेमचन्द ने 'समाजोन्मुख यथार्थवाद' शब्द का प्रयोग किया था। ऐसा यथार्थवाद जो व्यक्तिनिष्ठ न होकर समाजोन्मुख हो, सामाजिक दृष्टि से जीवन के यथार्थ को पकड़ने की चेष्टा करता हो।

शायद जयशंकर प्रसाद के दोनों उपन्यासों पर विचार करते हुए इस स्वच्छंदतावादी यथार्थवाद की अवधारणा की कुछ जानकारी मिल सकेगी।

जयशंकर प्रसाद का पहला उपन्यास 'कंकाल' १९२९ में प्रकाशित हुआ था और दूसरा, 'तितली' १९३४ में। उनका तीसरा उपन्यास अधूरा रह गया।

'तितली' और 'कंकाल' दोनों उपन्यास, बहुत-सी बातों में एक-दूसरे से भिन्न हैं।

पहला उपन्याम 'कंकाल' हमें जीवन के ऐसे प्रांगण में ले जाता है, जहाँ पाखण्ड, धोखा-धड़ी और विश्वासघात का बोलबाला है और जो एक तरह से नियतिवाद और घोर निराशा-वाद के घटाटोप से आच्छादित है। उपन्यास का कथानक मूलतः पुरुष-स्त्री संबंधों पर केन्द्रित है, हालांकि घटनाओं का ताना-बाना पेचीदा और कहीं-कहीं पर उलझा हुआ है, बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि घटनाक्रम का विकास स्वाभाविक नहीं है, ऐसा भास होता है जैसे उसके सूत्र किसी अदृश्य नियति के हाथ में हैं, और वह उन्हें जैसे चलाये, वैसे चलते हैं। उनमें एक उपन्यास का स्वाभाविक विकास नहीं है। पुरुष-स्त्री संबंधों में भी लेखक पुरुष के चरित्र के भीतर पाये जाने वाले जन्मजात अन्तर्विरोध को दिखाने की कोशिश करता है जिस कारण पुरुष-स्त्री संबंधों में प्रतिकूलता पायी जाती है, जिससे दोनों के आपसी रिश्तों में सामंजस्य और संतुलन असंभव हो जाता है।

जयशंकर प्रसाद की धारणा है कि पुरुष को स्वभावतः अपनी निजी आजादी प्यारी है, वह हर तरह के दबावों और जिम्मेदारियों से मुक्त रहना चाहता है। 'कंकाल' में जगह-जगह

ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ पुरुष के इस स्वच्छंदता प्रेमी स्वभाव को व्यक्त किया गया है :

"पुरुष को, वन के पक्षी से भी कहीं अधिक अपनी आजादी प्यारी है। वह हर समय इस ताक में रहता है, पल्ला झाड़कर स्वतंत्र हो जाये।" (पृ० २०३)

एक प्रसंग में लतिका, यमुना से कहती है :

"हम स्त्रियों के भाग्य में लिखा है कि उड़कर भागते हुए पक्षी के पीछे, चारा और पानी से भरा हुआ पिंजरा लिये घूमती रहें।" (पृ० २५५)

एक ओर स्थल पर गाला, मंगल से कहती है :

"पुरुष की महत्त्वाकांक्षाओं में प्रेम भी एक महत्त्वाकांक्षा है। केवल स्त्रियाँ ही, पद्मिनी के समान जलती चिताओं में जल मरना जानती हैं और पुरुष, केवल खिलजी के सदृश बाद में उसी जली हुई राख को उठाकर बिखेर देना जानते हैं।" (पृ० २२४)

अपनी निजी आजादी में पड़ने वाली किसी भी बाधा को पुरुष सहन नहीं कर सकता। अपनी महत्त्वाकांक्षा एवं किसी आदर्श की क्रियान्विति में वह संघर्षरत रहता है। इस तरह पुरुष का स्वभाव आत्मकेन्द्रित है और इसी के परिणामस्वरूप जब कभी उसकी किसी भी निजी महत्त्वाकांक्षा की राह में कोई बाधा पड़ती हो तो वह सहन नहीं कर सकता। लेखक की यह अवधारणा जगह-जगह लक्षित होती है। उपन्यास में, पुरुष पात्रों के व्यवहार पर विचार करें, विशेषकर उन स्त्रियों के प्रति जो उनके जीवन में आती हैं, तो उनका व्यवहार बहुधा पाखंड-पूर्ण और अविश्वसनीय साबित होता है।

किसी प्रबल आवेग के तहत पुरुष, किसी स्त्री के प्रति आकृष्ट होता है और उससे प्रेम करने लगता है, अपने उन्मत्त प्रेम के बल पर वह लड़की का दिल जीत लेता है। पर जब कोई संकट पैदा हो जाये, तो ऐसे समय में पुरुष सोच में पड़ जाता है, तरह-तरह के तर्क देने लगता है, अपना नफा-नुकसान सोचने लगता है, और ऐसा वह अपने निजी स्वार्थ की दृष्टि से करता है; कहीं तो उसे समाज में अपनी इज्जत बचाये रखने का विचार आता है, कहीं अपनी निजी आजादी का, वह किसी झंझट में नहीं पड़ना चाहता, और इस तरह प्रेम और निष्ठा और प्रेम की उत्कट भावनाएँ तो दूर कहीं पीछे छूट जाती हैं, और पुरुष के लिये निजी आजादी, प्रमुखता ग्रहण कर लेती है। और बहुधा, ऐसे आड़े वक्त में पुरुष, स्त्री को धोखा दे जाता है, एक ऐसी स्त्री को जिसे वह कभी जी-जान से प्यार किया करता था, जिसके सामने प्यार की कसमें खाया करता था, और स्त्री, उसके प्रेम को सच्चा मानकर विश्वास किया करती थी। इस तरह हम देखते हैं कि पुरुष के चरित्र में नैतिक साहस का अभाव पाया जाता है।

इतना ही नहीं, लेखक के अनुसार, पुरुष के अपने स्वभाव में एक मूल अन्तर्विरोध पाया जाता है। पुरुष की कथनी और करनी में मेल नहीं बैठता और पुरुष के जीवन की दुःखद विडम्बना यही है कि वह इस विरोधाभास को नहीं देख पाता।

"पुरुष कितना बड़ा ढोंगी है बेटी। वह हृदय के विरुद्ध ही तो जीभ से कहता है। आश्चर्य है, उसे सत्य कह कर चिल्लाता है।"

चाची (यमुना की माँ) कहती है। (पृ० २५७)

उपन्यास में मंगल, समाज सुधार के अदम्य उत्साह में तारा नाम की युवती (यमुना) को वेश्यालय में से बचा लेता है, और उससे प्रेम करने लगता है, और उसी के साथ रहने लगता है। तारा का उसमें अटूट विश्वास है। उसे गर्भ रह जाता है और जिस दिन उनका विवाह

होने जा रहा है, मंगल को पता चलता है कि तारा की माँ भी किसी की रखैल रह चुकी है, फौरन उसका सारा रवैया बदल जाता है, वह सोच में पड़ जाता है कि इस विवाह का परिणाम क्या होगा :

"तारा दुराचारिणी की संतान है, वह वेश्या के यहाँ रही, फिर मेरे साथ भाग आयी, मुझ से अनुचित संबंध हुआ और अब वह गर्भवती है। मैं आज व्याह करके कई कुकर्मों के कलुषित संतान का पिता कहलाऊँगा।" (पृ० ५०)

इस तरह सोचते हुए वह तारा को निःसहाय छोड़कर, रेलगाड़ी पकड़ता है और वहाँ से भाग खड़ा होता है। पर उसके व्यवहार की विडम्बना इस बात में नहीं कि उसने तारा के साथ विश्वासघात किया, विडम्बना इस बात में है कि बाद में भी उसकी दिलचस्पी समाज सुधार के कामों में बराबर बनी रहती है। और अपने व्यवहार के प्रति उसे तनिक भी क्षोभ अथवा पश्चाताप नहीं होता। उपन्यास में आगे चलकर जब हम उससे मिलते हैं तो वह भारत के प्राचीन इतिहास का गहरा अध्ययन कर रहा है, तदनन्तर हम उसे एक पाठशाला का निर्माण करते हुए देखते हैं, जहाँ वह अपने हाथों से ईंट-गारा ढो रहा है। उसके बाद हम उसे गरीब गुज्जर बच्चों के लिये, सीकरी के निकट एक स्कूल चलाते हुए देखते हैं, और उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते, वह अभागी हिन्दू स्त्रियों की रक्षा के लिए एक सोसाइटी बना रहा है। यह सही है कि उसे कभी-कभी पछतावा होता है लेकिन इससे उसके व्यवहार में कोई बदलाव नहीं आता, वह तारा के साथ अपने संबंध फिर से बहाल नहीं करता, बल्कि एक अन्य लड़की के साथ विवाह कर लेता है, जो उससे प्रेम करने लगी है।

स्त्री की प्रकृति इससे भिन्न है। उसके लिये प्रेम सर्वस्व है। उसका हृदय 'प्रेम का क्रीड़ांगण' है। वह पुरुष का विश्वास करती है, जिस पुरुष को हृदय से चाहती है, उसके लिये कुछ भी करने को तैयार रहती है और बदले में कुछ नहीं माँगती, केवल प्रेम का आश्वासन माँगती है और जब उसे वह भी नहीं मिलता, तो भी उसके प्रेम में शिथिलता नहीं आती, क्यों कि नारी के लिये प्रेम करना न केवल उसका मूलगत स्वभाव है, बल्कि उसकी नियति है। समाज का भय जो पुरुष को आक्रांत किये रहता है, उसे परेशान नहीं करता। लेखक की यह अवधारणा उनके प्रत्येक नारी पात्र में लक्षित होती है। किशोरी, यमुना, घण्टी आदि सभी में यह विशिष्टता पायी जाती है।

यमुना के शब्दों में :

"पुरुष नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, वह हृदय चाहती है, कोई समाज और धर्म स्त्रियों का नहीं, सब पुरुषों के हैं। सब हृदय को कुचलने वाले क्रूर हैं। फिर भी मैं समझती हूँ कि स्त्रियों का एक धर्म है, और वह है आघात सहने की क्षमता रखना। दुर्दैव के विधान ने उनके लिये यही पूर्णता बना दी है। यह उनकी रचना है।" (पृ० २९२)

और गाला, अपनी बेटी के लिये एक पत्र छोड़ जाती है जिसमें लिखा है :

"बेटी गाला,...जिसे हृदय देना, उसी को शरीर अर्पण करना—उसमें एक-निष्ठा बनाये रखना। मैं बराबर जायसी का पद्मावत पढ़ा करती हूँ। वह स्त्रियों के लिये तो जीवन यात्रा में पथ-प्रदर्शक है, ..मैंने अपने कठोर और भीषण पति की सेवा सच्चाई से की है, और चाहती हूँ कि तू भी मेरी ही जैसी हो।" (पृ० २००)

इस तरह हम देखते हैं कि पुरुष और स्त्री के बीच पाया जाने वाला यह भीतरी अत-द्वंन्द्व, प्रेम की परिणति को अथवा सुखमय विवाहित जीवन को करीब-करीब असम्भव बना देता है। पुरुष सदा अपने रास्ते जायेगा, अन्तःप्रेरणावश अथवा स्वार्थवश, जबकि स्त्री की नियति है कि वह पूर्णतः अपने को पुरुष पर निछावर कर दे। स्वभाव और प्रकृति का यह अन्तर्विरोध रहते, पुरुष-स्त्री का पारस्परिक सम्बन्ध सुखमय होगा, ऐसा सुनिश्चित नहीं हो सकता। और लेखक इस नतीजे पर पहुँचता है कि पुरुष-स्त्री सम्बन्ध मूलतः समझौते पर आधारित होते हैं:

"संसार में पुरुष-स्त्री सम्बन्धों का आधार समझौता ही जान पड़ता है।" (पृ० २६२)

और कुछ आगे चलकर और भी अधिक स्पष्टता के साथ जयशंकर प्रसाद कहते हैं :

"जगत् की एक जटिल समस्या है—स्त्री पुरुष का स्निग्ध मिलन।''' रुचि मानव प्रकृति इतनी विभिन्न है कि वैसा युग्म-मिलन विरला होता है। मेरा विश्वास है कि वह कदापि सफल न होगा।'''उसका उपाय एकमात्र समझौता है, वही ब्याह है।

(पृ० २६७)

इस तरह लेखक की नियतिवादी दृष्टि उभर कर आती है और उपन्यास के कथानक में विभिन्न पुरुष और स्त्री पात्रों के सम्बन्ध इसी दृष्टि के परिचायक हैं।

इस मूल अन्तर्विरोध के साथ-ही-साथ समाज का सारा संचालन पुरुष के हाथ में है। वही कानून बनाता है, उसी के नियम, उसी की इच्छाएँ—सनकें समाज में चलती हैं, स्त्री की एक नहीं चलती। इससे स्त्री की यातना और अधिक बढ़ जाती है। हिन्दू समाज के विधि-नियम स्त्री से इस बात की अपेक्षा करते हैं कि वह अपने 'पति' का हुक्म हर बात में मानेगी, और समाज का कोई कानून नहीं है, जो उसके प्रति अन्याय किये जाने की स्थिति में उसकी रक्षा कर सकता हो।

घण्टी उपन्यास की वह स्त्री पात्र है, जिसका शायद सबसे ज्यादा उत्पीड़न हुआ है, एक जगह कहती है:

"तुम कहोगे कि मैं सब जानकर भी तुम्हारे साथ क्यों घूमती हूँ, इसलिये कि इसे मैं कुछ महत्व नहीं देती। हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिये कुछ सोचना-विचारना चाहिए। और जहाँ अन्ध-अनुसरण करने का आदेश है, वहाँ प्राकृतिक स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है,'''उसे क्यों छोड़ दूँ।" (पृ० १६५)

पुरुष के व्यवहार पर अंकुश लगाने के लिये कोई नियम नहीं है, सभी नियम स्त्री पर ही अंकुश लगाते हैं। यह इसलिये कि स्वयं पुरुष ने ही इन नियमों को बनाया है। इस तरह उसे मनमानी करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। ये नियम उसी के हितों को साधने के लिये बनाये गये हैं। इसीलिये जब पुरुष, अपने प्रेम की दुहाई देता है, तो उसका विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रेम का ज्वार उतरने पर; वह बड़े आराम से अपनी प्रेमिका की ओर पीठ मोड़ सकता है और कोई दूसरा रास्ता अपना सकता है।

उपन्यास में अनेक अवैध बच्चे दिखाये गये हैं। निरंजन ने दो अवैध बच्चों को जन्म दिया, (यमुना, विजया) लेकिन वह फिर भी महन्त के पद पर आसीन, बराबर धर्म और समाज की सेवा में रत रहता है। किशोरी को अपना अंतिम फैसला सुनाते हुए वह घोषणा करता है कि वह अपने जीवन के अंतिम वर्ष भगवान की आराधना में बिताना चाहता है। पुस्तक के अंतिम

भाग में हम उसे अभागी स्त्रियों की सहायता के लिये बनायी गयी संस्था में सेवारत देखते हैं। हमने देखा है कि मंगल, गर्भवती तारा को त्याग देता है और पूरे धार्मिक आडम्बर के साथ गाला के साथ अपना ब्याह रचाता है। समाज सेवी के नाते फिर भी उसे बड़ा मान और शोभा मिलती रहती है। विजय, उपन्यास का शायद एकमात्र ऐसा पात्र है, जो अपने अन्तःकरण की आवाज सुनता है, वह भी, अचानक हत्या हो जाने के बाद भाग खड़ा होता है, एक बार भी उसे इस बात का क्षोभ नहीं होता कि बेचारी घण्टी पर क्या बीत रही होगी जो सब कुछ छोड़कर इसके साथ आ गयी थी, और जिसे बॉथम एक तरह से, नाव में अगवा करके ले गया था। उधर, ईसाई, पादरी बॉथम भी अपनी पत्नी लतिका को त्याग देता है और घण्टी के साथ मेल-जोल बढ़ाने लगता है, और इस सबके बावजूद ईसाई पादरी के नाते उसकी गरिमा बराबर बनी रहती है।

इस तरह हम देखते हैं कि एक ओर धार्मिक संस्थाओं का पाखण्ड और भ्रष्टाचार है, दूसरी ओर नियति की अनिवार्यता है, और इन दोनों के बीच कहानी चलती है, इसी कारण शायद पढ़ने वाला हताश और बेहद उदास-सा महसूस करने लगता है।

कथानक और पात्र, लेखक की मान्यताओं, उनके जीवन-दर्शन का मानो प्रतिपादन करने के लिये गढ़े गये हैं।

तीन धर्मस्थलों, हरिद्वार, मथुरा और वृन्दावन की पृष्ठभूमि में कहानी चलती है, इसी से तीखे व्यंग्य का भास होता है। इन्हीं पवित्र स्थलों पर जहाँ व्यवहार में सच्चाई, प्रेमभाव, त्याग, सदाचार आदि की अपेक्षा रहती है, वहीं पर पुरुषों के व्यवहार में क्रूरता, स्वार्थ और पाखण्ड देखने को मिलते हैं।

इतना ही नहीं, वातावरण में एक प्रकार की थकान, निराशा, दिशाहीनता पायी जाती है, लगता है कि लेखक दिखाना चाहता है कि अतीत में भी जीवन ऐसे ही चलता था, वर्तमान में भी ऐसे ही चलता है और भविष्य में भी ऐसे ही चलता रहेगा। इससे छुटकारा नहीं। मानव जीवन की यही नियति है। एक स्थल पर, कृष्णकांत, जो एक तरह से, उपन्यास में लेखक के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है, कहता है :

> **"भगवान उन्हीं से प्रेम करते हैं जो दुःख भोगते हैं। यातना-भगवान की सब से बड़ी देन है, कल्याणकारी देन है।"**

कहानी चलती तो वर्तमान में है परन्तु इसके सूत्र अतीत के साथ जुड़े हुए हैं, वह तीन पीढ़ियों की कहानी कहती है।

पुरुष के संकल्प को उसके अस्तित्व के नियम ही अपने चंगुल में लिये रहते हैं। वह इनसे छुटकारा नहीं पा सकता, वह केवल इनसे भाग सकता है, जीवन से पलायन कर सकता है, पर यहाँ भी वह एक तरह से टूट जायेगा, टूटकर खत्म हो जायेगा, क्योंकि स्वभावतः वह कर्मशील प्राणी है।

'कंकाल' में जीवन की ऐसी ही अवसादपूर्ण झलक हमें मिलती है। पुरुषों में नैतिक साहस का अभाव है, किसी में भी जीवन के साथ जूझने की शक्ति नहीं है। विजय ही शायद एकमात्र ऐसा पात्र है जो अन्य पुरुष-पात्रों से भिन्न है, वह धार्मिक आडम्बरों से दूर रहता है, परम्परागत धर्माचार की खिल्ली उड़ाता है, खुलकर बोलता है, कोई लाग-लपेट वाली बात नहीं करता। उसमें इतना साहस भी है कि बाल विधवा के साथ खुले आम घूमता है। पर जब वह

प्रेम की शपथ लेता है तो उस शपथ में वही गूँज सुनाई पड़ती है, जो मंगल की शपथ में थी। स्त्री के प्रति उसका व्यवहार इतना पाखण्डपूर्ण नहीं है, परन्तु वह सांसारिक जीवन से उत्तरोत्तर दूर होता जाता है और अन्ततः वैराग्य की शरण लेता है, क्या इससे लेखक यह साबित करना चाहता है कि संवेदनशील व्यक्ति के लिये यही एक रास्ता है ? प्रसाद के पुरुष पात्र अपनी चरित्रगत सीमाओं को नहीं लाँघ पाते। उनमें नैतिक साहस के अभाव का एक कारण यह भी है कि वे एक पाखण्डपूर्ण माहौल में जीते और साँस लेते हैं। वे जन्म से अधम नहीं दिखाये गये हैं। जीवन के आरम्भ में उनमें सच्चा उत्साह पाया जाता है, निःस्वार्थ स्वस्थ आदर्शवाद पाया जाता है, पर शीघ्र ही आसपास फैले भ्रष्टाचार के कारण, पर मुख्यतः अपने चरित्र के अन्तर्विरोध के कारण, वे बुरा व्यवहार करने लगते हैं। कथनी और करनी में अन्तर बढ़ता जाता है, उनके प्रेम की शपथ खोखली सुनाई पड़ने लगती है, और जब उन्हें अपने किये पर पछतावा होता है तो लगता है आत्मानुकम्पा का रस ले रहे हैं, उन सभी के हाथों स्त्रियों को यातनाएं सहनी पड़ती हैं। इस तरह से सभी पुरुष पात्र कमजोर पात्र बनकर रह जाते हैं।

प्रसाद का दूसरा उपन्यास 'तितली' जो पाँच साल बाद, १९३४ में प्रकाशित हुआ था, पहले उपन्यास से बहुत भिन्न है। यहाँ पर उपन्यास का कथानक, यथार्थ जीवन से ज्यादा गहरे जुड़ा हुआ है, यहाँ पर कथानक को किसी बँधी-बँधायी अवधारणा के चौखटे में फिट करने की कोशिश भी नहीं है, पात्र भी सामाजिक जीवन में से उठाये गये हैं। निराशा और नियति की अनिवार्यता के स्थान पर अब मानव प्रयास में आस्था और आशा दिखायी पड़ती है। 'कंकाल' में प्रसाद बार-बार और जगह-जगह जीवन पर टिप्पणियाँ करते हैं। जीवन के बारे में अपने निष्कर्ष समझाने की चेष्टा करते हैं। यहाँ पर ऐसा नहीं है, बल्कि कहीं-कहीं पर ऐसी टिप्पणियों का अभाव महसूस भी होता है। इस उपन्यास पर मुझे प्रेमचन्द की दृष्टि का प्रभाव साफ झलकता दिखायी देता है, और स्पष्ट है कि यह उपन्यास सामाजिक यथार्थ से प्रेरित होकर लिखा गया था।

इस उपन्यास में मनुष्य के व्यक्तित्व की गरिमा दिखायी गयी है और वह इस बात में लक्षित होती है कि वह अकथनीय कठिनाइयों के साथ जूझते हुए भी अपना धैर्य और स्थिरता बनाये रहता है, और दूसरों की सहायता करने में तत्पर रहता है। यह सही है कि पहली पुस्तक की ही भाँति यहाँ पर भी संस्थागत प्रयास अथवा सामूहिक प्रयास की तुलना में व्यक्तिगत प्रयास में उनकी आस्था अधिक है और व्यक्तिगत प्रयास का लक्ष्य भी उन कारणों को दूर करना इतना नहीं है जिनसे यह क्लेश और यातना पैदा होते हैं, बल्कि दुःखी जीव के दुःख को कम करना है। और यह सेवाभाव से किया जाता है, समाज-सुधार की दृष्टि से नहीं। उपन्यास के अन्त में बिछुड़े हुए पात्र फिर से मिल जाते हैं, उनकी यातना का अन्त होता है और उनके सामने सुखमय भविष्य की सम्भावनाएँ खुलने लगती हैं। इस तरह उपन्यास में, जीवन में आस्था और भविष्य में विश्वास झलकता है। १४ साल तक मधुबन की राह देखते रहने के बाद, तितली का पुनर्मिलन होता है, इसी भाँति शीला और इन्द्रदेव के सम्बन्ध गहरे और सद्भावनापूर्ण बनते हैं, और वे समाज की सेवा बड़ी लगन के साथ करने लगते हैं। जिस जमीन-जायदाद को लेकर संयुक्त परिवार में संशय, वैमनस्य और दुर्भावना पाये जाते थे, अब उसका प्रयोग किसानों के हित के लिये किया जाने लगा है। जहाँ 'कंकाल' का अन्त विजय की भयावह मृत्यु, अवैध प्रेम की शिथिलता, पाखण्ड, गहरे अवसाद, निराशा और भाग्यवादिता के घटाटोप में होता है, वहाँ

'तितली' का आशाजनक अन्त बड़ा महत्व ग्रहण कर लेता है।

"मानव हृदय की प्रमुख विशिष्टता, प्रेम है।"

यहाँ लेखक परिस्थितियों की भूमिका पर बल देना चाहता है। स्वार्थ के हाथों माधुरी को क्लेश पहुँचा। इस क्लेश ने विरोध और क्रूरता को जन्म दिया। परिस्थितियों के प्रभावाधीन माधुरी घृणा करने लगी। पर आज परिस्थितियाँ बदल गयी थीं।

उपन्यास का यह स्वर उस स्वर से भिन्न है, जिसमें लेखक पुरुष और स्त्री के स्वभावगत अन्तर्विरोध की बात करता है, जो कभी दूर नहीं हो सकता, और इसलिए पुरुष और स्त्री अपने पारस्परिक जीवन में कभी सुखी नहीं हो सकते।

कई एक अन्य पहलुओं से भी यह उपन्यास पहले उपन्यास से अलग है। उपन्यास का घटनास्थल एक जमींदारी है, और जिन पात्र-समूहों के इर्दगिर्द कहानी का ताना-बाना बुना गया है, वे भी व्यक्तियों के रूप में हमारे सामने नहीं आते, वे समाज के तीन वर्गों के प्रतिनिधियों के रूप में सामने आते हैं और प्रत्येक पात्रसमूह की कहानी कहते हुए, लेखक उस वर्ग-विशेष की विशिष्टताओं, उसके सामाजिक चरित्र पर प्रकाश डालता है। एक पात्रसमूह है, जमींदार का परिवार, जिसके सदस्यों के बीच संशय और अविश्वास (माँ और बेटे के बीच, भाई और बहिन के बीच) पाया जाता है, तरह-तरह की बुराइयाँ, भ्रष्टाचार धनलोलुपता और ईर्ष्या द्वेष बने रहते हैं, यहाँ तक कि इन्द्रदेव—जो जमीन-जायदाद का जागरूक, सूझबूझ वाला वारिस है, जमीन-जायदाद छोड़कर शहर में काम करके अपने परिश्रम द्वारा अपनी रोज़ी कमाना बेहतर समझता है···यह पात्रों का एक समूह है। दूसरे पात्र-समूह में एक भाई और बहिन हैं। किसी जमाने में उनके पुरखे बहुत बड़े जमींदार थे, पर अब उनके पास अतीत के वैभव का एकमात्र अवशेष, शेरकोट रह गया है, दोनों सहनशील और अध्यवसायी हैं, बहिन को फिर भी बीते दिनों की याद सताती है, पर भाई मेहनतकश है और उसे हाथ से काम करने में तनिक भी झेंप नहीं लगती। तीसरे पात्र-समूह में सबसे पिछड़े हुए गरीब लोग हैं, और इसी समूह में से उपन्यास की नायिका उभरकर आती है। एक अनाथ लड़की, जिसका पालन-पोषण एक ऐसे व्यक्ति ने किया है जो किसी जमाने में उसके स्वर्गीय पिता पर आश्रित रहा था, जो भूमि के एक छोटे-से टुकड़े पर निर्वाह कर रही है, जिस पर जमींदार के आदमी अधिकार जमाना चाहते हैं। यह लड़की 'तितली' यातना, भूख और गरीबी का सामना करती हुई अपने व्यक्तित्व में एक ऐसी गरिमा, संतुलन और आंतरिक प्रसन्नता प्राप्त करती है, जिससे अपने परिवेश के साथ उसका सुन्दर तालमेल बैठता है, अवसाद अथवा निराशा उसके मन को कभी विचलित नहीं करते, और बरसों तक वह अकेली, न केवल इन कठिनाइयों से जूझती रहती है, बल्कि गाँव के लोगों की अनवरत सेवा भी करती रहती है। यह बड़ी विलक्षण बात है कि उपन्यास की नायिका इस पात्र-समूह अथवा वर्ग में से निकलकर आयी है। यही लड़की, लेखक की आदर्श नारी की परिकल्पना के रूप में हमारे सामने उभरती है।

यहाँ उन कठिनाइयों और बाधाओं का ब्यौरा देने की आवश्यकता नहीं जिनका तितली, को सामना करना पड़ा—मधुबन के साथ शादी के समय, उस समय जब जमींदार के घर में मैना पर बलात्कार किया गया और तितली उसे अपने घर में ले आयी। शायद सबसे प्रभावशाली प्रसंग वह है, जब मधुबन के लापता हो जाने पर उसे जमीन से बेदखल करने का नोटिस मिलता है और वह जमीन खाली कर देने के बजाय; बिना किसी से सहायता माँगे अकेली उसका सामना

करती है । मधुबन गाँव में बदनाम है, परन्तु तितली अन्त तक उस पर पूरा विश्वास बनाये रखती है । उसे देखते हुए लगता है जैसे तितली ने जीवन का रहस्य पा लिया है और उसे आत्मसात् कर लिया है । प्रसाद के दोनों उपन्यासों में बड़ा अन्तर है, दृष्टि का भी और शिल्प आदि का भी, परन्तु एक बात में दोनों मिलते हैं···दोनों में नारी की परिकल्पना लगभग एक जैसी हुई है । नारी का व्यक्तित्व अधिक संतुलित, दिखाया गया है, उसका निःस्वार्थ प्रेम, निष्ठा आदि दोनों उपन्यासों के नारी पात्रों में समान रूप से हमें मिलते हैं।

मधुबन के लापता हो जाने पर वह अपने जेवर बेचकर, गाँववालों के लिए एक स्कूल खोल लेती है, और वह बरसों तक निपट अकेली, साहस और दृढ़ता के साथ अपना दायित्व निभाती रहती है ।

पुस्तक में बाबा रामनाथ, लेखक के विचारों-आस्थाओं को वाणी देते हैं। श्रम में आस्था, निःस्वार्थ सेवा, न्यायप्रियता, जनकल्याण की भावना, आदि एक सार्थक सुखी जीवन के आधार दिखाये गये हैं । और व्यक्तिगत जीवन में सदाचार, सादगी, कर्तव्यपरायणता आदि पर बल दिया गया है ।

'कंकाल' में जहाँ प्रसाद अपनी अवधारणों के प्रतिपादन के लिए कथानक का ढाँचा खड़ा करते हैं और उनमें पात्रों को फिट करते हैं वहाँ 'तितली' में वह यथार्थ जीवन के अधिक निकट आये हैं, अवधारणाएँ तो यहाँ भी हैं पर जैसे जीवन में से उभर कर निकली हैं, जीवन पर आरोपित नहीं लगतीं ।

लेकिन प्रसाद अपने काल का प्रतिनिधित्व करते हैं तो इस दृष्टि से कि उस जागरण काल में जो भावनाएँ हमारे समाज को उद्वेलित कर रही थीं, उनकी साफ झलक हमें यहाँ मिलती है । वस्तुस्थिति के प्रति एक प्रकार का असंतोष, समाज में पाये जाने वाले अन्याय, भ्रष्टाचार, उत्पीड़न के प्रति उनका आक्रोश, जनकल्याण की भावना, व्यक्तिगत स्तर पर चरित्र की दृढ़ता में विश्वास, श्रम में आस्था, जीवन के जूझने की भावना—ये सभी उस जागरणकाल की विशिष्टताएँ थीं जिनका प्रतिबिम्ब हमें उस काल के साहित्य में मिलता है, और एक आदर्शवादी दृष्टिकोण । भले ही निष्कर्षों के स्तर पर जयशंकर प्रसाद के निष्कर्ष हमें पूर्णतः आश्वस्त न कर पायें, और कहीं-कहीं पर उन निष्कर्षों के प्रति लेखक का अत्यधिक आग्रह भी खटकता हो, पर हम देखते हैं कि देश के जीवन के साथ जुड़ाव सामाजिक चेतना, नैतिक मूल्यों का आग्रह विशेष रूप से उनके दूसरे उपन्यास 'तितली' में उतनी ही तीव्रता में पाये जाते हैं, जितने उस काल के अनेक अन्य लेखकों की रचनाओं में ।

(साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा सितम्बर २६-२८, १९८८ को आयोजित 'जयशंकर प्रसाद संगोष्ठी' में पढ़ा गया लेख ।)

प्रसाद की कहानियों का सांस्कृतिक वितान

☐ डॉ० पुष्पपाल सिंह

जयशंकर प्रसाद आधुनिक हिन्दी साहित्य में सर्वतोमुखी सर्जना के ऐसे विरल प्रतिभा-पुरुष थे जो किसी भी देश के साहित्य में शताब्दियों पश्चात् उत्पन्न होते हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध—सभी विधाओं में उनका सृजन एक नवीन युग का सूत्रपात करता है। उनकी कहानियाँ इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि हिन्दी कहानी के इतिहास में वे प्रारंभिक कथा-ऋषियों में से एक हैं। अगस्त १९१० की 'इन्दु' में उनकी प्रथम कहानी 'ग्राम' प्रकाशित हुई थी जिसे कुछ अध्येताओं ने हिन्दी की प्रथम कहानी का गौरव भी प्रदान किया। हिन्दी कहानी के प्रारम्भकर्ता वे हों या न हों, यह प्रश्न प्रस्तुत प्रसंग में इतने महत्व का नहीं है, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे हिन्दी कहानी के ऐसे प्रारंभिक कथा-ऋषि हैं जिन्होंने कहानी को एक नया मुहावरा और शैली दी जिसे आज भी हम 'प्रसाद संस्थान' ('प्रसाद स्कूल') के नाम से जानते हैं। हिन्दी कहानी के लिए यह अत्यंत गौरव का विषय है कि उसे अपने शैशव में ही दो ऐसे कथा-ऋषियों, प्रसाद और प्रेमचंद का महत्त्वपूर्ण दाय मिला जिनके नाम पर कहानी के दो संस्थानों ('स्कूल्स'), धाराओं, शैलियों ('प्रसाद संस्थान' और 'प्रेमचंद संस्थान') का प्रवर्त्तन हुआ।*

बात जब दोनों कथा-ऋषियों (मास्टर्स) की चल ही पड़ी तो तुलनात्मक रूप में कुछ बड़े आश्चर्य में डालने वाले तथ्य सामने आते हैं। दोनों महान कलाकारों ने अपनी कहानियों से ऐसी कथा-शैलियों का प्रचलन किया कि आज तक दोनों प्रकार की कहानियों की युगपत् स्थिति चली आ रही है। यह बात अपनी जगह पूरी तरह सही है कि हिन्दी कहानी का भविष्य प्रसाद के पग-चिह्नों पर न चल कर प्रेमचंद की डगर अख़्तियार करता है किंतु इससे प्रसाद के कहानीकार की महत्ता कम नहीं हो जाती, उनकी कलम के अनुकरण पर भी पर्याप्त कथा-रचना हुई जिसे हम व्यैक्तिक रोमान की धारा के रूप में जानते हैं। यदि अधिकांश कहानीकार प्रेमचंद के वंशज हैं और उनकी परंपरा का विकास कर रहे हैं तो दूसरी ओर निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती आदि की कहानियाँ इसी प्रसाद संस्थान के संस्कारों से युक्त कहानियाँ हैं। दोनों की तुलना करते हुए एक बात और ध्यान में आती है कि बड़ा विचित्र संयोग है कि हिन्दी कहानी के ये दोनों महापुरुष (मास्टर्स) काशी में ही अपनी कला-साधना कर रहे थे, दोनों समकालीन थे पर

---

* प्रस्तुत संदर्भ में 'स्कूल' के लिए 'संस्थान' शब्द का प्रयोग ही समुपयुक्त लगा क्योंकि 'संप्रदाय' शब्द के संदर्भ बदल जाने से अर्थ-संकोच हुआ है।

विचार और कथ्य तथा भाषा-शैली, समग्रतः कहें तो रचना के धरातल पर दोनों पूर्णतः अलग, सर्वथा विशिष्ट !! अचानक ध्यान आता है काशी में ही सृजनरत मध्ययुग की दो ऐसी ही प्रतिभाओं का (जो समकालीन आयु की दृष्टि से तो नहीं थी किंतु पूरे भक्ति आंदोलन की दृष्टि से लगभग समकालीन ही थीं)--कबीर और तुलसी का। यदि प्रेमचंद कबीर का जनाभिमुख संस्कार लेकर आते हैं तो लोकनायक तुलसी की विराट सांस्कृतिक चेतना के प्रतिनिधि रूप में प्रसाद अवतरित होते हैं। यद्यपि काव्य और कहानी के सृजन-कर्म में, फिर वह भी मध्यकालीन साहित्य से यह तुलना बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती किंतु प्रसाद और प्रेमचंद को पढ़ते हुए यह तुलना बहुत बार मेरे ध्यान में आती है। कहानी के क्षेत्र में 'पुरस्कार', 'आकाश दीप', 'आँधी', 'गुंडा', 'व्रतभंग', 'सालवती', 'इन्द्रजाल', 'देवरथ', 'मधुआ', 'बेड़ी', 'प्रतिध्वनि', 'चूड़ीवाली', 'दासी', 'घीसू' जैसी चर्चित कहानियों का महत्त्वपूर्ण योगदान हैं। गुणात्मक और संख्यात्मक—दोनों रूपों में उनकी कहानियाँ हिन्दी के भंडार की अक्षय निधि हैं। पाँच संग्रहों की सत्तर कहानियों में कथ्य और शैली-शिल्प दोनों दृष्टियों से बड़ा वैविध्य और विस्तार उनके यहाँ है।

प्रसाद संस्थान की कहानी को वैयक्तिक धारा या रोमानी शैली की कहानी कहा गया है किंतु यदि सूक्ष्मतापूर्वक देखा जाये तो उन जैसा कोई अन्य कहानीकार हुआ ही नहीं जिसने वैयक्तिक धारा की कहानियाँ लिख कर भी उसमें अपने समाज के ज्वलंत प्रश्नों का विवेचन किया हो। इस रूप में उनमें सामाजिक चिंता और रोमान का एक मधुर और विरल संयोग मिलता है। प्रसाद जिस समय साहित्य रचना कर रहे थे, वह समय भारतीय इतिहास में घोर उथल-पुथल का समय है। सुदीर्घ दासता से उपजा नैराश्य किंतु साथ ही परतंत्रता की बेड़ियों को काटने का दृढ़ संकल्प तथा उसके लिए जुझारू प्रयत्न उस समय के जन-मानस की दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं जो राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान रचे गये साहित्य का भी प्रमुख स्वर हैं। फलतः भारतेन्दु द्वारा आधुनिक साहित्य में जिस राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात किया जा चुका था, वह चेतना प्रत्येक सजग कलाकार में विद्यमान रही। प्रसाद जैसी सांस्कृतिक चेतना का कलाकार इस युग चेतना से कैसे असंपृक्त रह सकता था। फलतः उनकी कहानियाँ निरी वैयक्तिक धारा की कहानियाँ नहीं हैं, उनमें एक विराट सांस्कृतिक चेतना अनुस्यूत है। उनका साहित्य परंपरा और अतीत की जिस भव्य पीठिका पर खड़ा है, वह राष्ट्रीयता से पूरी तरह ओतप्रोत है। प्रसाद अपने सामयिक प्रश्नों की चर्चा प्रत्यक्षतः प्रेमचंद के समान नहीं करते, उनका मार्ग दूसरा है। ऐसा, जो शाश्वत रूप में देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं का स्फुरण करता है, जो किसी भी देश और काल के पाठक के लिए प्रेरणाप्रद है। एक विराट सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उनके पात्र देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावनाओं से परिपूर्ण हैं, अतीत गौरव का जीवंत आलेखन वहाँ हुआ है, देश की मिट्टी के लिए, भारतीय मूल्य तथा आदर्शों की रक्षा के लिए एक ममत्व-बोध उनकी कहानियों में मिलता है। इस प्रकार उनकी कहानियाँ कथा की वैयक्तिक धारा और सामाजिक धारा का अद्भुत सामंजस्य स्थापित करती हैं। कुछ लोगों की भ्रांत धारणा है कि प्रसाद अपने नाटकों और कुछ हद तक उपन्यासों में यह कार्य सफलतापूर्वक कर सके हैं किंतु कहानियों में यह संभव नहीं हो सका है। प्रसाद की कहानियों का सांस्कृतिक वितान अत्यंत विराट है, उनकी कहानियों के सम्यक अध्ययन से यह तथ्य सहज ही उजागर हो जाता है।

प्रसाद अपनी कहानियों में सांस्कृतिक वैभव का चित्रण किस उद्देश्य से करते हैं, इसका स्पष्टीकरण वे अपने रचना-काल के बहुत प्रारंभ में 'प्रतिध्वनि' कहानी-संग्रह की 'पत्थर की पुकार' में करते हैं। इस कहानी में दो मित्र हैं नवल और विमल। नवल इसमें अपने साहित्यिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करता हुआ साहित्यकार को "विश्व भर की एक मौन सेवा-समिति का सदस्य तो बताता ही है" साथ ही इस पात्र में प्रसाद का व्यक्तित्व इस रूप में रूपायित होता है "अतीत और करुणा का जो अंश साहित्य में हो, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता है।"[1] कहानी के अंत तक पहुँचते-पहुँचते शिल्पी "दुखी हृदय के नीरव क्रंदन को" "अंतरात्मा की श्रवणेन्द्रियों को सुनने" देने को ही करुणा का वास्तविक रूप मानता है।[2] प्रसाद की इस आधार-भूमि से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अतीत का, अतीत की भव्य संस्कृति का अंकन केवल अतीत मोह से नहीं कर रहे हैं अपितु परोक्षतः इस महादेश के निवासियों की वेदना पीड़ा से उत्पन्न करुणा का कलात्मक आलेखन है यह ! ! उनकी कहानियों में अतीत का जो सांस्कृतिक वैभव है, वह किस प्रकार राष्ट्रीयता का स्फुरण करता है, किस प्रकार वर्तमान का प्रेरणा-स्रोत बनता है इसका एक उदाहरण 'सालवती' कहानी से दिया जा सकता है "तूर्यनाद समीप आ रहा था। सैनिकों के शिरस्त्राण और भाले चमकने लगे। भालों के फलक उन्नत थे। और उनसे भी उन्नत थे उन वीरों के मस्तक, जो स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए प्राण देने जा रहे थे।"[3] बाद का वाक्य यूँ ही नहीं आ गया है, इसकी प्रस्तुत प्रसंग में सप्रयोजन नियोजक कर उसे वर्तमान से जोड़ा गया है। इसी प्रकार 'सालवती' में ही आठ "दार्शनिक कुलपुत्र एक-एक गुल्म के नायक हैं। उसका मन उत्साह से भर उठा। उसने क्षण भर में निश्चित किया कि जिस देश के दार्शनिक भी अस्त्र ग्रहण कर सकते हैं, वह पराजित नहीं होगा।"[4] कहना न होगा कि यह इस देश के वर्तमान समय के बौद्धिकों, दार्शनिकों को ही दिया गया प्रबोधन है। इस प्रकार प्रसाद अपनी कहानियों में संस्कृति का भव्य अंकन केवल अतीत-मोह से नहीं करते हैं अपितु उसकी सीधी संगति वर्तमान से है। अतीत-मोह को तो वे "एक भाँग-गाँजे की तरह का नशा बताते हैं।"[5]

कहानियों में इस सांस्कृतिक संपदा से अपना गहन तादात्म्य स्थापित कर प्रसाद अपने पाठक को भी इसके लिए प्रेरित करते हैं। ऐसा वे कई प्रकार से करते हैं : प्राचीन मन्दिरों का वैभव, कलापूर्ण स्थापत्य, प्राचीन आनन्दोत्सव, आमोद-प्रमोद के वैभवपूर्ण साधन, वस्त्राभूषण, भारतीय कला की श्रेष्ठता, भारत के प्राचीन राज्यों-राजवंशों की महत्ता, विलुप्त गौरव सब इतनी भव्यता और जीवंतता से उनकी कहानियों में अंकित हुआ है कि लगता है कि इन कहा-नियों के माध्यम से हम अपनी भव्य परंपरा की एक मानसिक यात्रा गौरवपूर्ण उपलब्धि के रूप में कर रहे हैं। "मैं कभी-कभी एकटक देखता हूँ—उन मन्दिरों को ही नहीं, किंतु उस प्राचीन भारतीय संस्कृति को, जो सर्वोच्च शक्ति को अपनी महत्ता, सौंदर्य और ऐश्वर्य के द्वारा व्यक्त करना जानती थी।" पूरे दक्षिण में मन्दिरों का जो वैभवशाली शिल्प जगह-जगह दिखायी देता है, प्रसाद का कलाकार उस पर वारि-वारि न्योछावर हो जाता है। 'देवदासी' कहानी में अशोक अपने पत्र में मित्र रमेश को लिखता है "···मंदिर देखकर हृदय प्रसन्न हो गया। ऊँचा गोपुरम, सुदृढ़ प्राचीर, चौड़ी परिक्रमाएँ और विशाल सभा-मंडप भारतीय स्थापत्यकला के चूड़ान्त निदर्शन हैं।"[6] इस प्रकार मन्दिरों तथा बौद्ध-विहारों का अंकन पूर्ण गौरव के साथ इन कहानियों में हुआ है।

'आकाशदीप' कहानी में एक दीप-स्तंभ का वर्णन आता है, "शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ दीप-स्तंभ बनवाया गया था।"[७] हमारे देश का व्यापार सुदूर पूर्व में फैला हुआ था—जावा, सुमात्रा, चंपा, बोर्नियो तक हमारे जहाज समुद्र की लहरों पर राज्य करते थे। उन नाविकों को दिशा-निर्देश करने के लिए इस प्रकार के दीप-स्तंभ कोणार्क आदि में भी बनाये गये। प्रसाद इस छोटे से वाक्य में नौ-संचालन ('नेवीगेशन')के क्षेत्र में हमारी उस समय की उपलब्धि को बताकर उस पूरे युग का एक चित्र प्रस्तुत कर देते हैं। दीप-स्तंभ के महोत्सव के मिस उस समय का पूरा समाज कहानी में खिल उठता है। प्राचीन उत्सवों, आमोद-प्रमोद के साधनों, विशेषतः वसंतोत्सव का चित्रण जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, प्रसाद पूर्ण रसमग्न होकर अपनी कहानियों में प्रस्तुत करते हैं। राजकीय उत्सवों-शोभा-यात्रा आदि का ऐसा चित्रात्मक, बिम्बाग्रही चित्रण प्राप्त होता है कि प्रसाद के साथ उनका पाठक भी झूम उठता है। वाक्यों का ऐसा नाटकीय और काव्यात्मक विधान ऐसे समय प्रसाद करते हैं कि दृश्य पाठक की कल्पना में साक्षात् हो उठता है, "नगर-तोरण से जयघोष हुआ, भीड़ में गजराज का चामरधारी शुण्ड उन्नत दिखाई पड़ा। वह हर्ष और उत्साह का समुद्र हिलोर भरता हुआ आगे बढ़ने लगा।"[८] इन प्राचीन उत्सवों का वर्णन मात्र कल्पनाश्रित नहीं है अपितु प्रसाद ने तत्कालीन संस्कृति का व्यापक अध्ययन किया है और इस अध्ययन का उत्खनन-प्रसाद उनकी कहानियों में इसी रूप में बिखरा पड़ा है। साहित्यिक-समाजों, गोष्ठियों आदि का उस समय क्या रूप था, यह भी प्रसाद ने अपनी कहानियों में चित्रित किया है। उन गोष्ठियों में सम्मिलित युवकों का एक चित्र हम प्रस्तुत करना चाहेंगे, "गंभीर विचारक-से वे युवक देव-गंधर्व की तरह रूपवान थे। लम्बी-चौड़ी हड्डियों वाले व्यायाम से सुन्दर शरीर पर दो-एक आभूषण और काशी के बने हुए बहुमूल्य उत्तरीय, रत्न-जटित कटिबंध में कृपाणी। लच्छेदार बालों के ऊपर सुनहरे पतले-पटबंध और वसंतोत्सव के प्रधान चिह्न-स्वरूप दूर्वा और मधूपुष्पों की सुरचित मालिका। उनके मांसल भुजदण्ड, कुछ-कुछ आसवपान से अरुण नेत्र, ताम्बूलरंजित सुन्दर अधर, उस काल के भारतीय शारीरिक सौंदर्य के आदर्श प्रतिनिधि थे।"[९] इन गोष्ठियों में वीणा-वादन, काव्य-पाठ, संगीत-साहित्य चर्चा होती थी। प्रसंगात् यह भी कहना चाहूँगा कि उपर्युक्त वर्णन में पुरुष-सौंदर्य का चित्रण दर्शनीय है। आधुनिक साहित्य, विशेषतः कविता में नारी-सौंदर्य के तो एक से एक बढ़कर चित्र मिल जायेंगे किंतु पुरुष-सौंदर्य के अंकन में प्रसाद को जैसी दक्षता प्राप्त है, वह किसी अन्य कवि को नहीं। 'कामायनी' के मनु का चित्रण करती कविता-पंक्तियाँ हठात् स्मरण हो रही हैं, "अवयव की दृढ मांस-पेशियाँ / ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार / स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का/होता था जिनमें संचार।" तो तत्कालीन उत्सव, वसंतोत्सव के सजे समाज, राजमहलों के लीला-विलास प्रसाद की कहानियों में पूरी जीवंतता से आये हैं। उनके राजपुरुष और राजरानियाँ जो वस्त्राभूषण धारण करती हैं वे भी इस देश के सांस्कृतिक वैभव के साक्षी हैं। वाराणसी के स्वर्ण-खचिव वसन, मणि-कंकण, हेम-कांची, केयूर, वलय, आदि से भूषित पात्र उनकी समृद्धि का ही नही अपितु कलात्मक सुरुचि का भी परिचय देते हैं। इस देश के अतीत में जो कुछ भी गौरवपूर्ण है, प्रसाद उससे अपने पाठक को पूरी तरह परिचित करा देना चाहते हैं, यहाँ तक कि नागरी लिपि से भी प्राचीन जो यहाँ की लिपि थी, उसका परिचय भी 'खंडहर की लिपि' नामक कहानी में दिया गया है।[१०]

अतीत की गौरवपूर्ण सांस्कृतिक धरोहर से प्रसाद अपनी कहानी के पाठक का परिचय

एक और रूप में कराते हैं। भारतवर्ष के मगध कौशल, वज्जि, अवन्ती, विदेह, आदि प्रसिद्ध राज्य-गणराज्य थे। इन राज्यों की विगत श्री का जब प्रसाद किसी भी रूप में उल्लेख करते हैं तो वे भावुक हो उठते हैं। मगध और कौसल का यह चित्रण 'पुरस्कार' में इसी रूप में हुआ है। इन्द्रपूजा के अवसर पर जब एक दिन के लिए महाराज को कृषक बनना पड़ता था, तब भारी महोत्सव होता था "उस दिन इन्द्र-पूजन की धूम-धाम होती। गोठ होती।...प्रतिवर्ष कृषि का यह महोत्सव उत्साह से संपन्न होता; दूसरे राज्यों से भी युवक राजकुमार इस उत्सव में आकर योग देते।"[११] मगध का राजकुमार अरुण कौसल के श्रावस्ती दुर्ग पर अधिकार करना चाहता है। श्रावस्ती दुर्ग की महिमा प्रसाद इस रूप में बताते हैं "श्रावस्ती का दुर्ग, कौसल राष्ट्र का केन्द्र, इस रात्रि में अपने विगत वैभव का स्वप्न देख रहा था। भिन्न राजवंशों ने उसके प्रांतों पर अधिकार जमा लिया है। अब वह केवल कई गाँवों का अधिपति है। फिर भी उसके साथ कौसल के अतीत की स्वर्ण गाथाएँ लिपटी हैं।"[१२] इस प्रकार 'आकाशदीप' का बुद्ध गुप्त अपने प्रदेश ताम्रलिप्ति का स्मरण करता है। 'सालवती' की नायिका 'वज्जियों की---विदेहों की अद्भुत स्वतंत्रता पर विचार करती है। वैशाली के नागरिक इसी कहानी में अपनी आमोद-प्रमोद की स्वतंत्रता को बाधित होते नहीं देख सकते। इस प्रकार जहाँ भी अवसर मिलता है प्रसाद प्राचीन भारत के गौरवपूर्ण, समृद्ध राज्यों, वहाँ की परंपरा और निवासियों का चित्रण कर हमें उनके अतीत-वैभव से परिचित कराते हैं।

तत्कालीन राज्यों और समाज का पूर्ण परिचय प्रस्तुत करते हुए प्रसाद उसी देशकाल के अनुरूप व्यक्तिवाची, स्थानवाची और पदवाची नामों का प्रयोग अपनी कहानियों में करते हुए तत्कालीन वातावरण को पूरी तरह मूर्त्त करते हैं। बुद्धगुप्त, मणिभद्र, विजयकेतु, कलश, चन्द्रदेव, देवकुमार, सिंहमित्र, आर्य्यमित्र जैसे पुरुषवाची नाम और धर्मरक्षिता, मधूलिका, सुजाता आदि नारी-नाम पूरी तरह से कहानी के पाठक को मानसिक रूप में उसकी कथा-भूमि में ही उतार देते हैं। धर्माधिकार, प्राड्विवाक, अमात्य, महामात्य, रज्जुक, सेनापति, महाश्रेष्ठि, स्थविर, महास्थविर, कुलपुत्र, गुल्म-नायक, गणपूरक, महानाविक, राजा-उपराजा, मन्त्रधर, सूत्रधार, आदि कितने ही पदों के नाम प्रसाद ने अपनी कहानियों में प्रयुक्त किये हैं। चन्द्रप्रभा, जाह्नवी, शतद्रु, विपाशा, सदानीरा, आदि तत्कालीन नदियों के नाम वे अपनी कहानियों के सांस्कृतिक-वातावरण को निर्मित करने के लिए लेते हैं। मुचकुन्द, मधूक, मौलसिरी और कदम वृक्षों को इन कहानियों में देखा जा सकता है। वस्त्राभरणों में परिधेय वस्त्र, कौशेय, काषाय केयूर-वलय; वाद्यों में वीणा, मृदंग, आदि—ये सब तत्कालीन सांस्कृतिक रंग-वस्त्रों, रेखाओं का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

प्रसाद की कहानियों के सांस्कृतिक पक्ष में एक और पक्ष बहुत महत्त्वपूर्ण है : वह है आर्य-सभ्यता, आर्य संस्कृति, की महत्ता का भरपूर कथन, भारतीय जीवन-मूल्यों की रक्षा की चिंता। वर्णाश्रम धर्म की महत्ता का प्रतिपादन भी वे इसी भारतीय जीवन-दृष्टि के साथ करते हैं। आर्य-गौरव और संस्कृति की महत्ता का आख्यान कहानीकार प्रसाद दो रूपों में करते हैं: प्रथम, कहानी के बीच में इसका प्रत्यक्ष कथन और दूसरे, कथा के बीच में पात्रों का चरित्र-निर्वाह इस रूप में करना कि वे प्राण-पण से आर्य संस्कृति और जीवन-मूल्यों की रक्षा में तत्पर रहें। आर्य-गौरव और संस्कृति की महत्ता का सबसे अच्छा उदाहरण 'सालवती' कहानी में आया है जहाँ वे कहते हैं कि आर्यों का वह दल ज्ञान को अग्नि मुख में लेकर सदानीरा (नदी) के इस

तट पर उतरा था, वह सब प्रकार से अपने सिद्धांत, धर्माचरण और व्यवहार में 'आर्य' (श्रेष्ठ) था, "कर्मकाण्डियों की महत्ता और उनकी पाखण्ड-प्रियता का विरोधी वह दल, सब प्रकार की मानसिक या नैतिक पराधीनता का कट्टर शत्रु था।"...वह आर्यों का दल दार्शनिक था। उसने मनुष्यों की स्वतंत्रता का मूल्य चारों ओर से आँकना चाहा। और आज गंगा के उत्तरी तट पर विदेह, वज्जि, लिच्छवि और मल्लों का जो गणतंत्र अपनी ख्याति से सर्वोन्नत है वह उन्हीं पूर्वजों की कीर्तिलेखा है।"[१३] स्वतः स्पष्ट है कि उपर्युक्त कथन के प्रति शब्द में प्रसाद की दृढ़ भावना एवं सांस्कृतिक गौरव की दृष्टि अन्तर्मुक्त है। जहाँ अपने पात्रों के माध्यम से आर्य-गौरव का प्रतिपादन करते हैं, ऐसे स्थल कई कहानियों में आये हैं। 'सलीम' कहानी में नन्दराम और उसकी पत्नी प्रेमा शरणागत की रक्षा, प्रेम-दया आदि के जिन मूल्यों की रक्षा करते हैं वे आर्य-संस्कृति के मेरुदण्ड हैं। इसी कहानी के प्रारंभ में कहानीकार बलपूर्वक यह प्रस्थापित करना चाहता है कि विषम परिस्थितियों में भी आर्य-संस्कृति अपने मूल्य, धारणाओं एवं आदर्शों की रक्षा करने में सक्षम रही है, "आर्य-संस्कृति में अश्वत्थ की वह मर्यादा अनार्य धर्म के प्रचार के बाद भी उस प्रांत में बची थी, जिसमें अश्वत्थ चैत्य-वक्ष या वासुदेव का आवास समझ कर पूजित होता था।"[१४] कहानी का नंदराम और उसकी पत्नी प्रेमा विधर्मियों में फंसे इसी प्रकार अपने मूल्यों की रक्षा कर उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हैं। आर्य-गौरव की चर्चा करते-करते लेखक ने उस परम्परा को वर्तमान के लिए प्रेरणादायी बनाया है, वह उन देशवासियों को प्रश्नाकुल बना देने के लिए प्रयत्नशील है जो विदेशी शासन की कृपा-अनुग्रह के ही आश्रित हो कर रह गये हैं, "वही हम लोगों की संतान जिन्होंने देवता और स्वर्ग का भी तिरस्कार किया था, मनुष्य की पूर्णता और समता का मंगलघोष किया था, उसी की संतान अनुग्रह का आश्रय ले!"[१५] स्पष्ट है कि प्रसाद का यह आर्य-परंपरा का गौरव-बोध अतीत-मोह मात्र नहीं है, वह वर्तमान के लिए प्रेरणा का स्रोत है।

आर्य और भारतीय संस्कृति से प्रेम के कारण ही प्रसाद जी के मन में इस देश की वर्णाश्रम-श्रम-व्यवस्था और ब्राह्मणत्व के प्रति विशेष सम्मान की भावना है जो उनकी कहानियों (और नाटकों) में स्थान-स्थान पर दिखायी देती है। 'ममता' कहानी में इसका बहुत अच्छा उदाहरण देखा जा सकता है। ममता अपने पिता चूड़ामणि से म्लेच्छ का धन स्वीकार करने को मना करती, कहती है "यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिए। पिताजी! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्यों करेंगे।" ब्राह्मणत्व को प्रसाद अत्यंत श्रेयस्कर कर्म मानते हैं, चन्द्रगुप्त मौर्य नाटक में आचार्य चाणक्य इसका चरम निदर्शन बनकर उपस्थित होता है। "ब्राह्मण न किसी का दिया अन्न खाता है और न किसी के राज्य में रहता है। चाणक्य का यह आदर्श उनकी कहानियों के पात्रों में भी विद्यमान है। हिन्दू समाज की व्यवस्था ऐसी है जिसमें ब्राह्मण के पालन-पोषण का दायित्व समाज के अन्य वर्णों पर है। ममता अपने पिता से यही तथ्य प्रकट करती, कहती है "क्या कोई हिन्दू भू-पृष्ठ पर न बचा रह जायेगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके?"[१६] ममता इस भावना से भरी हुई है कि यदि सब अपना धर्म (कर्त्तव्य) छोड़ दें तो मैं क्यों छोड़ूं, मैं तो ब्राह्मणकुमारी हूँ। किंतु ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद हिन्दुत्व के अंध भक्त नहीं हैं, वे उसकी रूढ़ियों और कुप्रथाओं पर जम कर प्रहार करते हैं। 'ममता' कहानी के प्रारंभ में ही उनका यह कथन इसका प्रमाण है, "हिन्दू विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है।" हिन्दू शास्त्रों की रूढ़िवद्ध नियमावली पर वे अनेक जगह चोट करते हैं, 'सहयोग'

कहानी में व्यंग्य की तीखी मार से वे हिन्दू शास्त्र का मजाक उड़ाते कहते हैं, "हिन्दू शास्त्रानुसार शूद्रा स्त्री मनोरमा ने आश्चर्यपूर्वक ससुराल में द्वितीय जन्म ग्रहण कर लिया। उसे द्विजन्मा कहने में कोई बाधा नहीं।"[१७] हिन्दू कर्म-काण्ड पर भी वे कई जगह प्रहार करते हैं। 'सालवती' कहानी में अभिनंद का कथन है "यज्ञ आदि कर्मों में न पुण्य है, न पाप ! मनुष्य को इन पचड़ों में न पड़ना चाहिए।" इस सबसे सिद्ध होता है कि उन्होंने हिन्दुत्व की पोंगापंथी, रूढ़िवादी दृष्टि को नकार कर व्यापक मानवतावादी दृष्टि को स्वीकार किया था। इसलिए अछूतों के मन्दिर प्रवेश की समस्या को वे उस समय 'विराम चिह्न' कहानी में उठाते हैं (जो आज तक संभव नहीं हो सका है; 'नाथ द्वारा' मन्दिर में अछूतों के मन्दिर प्रवेश को लेकर आज भी—वर्ष १९८८ ई० में — कितना हंगामा खड़ा हुआ है, यह कुछ ही महीनों पहले की बात है)। हिन्दुत्व प्रसाद के लिए मानवता का एक विराट दर्शन है, उसी पर उन्हें गर्व है।

भारतीय संस्कृति का अंकन प्रसाद एक और रूप में करते हैं, वह है नारी पात्रों का भारतीय कुल ललना के आदर्शों से पूरित अत्यन्त भव्य अंकन !! उनकी नारी-चरित्र-सृष्टि अद्भुत है। जो बात प्रसाद के नाटकों की पात्र-सृष्टि के विषय में कही जाती है कि उनके नारी-पात्र पुरुषों से अधिक सबल और सक्षम हैं, वैसा ही सत्य उनकी कहानियों में भी देखा जा सकता है। 'आकाशदीप' की चंपा, 'पुरस्कार' की मधूलिका, 'सालवती' की नायिका, 'देवरथ' की सुजाता, 'नूरी' की नायिका नूरी, 'ममता' की ममता, 'स्वर्ग के खंडहर में', की लज्जा आदि उनकी कहानियों के नारी-चरित्र पाठक-मन पर अमिट प्रभाव छोड़ते हैं। 'चित्तौर-उद्धार' में विधवा राजकुमारी जिस रूप में विजय में हम्मीर की सहायक होती है, वह सगर्व उसे 'महिषी' पद पर बिठाता है। 'सिकंदर की शपथ' में कहानीकार उस दृश्य का भावपूर्ण वर्णन एक ही वाक्य में करता है 'भारतीय रमणियाँ जब अपने प्यारे पुत्रों और पतियों के लिए भोजन प्रस्तुत कर रही थीं।'[१८] भारतीय नारी के लिए गार्हस्थ्य के मूल्यों और आदर्शों को ही प्रसाद सर्वोपरि मानते हैं। इसीलिए पतिव्रत्य का सुख और आदर्श इन नारियों का चरम प्राप्य है। 'अशोक' कहानी में कुनाल जब बनवास में अपनी पत्नी धर्मरक्षिता से पूछता है कि तुम्हें यहाँ बहुत कष्ट हैं तो उसका उत्तर इसी आदर्श की संपूर्ति का प्रयास है, "नाथ, इस स्थान पर यदि सुख न मिला, तो मैं समझूंगी कि संसार में कहीं भी सुख नहीं है।"[१९] 'देवरथ' की सुजाता के मन में यही कसक है कि वह अपने प्रेमी की परिणीता वधू बन उसे अपने पतिव्रत्य का नैवेद्य, अक्षत यौवन, भेंट नहीं कर पायेगी, "मैं वह अमूल्य उपहार—जो स्त्रियाँ, कुल-वधुएँ अपने पति के चरणों में समर्पण करती हैं कहाँ से लाऊँगी ? वह वरमाला जिसमें दूर्वा-सदृश्य कौमार्य हरा-भरा रहता हो, जिसमें मधूक कुसुम-सा हृदय-रस भरा हो, कैसे, कहाँ से तुम्हें पहना सकूंगी ?"[२०] इसी प्रकार 'चूड़ीवाली' कहानी में चूड़ीवाली की लालसा है कि वह एक गृहस्थ, कुलवधू का जीवन जी सके। "मैंने गृहस्थ कुलवधू होने के लिए कठोर तपस्या की है। इन चार वर्षों में मुझे विश्वास है कि कुलवधू होने में जो महत्व है वह सेवा का है, न कि विलास का।"[२१] इस प्रकार भारतीय संस्कृति में नारी के जो उदात्त गुण और आदर्श माने गये हैं, प्रसाद की नारी उनकी पूंजीभूत साकार प्रतिमा बन कर उपस्थित होती है।

भारतीय संस्कृति का चित्रण करते समय प्रसाद केवल उसे 'हिन्दू' संस्कृति तक ही सीमित नहीं रखते अपितु उसका सामाजिक रूप उनके सामने रहता है। उसमें बौद्ध एवं जैन-संस्कृति के प्रति भी एक गहरी प्रीति दिखायी देती है। यह तथ्य निर्विवाद है कि प्रसाद बौद्ध-

दर्शन से भी प्रभावित थे, बौद्धों की करुणा और क्षणवादी दर्शन उन्हें विशेष रूप से प्रभावित करता है। 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' में धर्मरक्षित इस्लाम धर्म का प्रचार करने वाले सैनिकों से कहता है, "वह भी सम्राट था जिसने इस स्तंभ पर समस्त जीवों के प्रति दया करने की आज्ञा खुदवा दी है। क्या तुम भी देश विजय करके सम्राट हुआ चाहते हो? तब दया क्यों नहीं करते।"[२२] बौद्ध विहारों की गरिमा का चित्रण भी, जहाँ कहीं अवसर मिलता है, कहानीकार पूरी तन्मयता से करता है। 'ममता' कहानी में आया यह वर्णन द्रष्टव्य है, "काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खंडहर था।" 'सालवती' कहानी में जैन तीर्थंकरों का महत्व चित्रित हुआ है। तीर्थंकरों के मुख से आतमवाद-अनातमवाद के व्याख्यान सुनने की बात कही गयी है, आठ स्वतन्त्र तीर्थंकरों के विभिन्न मतवादों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। तीर्थंकर पूरण कश्यप के अक्रियवाद, तीर्थंकर मस्करी गोशाल के नियतिवाद तथा संजय वेलठिपुत्त, प्रबधु कात्यायन, नाथ-पुत्र आदि तीर्थंकरों के सिद्धांतों की चर्चा कर प्रसाद उस दर्शन पर अपना व्यापक अधिकार सूचित करते हैं। जिस प्रकार प्रसाद जी हिन्दू-रूढ़ियों, कर्मकाण्ड आदि पर प्रहार करते हैं, उसी प्रकार बौद्ध-विहारों में परवर्ती समय में फैले भ्रष्टाचार, कामुकता, आदि पर खूब खुल कर चोट करते हैं। बौद्ध-धर्म की वज्रयानी शाखा में सहजाचार के नाम पर जो भ्रष्टता फैली थी, 'देवरथ' कहानी में प्रसाद उस पर अपनी प्रतिक्रिया इस रूप में व्यक्त करते हैं, "तुम्हारा धर्म-शासन घरों को चूर-चूर करके विहारों की सृष्टि करता है—कुचक्र में जीवन को फँसाता है। पवित्र गार्हस्थ बंधनों को तोड़कर तुम लोग भी अपनी वासना-तृप्ति के अनुकूल ही तो एक नया घर बनाते हो, जिसका नाम बदल देते हो। तुम्हारी तृष्णा तो साधारण गृहस्थों से भी तीव्र है, क्षुद्र है और निम्न कोटि की है।"[२३] इस प्रकार प्रसाद ने हिन्दू संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति, जैन-संस्कृति या समग्रतः कहें तो भारतीय संस्कृति का गौरवपूर्ण चित्रण तो किया है किन्तु उसके अन्ध भक्त होकर नहीं। वे संस्कृति के मूलतत्त्वों का आख्यान मनुष्यता, मानवता, के मंगल-घोष के रूप में करते हैं। 'देवरथ' की सुजाता के मुख से प्रसाद कहलाते हैं, "मनुष्यता का नाश करके कोई धर्म खड़ा नहीं रह सकता।" उनकी कुछ कहानियों में इस्लाम धर्म के श्रेष्ठ तत्त्वों को भी स्वीकार किया गया है, 'सलीम' के 'अमीर' का चरित्र इसी व्यापक मानवीयता के आधार पर खड़ा किया गया है।

इस देश की संस्कृति इतनी महान है कि प्रसाद की कहानियों के पात्र उस पर गर्व करते हैं, उसे वर्तमान के लिए प्रेरणाप्रद पाते हैं। 'आकाशदीप' का बुद्धगुप्त तो इस दार्शनिकों के देश, 'महिमा की प्रतिमा' भारतवर्ष के प्रति अत्यन्त महत्वपूर्ण दृष्टि रखता ही है। उनकी कहानियों में ऐसे पात्र भी आये हैं जो विदेशी होकर भी इस देश को, इसकी संस्कृति को प्यार करते हैं। 'चन्द्र गुप्त' जैसे नाटक में तो ऐसे पात्र अपने विस्तार में चित्रित हुए हैं, यथा कार्नेलिया, किन्तु कहानी में भी प्रसाद ऐसे पात्र कल्पित करते हैं जिन्हें भारतीय संस्कारों में डुबोकर उनका काया-कल्प करते हैं। 'शरणागत' कहानी में विल्फर्ड और एलिस का रूपांतरण इसी रूप में दिखाया गया है, "इतने में सात-आठ स्त्रियों का झुण्ड मकान से बाहर निकला है! यह क्या? एलिस ने अपना गाउन नहीं पहना, उसके बदले फीरोजी रंग के रेशमी कपड़े का कामदानी लहँगा और मखमल की कंचुकी, जिसके सितारे रेशमी ओढ़नी के ऊपर से चमक रहे हैं। हैं! यह क्या? स्वाभाविक अरुण अधरों में पान की लाली भी है, चोटी भी फूलों से गूंधी जा चुकी है, और मस्तक में सुन्दर से बाल अरुण की बिंदु भी तो है।"[२४] अन्त में प्रसाद उसे इतना भारतीय

संस्कारों से युक्त करते हैं कि उसे घोड़े पर नहीं अपितु पालकी में बिठाकर भेजते हैं। यह प्रसाद की आरंभिक कहानियों में से एक है जिससे सिद्ध होता है कि प्रसाद अपनी सृजन-यात्रा के प्रारम्भ में ही संस्कृति का चित्रण एक दृष्टि, 'विज़न', के साथ करते हैं। उनकी कहानियों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त समृद्ध और विविधमुखी है।

संदर्भ

१. प्रतिध्वनि, 'पत्थर की पुकार', पृ० ४६
२. वही, पृ० ४८
३. इन्द्रजाल, 'सालवती', पृ० १५२
४. वही, पृ० १५३
५. आकाशदीप, 'देवदासी', पृ० ६१
६. वही, पृ० ६०
७. वही, 'आकाशदीप', पृ० १८
८. आँधी, 'पुरस्कार', पृ० १३५
९. इन्द्रजाल, 'सालवती', पृ० १३९
१०. प्रतिध्वनि, 'खंडहर की लिपि', पृ० ५८
११. आँधी, 'पुरस्कार', पृ० १३६
१२. वही, पृ० १४७
१३. इन्द्रजाल, 'सालवती', पृ० १३६
१४. वही, 'सलीम', पृ० २३
१५. वही, 'सालवती', पृ० १३७
१६. आकाशदीप, 'ममता', पृ० २६
१७. प्रतिध्वनि, 'सहयोग', पृ० ४१
१८. छाया, 'सिकन्दर की शपथ', पृ० ५४
१९. वही, 'अशोक', पृ० ६८
२०. इन्द्रजाल, 'देवरथ', पृ० १२५
२१. आकाशदीप, 'चूड़ीवाली', पृ० १३४
२२. प्रतिध्वनि, 'चक्रवर्ती का स्तंभ', पृ० ६७
२३. इन्द्रजाल, 'देवरथ', पृ० १२७
२४. छाया, 'शरणागत', पृ० ४९

माखनलाल चतुर्वेदी : बहुआयामी व्यक्तित्व

□ डॉ० आशा जोशी

अपने मौलिक चिंतन, युगचेतना, सजग सामाजिक दृष्टि, तथा राष्ट्रीय भावना के कारण जो रचनाकार अपनी अलग पहचान बनाते हैं; उनमें माखनलाल चतुर्वेदी का नाम सर्वोपरि है। साहित्य के क्षेत्र में उनका आगमन जिस समय हुआ, वह स्वतंत्रता-संग्राम का युग था। अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों के द्वारा उन्होंने इस यज्ञ में आहुति दी। अपने स्वच्छन्द चिंतन के कारण उन्हें किसी विशिष्ट वाद की परम्परा से नहीं जोड़ा जा सकता। विविधमयी प्रतिभा के बल पर तथा स्वतंत्र चिंतनाशक्ति के आधार पर आधुनिक हिन्दी-साहित्य में उन्होंने अपनी विशिष्ट छवि बनाई।

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद तहसील के एक कस्बे, बम्बई में जन्मे, माखनलाल जी तीव्र मेधा के धनी थे। उनका बचपन माता सुन्दरबाई की स्नेहिल छाया तथा अनुशासनप्रिय बुआ के संग व्यतीत हुआ। चतुर्वेदी जी बचपन में अत्यन्त चंचल प्रकृति के थे। आर्थिक अभाव के कारण शिक्षा का क्रम बीच में ही टूट गया, अतः जबलपुर में प्राइमरी टीचर्स की ट्रेनिंग प्राप्त करके अध्यापन को जीवन की प्रथम सीढ़ी बनाया। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था, अतः वे शिक्षण के सीमित क्षेत्र में बंध कर नहीं रहे। साहित्यिक रुझान के कारण, खंडवा से, कालूराम गंगराडे द्वारा प्रकाशित एवं सम्पादित 'प्रभा' नामक मासिक पत्रिका से जुड़े व उसके सहकारी सम्पादक बने।

चौदह वर्ष की आयु में, सन् १९०३ में, ग्यारसी बाई से विवाह हुआ। आर्थिक कठिनाइयों के कारण पारिवारिक जीवन अत्यन्त संघर्षमय रहा। सन् १९०६ में क्रांतिकारियों के सम्पर्क में आए तथा प्रच्छन्न रूप से उनकी सहायता भी करते रहे। अनेक छद्म नामों से उद्बोधनकारी कविताएँ भी लिखीं। धीरे-धीरे साहित्य, पत्रकारिता व राजनैतिक जीवन में व्यस्त होते चले गए। 'प्रभा' पत्रिका के माध्यम से तत्कालीन लेखकों के संपर्क में आए जिनमें प्रमुख थे—आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, पंडित विष्णुदत्त शुक्ल, सेठ गोविंददास, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, कामताप्रसाद गुरु, रघुवरप्रसाद द्विवेदी तथा रघुवीर सिंह। उनके व्यक्तित्व पर स्वामी रामतीर्थ, पंडित माधवराव सप्रे तथा सैयद अमीर अली 'मीर' का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। रामतीर्थ जी की रचनाओं ने उनमें आध्यात्मिकता का विकास किया तथा सप्रे जी राजनैतिक गुरु बने। 'मीर' साहब के संपर्क में आकर उर्दू शायरी के प्रति रुचि जागृत हुई तथा काव्य-प्रतिभा को विकसित होने का अवसर मिला। शनैः शनैः बढ़ता हुआ बाह्य जगत का संपर्क उन्हें व्यस्त करता चला गया, अतः पारिवारिक कठिनाइयों व विपन्न

स्थिति से अकेली जूझती पत्नी को यक्ष्मा ने धर दबोचा। सन् १९१५ में वे चिरनिद्रा में लीन हो गईं। पत्नी के वियोग ने उन्हें मर्मबेधी पीड़ा पहुँचाई; परिणामस्वरूप हृदय रोग से पीड़ित होकर लगभग तीन वर्ष तक शय्याग्रस्त रहे। वेदना के उन गहन क्षणों को अनेक रचनाओं में अभिव्यक्ति मिली—

'भाई छेड़ो नहीं, मुझे खुलकर रोने दो,
यह पत्थर का हृदय आँसुओं से धोने दो,
रहो प्रेम से तुम्हीं मौज से मंजु महल में,
मुझे दुःखों की इसी झोपड़ी में सोने दो।'[1]

स्वतंत्रता-संग्राम में गणेशशंकर विद्यार्थी के जेल चले जाने पर 'प्रताप' का संपादन भार भी संभाला। सन् १९२५ में खंडवा से 'कर्मवीर' का प्रकाशन आरंभ किया तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक चलाते रहे। देश और साहित्य के इस मौन साधक ने कभी कीर्ति की कामना नहीं की।

उनके जीवन में साहित्य साधना एवं राजनीति का अद्भुत संयोग था। यह वह कालखंड था जब देश स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए जूझ रहा था। उस समय राजनीति को गले लगाने का अर्थ था प्राणपण की बाजी लगा देना। माखनलाल जी ने यह चुनौती सहर्ष स्वीकार की। स्वाधीनता के लिए जूझते हुए, अभावों से लबालब भरी हुई जिंदगी को स्वीकार किया, जेल गए, यातनाएँ सहीं तथा जेल कीं सीखचों के भीतर भी प्रेरणादायक कविताएँ लिखीं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् चतुर्वेदी जी लगभग इक्कीस वर्ष जीवित रहे, परन्तु उन्होंने ऐसा कोई पद स्वीकार नहीं किया जिससे अर्थलाभ कर सकते। वे आजन्म विद्रोही रहे। बाद की कविताओं में जो विद्रोह हमें निराला आदि में दिखाई देता है उसका बीज माखनलाल की कविताओं ने ही आरोपित किया।

तिलक तथा गाँधी की समन्वित विचारधारा का प्रभाव उन पर पड़ा। राजनैतिक व साहित्यिक आन्दोलनों में समान रूप से सक्रिय रहे। सन् १९२१ में गाँधी जी द्वारा संचालित राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल गए। सन् १९२३ में नागपुर के झंडा-सत्याग्रह से सरकार को हतप्रभ किया। सन् १९३१ में मध्यभारत प्रजापरिषद् (झांसी) के दूसरे अधिवेशन के सभापति बनाए गए। सन् १९३६ में कांग्रेस के पार्लियामेंटरी बोर्ड, मध्यप्रदेश के अध्यक्ष चुने गए। सन् १९२९ में भरतपुर के समाचार-पत्र-संपादक-सम्मेलन के अध्यक्ष बने। सन् १९३० में रायपुर तथा सन् १९३५ में कटनी में होने वाले मध्यप्रान्तीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनाए गए। सन् १९३८ में भारतीय हिन्दी पत्रकार परिषद् (बनारस) के सभापति हुए। सन् १९४३ में, हरिद्वार में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस अवसर पर उनके द्वारा दिया गया भाषण बेजोड़ है। इसमें संदेह नहीं कि, माखनलाल जी मंच के कुशल वक्ता थे। धाराप्रवाह शैली, साहित्यिक भाषा, बात को बेधड़क कहने का साहस तथा मधुर वाणी का आकर्षण उन्हें वक्ताओं की दिग्गज कतार में सबसे महत्त्वपूर्ण बना देता था। बड़े-बड़े राजनैतिक धुरंधर भी उनकी भाषणकला के सम्मुख फीके पड़ जाते थे। उनके भाषणों का विषय साहित्य, संस्कृति, भाषा, सामाजिक जागृति, देशप्रेम आदि रहते थे। सन् १९४३ में दिए गए अधिवेशन-भाषण में उन्होंने हिन्दी-उर्दू, हिन्दी अंग्रेजी जैसे ज्वलंत मुद्दों को उठाया। वह भाषण आज भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। हिन्दी व अंग्रेजी के मुद्दे जो वर्तमान समय में भी ज्यों-

त्यों विद्यमान हैं, उन्हें स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—

"थोड़े से चिंतक और ज्ञानशील अंग्रेजी पढ़ें सो बात नहीं। थोड़ी सी तालीम शुरू होते न होते हमारे देश के हर बच्चे को अंग्रेजी पढ़ाई जा रही है। अंग्रेजी के भाण्ड में ज्ञान रखकर उसे देशी भाषाओं में इसलिए नहीं आने दिया जाता कि, उससे कहीं अंग्रेजी कमजोर न पड़ जाय। यह सब देख सुनकर हम आपस में लड़कर कहते हैं कि राष्ट्रभाषा का दुश्मन कौन है? मैं नहीं चाहता कि इस समस्या पर रंगीन पर्दे डालकर समस्या को अपने-अपने रंगों में चित्रित करने का घातक खेल हम और अधिक खेलें।"[२]

उन्होंने हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए बहुत प्रयत्न किए। उनका मत यही था कि यदि हम हिन्दी को राष्ट्र भाषा के पद पर आसीन करना चाहते हैं तो उसे क्लिष्टता और पांडित्यबोध के कटघरे से बाहर निकालना होगा। लोकजीवन के स्पर्श से जोड़ना होगा। थोड़ा दृष्टि और दिमागी दरवाज़ों को खुला रखना होगा। विशिष्ट पूर्वग्रह को साथ लेकर हम हिन्दी के साथ न्याय नहीं कर सकते—

"उर्दू और हिन्दी का कृत्रिम झगड़ा हम कृत्रिम रूप से राष्ट्रभाषा का सवाल बनाए हुए हैं। हमने जो भाषाएँ गढ़ रखी हैं वे शहराती हैं और फारसी अरबी के विदेशी शब्द तथा संस्कृत के कठिन शब्द दोनों की हिमायत हमें एक ही जगह पहुँचाती है—यानी वह राष्ट्रभाषा को शहरों में रोक लेती है, उसकी गाँवों में जाने की क्षमता नष्ट कर देती है।"[३]

सन् १९५४ में उन्होंने राजनीति से सन्यास लेकर अपना जीवन पूर्णरूप से साहित्य को समर्पित कर दिया। उनकी प्रकाशित रचनाएँ इस प्रकार हैं—

काव्य : हिमकिरीटनी, हिमतरंगिनी, माता, युगचरण, समर्पण, वेणु लो गूँजे धरा, आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि—माखनलाल चतुर्वेदी—संपादक—हरिकृष्ण प्रेमी, आधुनिक कवि भाग-६, मरणज्वार, बीजुरी काजर आँज रही, धूम्रवलय।

नाटक : कृष्णार्जुन-युद्ध

गद्य-निबन्ध : साहित्य-देवता, अमीर इरादे : गरीब इरादे, समय के पाँव, चिंतक की लाचारी, रंगों की बोली।

कहानी-संग्रह : कला का अनुवाद।

इनके अतिरिक्त कवि की अभी असंख्य रचनाएँ ऐसी भी हैं, जो प्रकाशन के अभाव में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं।

चतुर्वेदी जी का संपूर्ण जीवन संघर्ष, विद्रोह तथा उतार-चढ़ाव के हिचकोले खाता रहा। जीवनकाल में आने वाली आड़ी-तिरछी रेखाओं ने उनके व्यक्तित्व को खूब माँजा जिसका प्रभाव उनके साहित्य पर भी पड़ा। अतः उनके संपूर्ण साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात्, प्रथम दृष्टि में यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि वे सर्वप्रथम क्या हैं—कवि, पत्रकार अथवा निबन्धकार। लेकिन यह सत्य है कि उनकी कविता का धरातल निश्चय ही उन्हें एक विशिष्ट कवि के रूप में स्थापित करता है। उनकी कविताओं को कालक्रम की दृष्टि से नहीं समझा जा सकता, उसके लिए भावबोध की जमीन पर उतरना पड़ता है। वैसे किसी भी रचना का रचनाक्रम उसका युगबोध कराता है। इस दृष्टि से किसी भी रचना के रचनाकाल या प्रकाशन काल का होना पाठकों तथा शोधकर्त्ताओं के लिए आवश्यक है, जिसका निर्वाह चतुर्वेदी जी की रचनाओं में नहीं हुआ।

माखनलाल जी की कविताओं में विषय व अनुभूति का वैविध्य देखते ही बनता है। एक ओर वैष्णवभक्ति का रसात्मक धरातल आकर्षित करता है तो दूसरी ओर प्रेम और सौंदर्य की दीप्ति मन को मोहित करती है। राष्ट्रप्रेम का ज्योतिपुँज तो आलोकित है ही। जीवन के प्रत्येक क्षण को बड़ी सहजता के साथ पकड़ना चाहा है। उनका कवि-व्यक्तित्व अनगिनत उत्तुंग भावनाओं के रेशों से कुछ इस प्रकार बुना हुआ है कि उनको अलग-अलग करके देख पाना कठिन है। उनके हृदय का प्रेम, दुख, रहस्य, भक्ति, आस्था, अनास्था, हर्ष आदि सारे भाव जुड़कर जैसे उनका संपूर्ण व्यक्तित्व बन गए हैं। अतः एक विभाजक रेखा खींचकर उनकी कविताओं को देखना उनके प्रति अन्याय करना होगा। उनके कवि का चरित्र समग्रता में हमारे सामने आता है। राष्ट्रीयता उनकी कविता का प्रथम स्वर है। उत्साह, ओज, निर्भीकता, जीवन में आगे बढ़ने की चाह, संघर्ष से टकराने की अदम्य इच्छा, शत्रु का मुँह तोड़ उत्तर देने का साहस, देश के गौरव के लिए मर मिटने का अभिमान जैसे कूट-कूट कर भरा है—

"अमर राष्ट्र, उद्दंड राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र! यह मेरी बोली,
यह सुधार समझौतों वाली मुझको भाती नहीं ठिठोली।
मैं न सहूँगा मुकुट और सिंहासन ने वह मूँछ मरोरी,
जाने दे सिर लेकर मुझको, ले संभाल यह लोटा डोरी।"[४]

'जिसका रवि ऊगे जेलों में, संध्या होवे वीराने में
उसके कानों में क्यों कहने आते हो? यह घर मेरा है?
कलरव, बरसात, हवा ठंडी, मीठे दाने खारे मोती,
सब कुछ ले लौटाया न कभी घरवाला महज लुटेरा है!
क्या कहा कि ये घर मेरा है?'[५]

'क्या देख न सकती जंजीरों का गहना?
हथकड़ियाँ क्यों? यह ब्रिटिश-राज का गहना,
कोल्हू का चर्रक चूँ? जीवन की तान,
गिट्टी पर अंगुलियों ने लिक्खे गान?
हूँ मोट खींचता लगा पेट का जूआ,
खाली करती हूँ ब्रिटिश राज का कूआं।
दिन में करुणा क्यों जगे रुलानेवाली
इसलिए रात में गजब ढा रही आली?'[६]

चतुर्वेदी जी के काव्यरचना के आरंभिक काल में देश पर विदेशी ताकतों का बोलबाला था। क्रांतिकारियों के सम्मुख आत्मबलिदान के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग न था। यही आत्मबलिदान की भावना जवानी, पुष्प की अभिलाषा, पर्वत की अभिलाषा तथा अनगिन अन्य कविताओं में प्रस्फुटित हुई है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व है राग। जिस पर कवि ने खुलकर लेखनी चलाई है। प्रेम के दोनों पक्ष उनकी लेखनी का विषय बने हैं परन्तु प्रधानता विरहपक्ष को मिली है, शायद इसका कारण युवावस्था में जीवनसंगिनी का बिछुड़ जाना रहा हो। प्रेम को उन्होंने जीवन की शक्ति माना है। उनके अनुसार प्रेमतत्व अद्भुत, अलौकिक तथा कांतिमान है व जीवन का परिष्कार करता है—

'चैतन्य को जड़ कर दिया, जड़ को किया चैतन्य है,
बस प्रेम की अद्‌भुत, अलौकिक उस प्रभा को धन्य है,
क्यों कौन सा है वह नियम, जिससे कि चालित है मही ?
वह तो वही है, जो सदा ही दीखता है सब कहीं।···
वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है, वह प्रेम है।'[७]

प्रेम चित्रण में कवि के संवेदन को गहराई से पकड़ा जा सकता है। उन्होंने अपनी भावसंपदा को प्रकट करने के लिए कल्पना का हीरकजाल नहीं बुना है। कहीं-कहीं तो तीव्र भावावेग शब्दों पर दबाव डालता-सा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है जैसे कोई एकाकिनी छिप कर उनके हृदय के भीतर बैठी हुई है जो एकांतक्षण पाते ही कविता में बातें करने लगती है। वे क्षण के कवि हैं और क्षण जो पकड़ते हैं, इसीलिए उन्होंने गीतकाव्य और मुक्तक का आश्रय लिया है। प्रबन्ध का विशाल फलक उन्होंने नहीं चुना।

प्रकृति का आश्रय भी कवि ने लिया है। विशुद्ध प्रकृति के चित्र तो नहीं मिलते परन्तु आगे चलकर, प्रकृति का मानवीकरण जो छायावादी कविता का विशिष्ट गुण बना उसका पूर्वारंभ चतुर्वेदी जी की कविताओं में मिल जाता है। प्रकृति चित्र का एक उदाहरण—

'इस तरह ढक्कन लगाया रात ने
इस तरफ या उस तरफ कोई न झाँके
बुझ गया सूर्य
बुझ गया चाँद तरु की ओट लिए
गगन भागता है तारों की मोट लिए।'[८]

इन पंक्तियों में हम किस वाद का रंग ढूँढ़ें ? वस्तुतः माखनलाल जी की स्वच्छन्द भाव-धारा किसी वाद के कटघरे मे नहीं बँधी है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना के मूल स्वर को पकड़ने वाले इस कवि में हमें छायावाद तो क्या उससे भी आगे आने वाली प्रगतिशील चेतना के भी दर्शन हो जाते हैं। न वे छन्द की दृष्टि से बँधे हैं, न विषय की दृष्टि से। फिर भी आश्चर्य है कि उनकी कविताओं में ताल, तुक का अभाव होते हुए भी संगीतात्मकता की अन्तःसलिला विद्य-मान है। लोकजीवन व लोकसंगीत से गहरा जुड़ाव इसका एक विशेष कारण है। बहुत सारे गीतों की सूची गिनाई जा सकती है, जिन्हें लोकधुनों के आधार पर तन्मयता से गुनगुनाया जा सकता है। 'आज नयन के बंगले में', 'झूला झूलैं री', 'छिया-छी, श्याम लोचन मन बस गयो रे', 'बदरिया थम-थम कर झर री', 'बोल राजा' आदि गीत ऐसे ही हैं। इन गीतों में माटी की सुगंध को व कवि के सजग ग्रामीण मन को अनुभव किया जा सकता है।

उस अव्यक्त सत्ता के प्रति भी रागात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। अज्ञात प्रियतम के प्रति कवि ने अपनी भावना को नाना रूपों में अभिव्यक्त किया है। हर्ष, विषाद, आशा, निराशा, अभिलाषा आदि को इस प्रकार की कविताओं में संचरित होते हुए देखा जा सकता है। अनेक उदाहरण इस संदर्भ में गिनाए जा सकते हैं, परन्तु कबीर के 'अविनासी दूल्हा कब मिलिहौं' से प्रेरित होकर लिखी गई कविता की पंक्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

'दूर के अति पास के एकांत के धन,
नजर से नभ तलक के मीठे समर्थन,
प्राण पर छायी हुई छाया कदम की,

चढ़ कि जिस पर लसित था बलिदान
अमर अविनाशी नयन, मन के समर्पण।
कब मिलोगे साँस की पहचान की मीठी कुरेदन ?'[९]

अपनी काव्यभाषा के लिए उन्होंने मिश्रित शब्दावली का प्रयोग किया है। उर्दू, फ़ारसी ग्रामीण या देशज शब्दावली, ब्रजभाषा आदि के शब्दों को खुलकर ग्रहण किया है। सहजता को नष्ट करने के लिए सजगता का आग्रह कवि में नहीं रहा। द्विवेदीयुग तथा छायावाद युग के बीच पुल का कार्य करने वाले कवि ने अपनी भाषा में भी अपनी स्वतंत्र छवि बनाई है। न तो द्विवेदी जी की तरह शुद्धता का आग्रह लेकर चले हैं न छायावादी कवियों की तरह अभिजात्य शब्दावली का। संवेगों की उफनती तीव्र नदी में उनका ध्येय भावना का संप्रेषण रहा है, भाषा का चमत्कार नहीं।

अस्तु, कविरूप के पश्चात् उनके नाटककार रूप पर थोड़ा विचार करें। उनके द्वारा रचित केवल एक नाटक प्रकाश में आया—'कृष्णार्जुन-युद्ध'। यह सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ तथा यह उनकी सर्वप्रथम प्रकाशित रचना मानी जाती है। कृष्ण व अर्जुन की पौराणिक कथा को आधार बना कर इसे लिखा गया है। जिस समय इसकी रचना हुई, उस समय साहित्यिक नाटकों का लगभग अभाव था। अतएव साहित्यिक गुण तथा अभिनय की दृष्टि से इसे विशेष सराहना मिली। प्रतीकात्मक शैली में रची गई इस रचना में प्रबल युगबोध के दर्शन होते हैं। राष्ट्रीयता के प्रत्येक कोण को छूती हुई यह रचना राजनैतिक गुलामी, आर्थिक वैषम्य, दोषपूर्ण शिक्षाप्रणाली, साम्राज्यवादिता आदि पर तीखा प्रहार करती है। तत्कालीन युग की परिस्थितियों को देखते हुए लेखक की निर्भीकता की दाद देनी पड़ती है। यह नाटक कुछ कारणों से थोड़े विवाद का विषय भी बना। सन् १९३५ में खंडवा से निकलने वाले 'स्वराज्य' नामक साप्ताहिक पत्र (जिसके संपादक-प्रकाशक सिद्धनाथमाधव आगरकर थे) में श्री मोहनलाल सोहनी जी ने पत्र लिखा कि 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक उनके द्वारा लिखित है, जिसे माखनलाल जी ने अपनी भाषा में लिखकर अपने नाम से छपवा लिया है—

'समाचारपत्र पढ़ने वाले खंडवा से बाहर के पाठक इस नाटक के लेखक को पंडित चतुर्वेदी के नाम से जानते हैं, परन्तु खंडवा के प्राचीन साहित्यप्रेमी जानते हैं, कि 'कृष्णार्जुन-युद्ध' का मूल लेखक कौन है। वह इन पंक्तियों के लेखक के विनम्र परिश्रम का फल है। उसने ही इसका रंगरूप सजाया और उसकी रचना की। दुर्भाग्य से या सौभाग्य से नाटक मेरे नाम से क्यों नही छपा उसकी कैफियत नीचे दी जाती है।'[१०] फिर इस नाटक को लेकर एक लंबा विवाद छिड़ा, जिस पर आज भी अलग से एक लंबी बहस छिड़ सकती है। सोहनी जी के इस पत्र में, जिसमें विस्तार से कारण दिए गए हैं, जिस शंका को जन्म दिया वह अभी भी खोज का विषय हो सकता है। हाँ, यह निर्विवाद सत्य है कि इस शंका से नाटक का महत्व कम नहीं हो जाता। यह आश्चर्य का विषय अवश्य है कि यह विवाद चतुर्वेदी के जीवनकाल में छिड़ा और संभवत: उनकी ओर से इसका खंडन नहीं हुआ। हम इसे चतुर्वेदी जी का नाटक ही मान कर चलते हैं। प्रतिभा के धनी माखनलाल ने इसके अतिरिक्त और नाटक नहीं लिखे, यदि लिखे होते तो निश्चय ही उनका स्थान श्रेष्ठ नाटककारों में होता क्योंकि यह अकेला नाटक अपने प्रणेता की अद्‌भुत नाट्यकुशलता व कल्पनाशक्ति का परिचय देता है। माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली भाग एक के नाटक-प्रभाग में संपादक ने 'वन्य-प्रदेश' नामक रचना भी संक-

लित की है, परन्तु उसे पूर्णरूप से नाटक की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वार्तालाप-शैली में लिखी गई यह रचना नाटकीय तत्वों का आभास देती है। यदि हम उसे कथारूपक कहें तो उचित होगा। नाटक तो एक ही प्राप्त होता है—'कृष्णार्जुन-युद्ध'।

'साहित्यदेवता' में रचनाकार ने जीवन तथा साहित्य से सम्बन्धित अनेक विषयों पर अपने विचारों को सुस्पष्ट ढंग से रखा है। जीवन के गहन तथ्यों का उद्घाटन सहज ज्ञान के आधार पर किया है। इस कृति के अनेक निबन्ध उन्हें काव्यात्मक शैली एवं युगबोध के कारण छायावादी गद्य के प्रारंभकर्त्ताओं में स्थापित करते हैं।

'समय के पाँव' संस्मरणों की दृष्टि से गौरव की अधिकारी रचना है। इसमें प्रतिभा और पौरुष के धनी भारत के महान व्यक्तियों से जुड़ी स्मृति को वाणी मिली है। चतुर्वेदी जी स्वयं राष्ट्रीय आन्दोलन के सजग प्रहरी रहे इसलिए जिनके स्मृति रूपों को इस रचना में आधार बनाया गया है, वे उनके निकट से जानेबूझे हैं।

'अमीर इरादे : गरीब इरादे' निबन्धों का संग्रह है, जिसमें लेखक का चिंतक और विचारक रूप अधिक उजागर हुआ है। इसमें लेखक ने कला, साहित्य, काव्य और व्यक्तित्व जैसे प्रश्नों पर अपनी मर्मस्पर्शी दृष्टि डाली है। उनकी विवेचनशक्ति की मौलिकता को देख कर आश्चर्य होता है। ये निबन्ध ललित निबन्धों की कोटि में रखे जा सकते हैं। डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित इन निबन्धों का विवेचन करते हुए कहते हैं—

'मार्मिक अनुभूति, सहज ईमानदारी और ललित अभिव्यक्ति की सराहना के साथ इन्हें ललित निबन्ध की निधि मानना चाहिए तथा कवि की अन्तर्दृष्टि की श्लाघा करनी चाहिए।'[११]

'चिंतक की लाचारी' चतुर्वेदी जी द्वारा समय-समय पर दिए गए भाषणों का संग्रह है। यह पुस्तक सन् १९२७ से सन् १९५८ तक की परिधि को अपने में समेटे हुए है। ये निबन्ध उनके वक्ता रूप के ओज को प्रकट करने में अपनी सानी नहीं रखते। इन्हें पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्वेदी जी की वाणी का प्रभाव अचूक रहा होगा। 'रंगों की बोली' में भी उनके निबन्ध तथा गद्यकाव्य संकलित हैं।

चतुर्वेदी जी को प्रसिद्धि कवि के रूप में अधिक मिली है परन्तु उनके निबन्धों को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका गद्यकार उनके कवि पर हावी है। गद्यशैली का उन्मुक्त प्रवाह उनके व्यक्तित्व के स्वच्छन्द ओज के अनुरूप है। साहित्यिक व्यंग्य एवं सांकेतिकता उनके गद्य का विशेष गुण है। कविताओं में सिर चढ़कर बोलने वाला जो भावावेग कहीं-कहीं अभिव्यक्ति की कमजोरी बन जाता है, वही भावावेग गद्य में आकर उद्दाम प्रवाह, निर्बाध वेग का प्रतीक बन जाता है।

उनके संपूर्ण साहित्य पर दृष्टि डालने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्वेदी जी का व्यक्तित्व नानामुखी विशेषताओं का संगम है। जिस प्रकार प्रचंड वेग से बहने वाली नदी किसी विशाल शिला को फोड़कर शतधा बहने लगती है उसी प्रकार उनकी असाधारण प्रतिभा का आलोक बहुआयामी बनकर विकीर्ण हुआ है। हम उनमें एक साथ राष्ट्रीयता के वैतालिक, प्रेम के गायक, आध्यात्म के आराधक, युग के सजग प्रहरी अर्थात् चिंतक-विचारक के दर्शन करते हैं। यही चिंतक हमें उनके निर्भीक पत्रकार तथा कुशल वक्ता से मिलाता है। कर्मवीर, प्रभा, प्रताप में लिखी गईं उनकी संपादकीय टिप्पणियाँ उनकी राष्ट्रीय व सामाजिक जागरूकता

की खुली किताब हैं। हिन्दी-पत्रकारिता को अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय माखनलाल चतुर्वेदी को ही जाता है। उन्होंने अपने चिंतन की सामग्री नाना स्रोतों से प्राप्त की। अध्ययनशील प्रकृति के कारण संस्कृत, बंगला, मराठी, उर्दू, ब्रजभाषा तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किया। मननशील प्रकृति ने उनके विचारों की धरती को पुष्ट कर व्यक्तित्व को पुख्ता बरगद बनाया। वक्त की नब्ज़ को पहचानने वाले अनूठे चिंतक ने वैष्णव धर्मावलम्बी होते हुए भी स्वयं को धर्म के नाम पर पिंजरे का कैदी नहीं बनाया—

'मैं तो वैष्णववाद को वही मानता हूँ जो आज का तरुण चाहता है। पहले धर्म ही समाज का नियमन करता था, इसलिए धर्म के अन्दर विरोध हुआ। उसके बाद गद्दियाँ समाज का नियमन करने लगीं और उस हालत में इन गद्दियों के प्रति विद्रोह होने लगा।... समाज में आने वाले समस्त विद्रोहों के प्रति मेरे मन में स्वाभाविक प्यार है।'[१२]

भारतीयता उनकी बाह्य वेशभूषा से ही नहीं टपकती थी, अपितु 'एक भारतीय आत्मा' सचमुच ही भारतीयता के रंगरस में पगी हुई थी। ऐसे रंग में, जिसमें जीवन की रूढ़ियाँ नहीं, जीवन्तता का समुद्र हिलोरें लेता था।

चतुर्वेदी जी को अपनी उपलब्धियों के लिए अनेक मानसम्मान भी प्राप्त हुए। सन् १९४३ में 'हिमकिरीटनी' पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से एक हजार रुपए तथा देवपुरस्कार व सन् १९५४ में उत्तरप्रदेश सरकार की ओर से पन्द्रह सौ रुपए का पुरस्कार प्रदान किया गया। 'हिमतरंगिनी' पर सन् १९५४ में साहित्य अकादमी ने पाँच हजार रुपए का पुरस्कार तथा उत्तरप्रदेश सरकार ने पन्द्रह सौ रुपए का पारितोषिक प्रदान किया। साहित्यकार संसद, प्रयाग द्वारा सन् १९६४ में, मैथिलीशरण गुप्त के सभापतित्व में साहू जगदीशप्रसाद पुरस्कार 'माता' काव्यसंग्रह के लिए मिला। इसी संकलन पर उत्तरप्रदेश सरकार ने भी पन्द्रह सौ रुपए का पुरस्कार दिया। उत्तरप्रदेश सरकार ने ही कहानी-संकलन 'कला का अनुवाद' पर छः सौ रुपए की राशि पुरस्कार स्वरूप दी। उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश सरकार द्वारा और भी अनेक बार पुरस्कृत किया गया।

सन् १९३५ में काशीधर्म महामंडल द्वारा 'संपादक भूषण' की उपाधि से सम्मानित किया गया। सन् १९४६ में, हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कराची अधिवेशन में, हिन्दी की बहु-मूल्य सेवा के लिए 'साहित्य वाचस्पति' उपाधि से विभूषित हुए। सन् १९५९ में सागर विश्व-विद्यालय की ओर से खंडवा में आयोजित दीक्षांत समारोह में उपकुलपति डा० द्वारिकाप्रसाद दीक्षित द्वारा डी० लिट्० की मानद उपाधि से सम्मानित हुए। सन् १९६३ में २६ जनवरी, गणतंत्र दिवस पर भारत सरकार द्वारा 'पद्म-भूषण से अलंकृत किए गए परन्तु सन् १९६७ में भाषाविधेयक (संशोधित) से विरोध प्रदर्शित करने के लिए उसका परित्याग किया। सन् १९६५ में मध्यप्रदेश सरकार ने सार्वजनिक अभिनन्दन, ७५०० रुपए की राशि तथा प्रशास्तिपत्र भेंट किया।

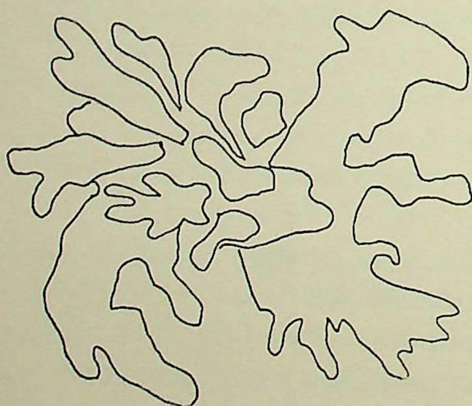
बलिपथ के पथिक, माखनलाल चतुर्वेदी का व्यक्तित्व निश्चय ही बहुआयामी था। अपने कृतित्व के माध्यम से उनका व्यक्तित्व आज भी हमारे बीच जीवंत है। उनका रचनाकार उन्मुक्त पक्षी की भाँति सुदूर गगन में विचरण करके भी आँगन की डाल पर, माटी की सोंधी महक को महसूस करता हुआ बैठा दिखाई देता है। अपने देय से वे सदैव स्मरण किए जाएँगे।

जन्मशती वर्ष में उन्ही के शब्दों में हम उनका पुण्यस्मरण कर विश्राम लेते हैं—

'हम लिखें वह जो प्रतिभा की नवीनता और विवेचन की ज्ञानगर्भित शैली के कारण अनन्त वर्षों तक जीने की अपने में सामर्थ्य रखे, किन्तु दिमागी ऐयाश से लगाकर खेतों और खलिहानों में काम करने वाले का जीवन साथी जो साहित्य कहला सके। हम लिखें वह जो कोटि-कोटि नरमुंडों का स्वप्नों का जागरण हो सके और उतरते हुए आदर्श, चढ़ते हुए पौरुष, उमड़ते हुए उद्योग और समर्पित होती हुई सेवा के पथ में अपना साहित्य बनकर ठहर सके। वह राहगीरों के समय काटने का कुल्हाड़ा मात्र न हो किन्तु समय का पथप्रदर्शक राहगीर बन सके।''[१३]

संदर्भ

१. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग ६, पृ० ४१, प्र० सं० १९८३
२. अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३१वें अधिवेशन (हरिद्वार) में दिया गया अभिभाषण, स्वागत समिति हरिद्वार द्वारा १९४३, १७ मई को प्रकाशित, पृ० ४५
३. वही, पृ० ४२
४. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग ६, अमरराष्ट्र शीर्षक कविता, पृ० १९८
५. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग ६, 'मेरा घर' शीर्षक कविता, पृ० १६८
६. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग ६, 'कैदी और कोकिला' शीर्षक कविता, पृ० १३९ जबलपुर सेंट्रल जेल में लिखी गयी कविता
७. माखनलाल चतुर्वेदी रचनावली, भाग ६, 'प्रेम' शीर्षक कविता, पृ० ३३
८. वेणु लो गूंजे धरा, द्वि सं०, पृ० ५८
९. वेणु लो गूँजे धरा, द्वि सं०, पृ० २५
१०. मोहनलाल सोहनी, स्वराज्य, खंडवा, १६ अप्रैल सन् १९३५
११. माखनलाल चतुर्वेदी : यात्रापुरुष, सं० श्रीकांत जोशी, पृ० ५३३
१२. माखनलाल चतुर्वेदी : जीवनी, भाग एक, ऋषि जैमिनी कौशिक 'बरुआ' प्रथम संस्करण, पृ० ३१२
१३ अ० भा० हि० सा० स० (हरिद्वार) में दिया गया अभिभाषण, पृ० ४७-४८



एक नयी शुरुआत

□ **रामदरश मिश्र**

पी-एच० डी०, एम० ए० करने के बाद तो करना ही था। प्राध्यापकी का लक्ष्य तो निश्चित था ही इसलिए जुलाई शुरू होते ही बनारस पहुँचना था किन्तु एम० ए० पास करने के बाद परिवार के प्रति मेरी जिम्मेदारी बढ़ गयी थी। भइया अब नौकरी में नहीं थे इसलिए लगता था कि मुझे अब अर्जन करना चाहिए। 'अर्जन करना चाहिए' इच्छा होना ही तो पर्याप्त नहीं था उसे व्यवहार में उतारना तक संभव कहाँ था? फिर भी पत्नी की पूरी जिम्मेदारी तो मुझे उठानी ही थी। यानी उन्हें अपने साथ ले चलना था। वे मैट्रिक पास हो गयी थीं। इन्टरमीडिएट में उनका दाखिला भी कराना था। किन्तु किस आधार पर ले चलूँ? अभी आर्थिक आधार क्या है? यही सब सोचता हुआ परेशान था लेकिन यह तो निश्चित कर ही लिया था कि पत्नी को साथ ले जाऊँगा।

बिना किसी व्यवस्था के पत्नी को साथ ले जाना तो संभव नहीं था अतः पहले पी-एच० डी० में दाखिला लेने के लिए अकेला ही बनारस पहुँचा। पी-एच० डी० का फार्म भरा। गुरुवर द्विवेदी जी के निर्देशन में ही मुझे काम करना था। उन्होंने विषय दिया—'हिन्दी साहित्य की दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की सामग्रियों का पुनः परीक्षण।' भारी भरकम विषय था किन्तु विश्वास था कि गुरुदेव की कृपा से विषय निभ ही जाएगा। उनसे घरेलू बात भी की। उन्होंने आश्वस्त किया कि स्कालरशिप तो मिल ही जाएगी। इस आश्वस्ति से मैंने निश्चित कर लिया कि दो-चार दिन में गोरखपुर जाकर पत्नी को लाऊँगा। समस्या मकान की थी। अतः मैंने मकान की तलाश की। मुझे याद नहीं किस स्रोत से पता लगाकर मैं भक्ति भवन सिगरा पहुँच गया। एक बड़ा-सा मकान था, उसका बहुत बड़ा अहाता था। मुख्य मकान से सटे हुए बैरकनुमा सात-आठ कमरे बने हुए थे। वे किराये पर उठाये जाते थे। कमरों के पीछे नीबुओं का विशाल बगीचा था। अहाते में कुछ पेड़ थे और आगे एक बड़ा-सा पोखरा था। यानी कुल मिलाकर यह एक निचाट स्थान था। और तो और मुख्य सड़क से इस मकान तक आने की जो फलांग-भर लम्बी सड़क थी उसके अगल-बगल कोई मकान नहीं था। मकान के मुख्य भाग में उसके बूढ़े मालिक और मालकिन थे और उसके नीचे के भाग में एक परिवार किराये पर रहता था बाद में मालूम पड़ा कि वे मित्तल साहब थे।

मकान लेने गया तो मकान मालिक के साथ मित्तल साहब भी मिले और मित्तल साहब ज्यादा मुखर थे। बल्कि मकान मालिक की ओर से किराये आदि की बातचीत भी उन्होंने ही की। बहरहाल उस बैरक में दो कमरे बीस रुपये में तय हुए। मन में भय तो था कि इस सुनसान

निचाट जगह में कैसे रहा जा सकता है किन्तु बीस रुपये में दो कमरे और कहाँ मिलेंगे और जिसे सुनसान और निचाट समझ रहा हूँ वह खुलापन भी तो है। सघन बसे हुए बनारस शहर में इतना खुला अहाता ये पेड़-पौधे, यह खुली हवा कहाँ नसीब है? इस तर्क ने मकान पाने के उत्साह को दुगुना कर दिया। गोरखपुर जाकर पत्नी को ले आया।

सुबह-सुबह पत्नी को लेकर सरोसामान के साथ भक्ति भवन पहुँचा तो मकान मालिक चाचा जी अहाते में टहल रहे थे। उन्होंने हमें देखकर पूछा—"कौन हैं आप लोग, कैसे आये है?"

"हम आपके किरायेदार हैं। यहाँ रहने आये हैं?"

"यहाँ कोई कमरा-वोमरा खाली नहीं है।"

"अरे अभी तो चार दिन पहले आपसे बात करके गया हूँ दस रुपये एडवांस भी दे चुका हूँ।" मैं रुआंसा-सा हो आया कि सामान लेकर कहाँ जाऊँगा। तब तक मित्तल साहब निकल आए और बोले— "आइए आइए स्वागत है।"

"लेकिन ये तो कह रहे हैं कि यहाँ कोई जगह ही नहीं है।"

"अरे आप आइए" और उन्होंने मकान मालिक की ओर मुड़कर कहा—"आप भूल जाते हैं चाचा जी! अरे अभी चार दिन पहले ही तो ये बेचारे आये थे और कमरा ठीक करके गये थे।"

"अच्छा-अच्छा ठीक है जाइए साहब कमरे में सामान रखिए।"

कुंजी मित्तल साहब के ही पास थी। उन्होंने साथ जाकर कमरा खोला और मेरे साथ जो परेशानी हुई थी उसे कम करने के लिए कहा—"माफ कीजिए, चाचा जी जरा भूल जाते हैं। इसका बुरा मत मानिए।" मेरी तो जान में जान आयी थी इसलिए परेशानी के बावजूद राहत अनुभव कर रहा था।

"कोई ज़रूरत हो तो मुझसे निस्संकोच कहिएगा। मेरा परिवार नीचे वाले हिस्से में रहता है।"

"जी-जी बहुत-बहुत धन्यवाद। अब तो आप ही लोग हमारे सुख-दुःख के साथी हैं।"

"श्योर श्योर।" और वे चले गये।

बैरकनुमा कमरे जहाँ से शुरू होते थे वहाँ के पहले और दूसरे कमरे मुझे मिले थे। एक कमरा तो मुख्य मकान के अन्तर्गत ही था, दूसरा उससे बाहर होकर था। पीछे एक आंगन था। आंगन में ही रसोई घर था और आंगन के पीछे नीबुओं का जंगली बागीचा था जहाँ दिन को भी अंधकार घिरा रहता था। आँगन से नीबुओं के बागीचे की ओर निकलने के लिए एक खिड़की थी और वहीं बाहर शौचालय बना हुआ था। मैं इस कल्पना से ही डर गया कि रात-बिरात कैसे कोई इस शौचालय में आएगा। रात को तो इस आँगन में ही निकलना कठिन है, शौचालय की तो बात दूर रही।

मुख्य मकान में ऊपर बूढ़े मकान मालिक और मालकिन रहते थे। नीचे मित्तल साहब और एक कमरे में गोपाल जी नाम के एक व्यक्ति थे जो मकान मालिक के भानजे लगते थे। बाद में पता चला कि लखनऊ विश्वविद्यालय के डॉ० दीनदयाल गुप्त मकान मालिक के दामाद हैं और गोपाल जी उन्हीं के भतीजे। मकान मालिक चाचा और मालकिन चाची के नाम से जाने जाते थे। गोपाल जी की बगल वाले कमरे में मैं था। उसके बाद पाँच-छह कमरे खाली पड़े थे।

जहाँ कमरे खत्म होते थे वहाँ मकान की चहारदीवारी थी, उसके बाद चाचा जी के ही एक भतीजे प्रकाश जी अपने परिवार के साथ रहते थे। वे लोग चाचा जी के विपरीत काफी तंगी की हालत में थे। धीरे-धीरे पता चला कि चाचा जी बी० एच० यू० से रिटायर्ड इंजीनियर हैं। मित्तल साहब एल० आई० सी० में ऑफीसर हैं और गोपाल जी भी कहीं काम करते हैं।

मकान के निचले हिस्से में आगे की ओर एक बहुत गहरा कुआँ था। पानी का स्रोत वही था। वहीं से सभी लोग पानी भरते थे और नीचले भाग के चारों ओर तहखाने बने हुए थे। बाद में हम लोगों ने गर्मी की दोपहरी में इस तहखाने का खुद उपयोग किया। बहुत ठंडी जगह थी। यहाँ अहाता बहुत बड़ा था, उसका रख रखाव हो नहीं पाता था। चारों ओर घास-पात का फैलाव था, बीच-बीच में पत्थर के बेंच बने थे। दिन को ही लोमड़ी, नेवले, विषखोपड़े आदि अहाते में घूमते रहते। इस मकान की पहली रात थी। शाम होते ही चारों ओर सन्नाटा छा गया। पत्नी ने शाम को ही खाना बना लिया और खाना खाकर रात गहराने से पहले ही हम किचन से अरतन-बरतन उठाकर कमरे में आ गए। आँगन की ओर से कमरा बन्द कर लिया। नीबुओं के बगीचे से सियार बोलने लगे, आगे की ओर सुनसान पोखरे में से उनका जवाब आने लगा। रह-रहकर कुत्ते पुँआने लगे। चारों ओर सन्नाटा झाँय-झाँय करने लगा। हम दोनों बन्द कमरे में सहमे पड़े थे। लगता था अब कोई दरवाजे पर थाप देगा या पीछे से दरवाजा तोड़ने की कोशिश करेगा। रह-रहकर लगता था कि जंगले से कोई झाँक रहा है। उठकर जंगला भी बन्द कर दिया। अपने पास पंखा तो था नहीं, बल्कि यों कहिए तब तक पंखे के सुख का अभ्यस्त नहीं हुआ था। अगस्त के महीने में बन्द कमरे में पड़े होने की नियति झेल रहे थे। रह-रहकर पहरेदारों की आवाजें लूक की तरफ उठती थीं और दूर तक अपनी रेखाएँ खींचती हुई चुप हो जाती थीं। हम दोनों एक अजीब दहशत में फँसे थे। ऐसे खौफनाक सन्नाटे में हमारा दाम्पत्य जीवन शुरू होगा, यह हमने कहाँ सोचा था। दम्पती तो हम चार साल पहले बन चुके थे लेकिन हमारा वास्तविक और अलग दाम्पत्य जीवन तो अब शुरू हो रहा था। इसे इस तिलस्मी घर में ही शुरू होना था।

किसी तरह रात टूटी तो सुबह-सुबह मित्तल साहब आये और कहा—"नहा-बहा लीजिए, हर प्रातः चाचा जी और चाची जी सामूहिक भजन करते हैं। यानी इस मकान में जो भी होते हैं उसमें शामिल होते हैं, सुनकर बहुत खराब लगा। इस प्रकार के चुगदपन में मेरा विश्वास अब तो है ही नहीं, तब भी नहीं था लेकिन नये-नये किरायेदार को शामिल तो होना ही था! यह तो मुझे ज्ञात हो गया था कि चाचा जी सनकी आदमी हैं न जाने क्या सनक कर बैठें। शामिल हुआ। रोते हुए मन से उनके भजन में स्वर मिलाया। मित्तल साहब मेरी परेशानी को भांप गए थे। भजन समाप्त होने पर जब हम अलग हुए तो वे मेरे पास आये और हँस कर बोले—"बुरा लगा न। आप भी सोचते होंगे कि नये-नये दाम्पत्य जीवन की रंगीनी में यह भजन-वजन कहाँ से घुस आया। लेकिन चिन्ता न कीजिए यह चलेगा नहीं। चाचा जी को झक सवार होती है, दस पाँच दिन रहती है, फिर उतर जाती है।" वे हँसकर चले गए।

मुझे लगा कि मित्तल साहब बहुत चालाक और व्यावहारिक व्यक्ति हैं। वे चाचा जी को खूब समझते हैं, उन्हें संभालते हैं, उनके कहे पर चलते भी हैं और उन्हें चलाते भी हैं। पता चला कि वे केवल मैट्रिक पास हैं और फिर भी अपनी योग्यता के बल पर एल० आई० सी० के

अच्छे ऑफीसर पद पर विराजमान हैं।

धीरे-धीरे दिन बीतने लगे और मैं इस परिवेश का अभ्यस्त होने लगा। मित्रों का आना जाना शुरू हुआ। इस मकान को देखकर कई लोगों ने रिमार्क कसे कि लगता है देवकीनन्दन खत्री ने इसी मकान में अपने तिलस्मी उपन्यास लिखे थे। धीरे-धीरे यहाँ के आस-पास के लोगों से पहचान होने लगी या उनकी शकलें पहचानने लगा। मकान मालिक चाचा जी और चाची जी के व्यक्तित्व की परतें खुलने लगीं। दोनों ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे और दोनों ही असामान्य थे। हाँ उनकी असामान्यता के रंग अलग-अलग थे। चाचा जी झक्की स्वभाव के थे और चाची जी ठंडे स्वभाव की महिला थीं। चाचा जी समझ में आते थे किन्तु चाची जी अबूझ थीं। कभी वे बहुत मृदु व्यवहार करतीं, उदारता दिखातीं और ब्राह्मण के प्रति उनका वणिक मन श्रद्धालु हो उठता, कभी अत्यंत क्रुद्ध और कृपण हो जातीं। पति-पत्नी दोनों ही बहुत सफाई पसंद थे। धार्मिक व्यक्तियों की सफाई में एक मानसिक संकुचन होता है। वे इस सफाई के नाते अपने को महत्त्वपूर्ण और दूसरों को अस्पृश्य समझने लगते हैं और उनकी सफाई जितनी बाहरी होती है उतनी भीतरी नहीं। भीतरी सफाई से मेरा तात्पर्य है दूसरों के वास्ते मन का खुलापन —मैले कुचैले गरीब लोगों को अपने में समेटने की पीड़ा। ऐसे सफाई-पसंद धार्मिक ईश्वर को पूजा-पाठ-स्थल, कपड़े-लत्ते, पूजा-पात्र आदि की सफाई में ही देखते हैं मैले कुचैले गरीब लोगों की वेदना भरी आँखों में, उनकी सेवा में उनकी भोली-भाली इंसानियत में नहीं देखते।

चाचा-चाची की छाया में हम सहज नहीं बन पाये और जितना बच सकते थे बचते ही रहे। कभी-कभी वे कई-कई महीनों के लिए बाहर चले जाते तब हम बहुत सहजता अनुभव करते। ऐसा कई बार हुआ लेकिन यह कोई अकेला केस तो नहीं ? यह तो एक शाश्वत सत्य बन चुका है कि मकान-मालिक और किरायेदार के सम्बन्ध सहज नहीं बन पाते। बहुत सहज दीखने वाले व्यक्तियों का किरायेदार बन कर देख चुका हूँ (और तब तक देखता रहा हूँ जब तक अपना मकान नहीं बन गया) कि सब कुछ ठीक होने के बावजूद संबंधों में कुछ न कुछ असहजता आ ही जाती है। दोष किसी ओर भी हो सकते हैं किन्तु उन दोषों को पचाने की जितनी ताकत मकान मालिक में होती है बेचारे किरायेदार में कहाँ हो सकती है ? वह चाहे पद तथा मर्यादा में मकान मालिक से कितना भी बड़ा हो लेकिन आखिर मकान मालिक मकान का मालिक है, उसे बद-तमीजी करने का सहज अधिकार प्राप्त हो जाता है, कुछ न कुछ टुन्न-फुन्न करता ही रहता है। इसलिए असहज से दीखने वाले चाचा-चाची के व्यवहार में हम कुछ असहजता अनुभव करते रहे तो कौन सी अनोखी बात हो गयी। अनोखी बात तो नहीं हुई किन्तु हम पहली बार किरायेदार बने थे और इस असहजता का अनुभव पहली बार कर रहे थे। इसलिए यह अनुभव कुछ अधिक ही लग रहा था। बाद में तो अभ्यस्त हो गये और जान गये कि किरायेदार होना इसी अनुभव का नाम है—कहीं कम गहरा, कहीं ज्यादा गहरा।

पत्नी का नाम लिखा दिया था वसंता कॉलेज में—आई० ए० में। वे सुबह स्कूल चली जाती थीं मैं घर पर होता था। जब दोपहर बाद वे आती थीं तो मैं नागरी प्रचारिणी सभा चला जाता था—शोध के सिलसिले में। मेरे पास साइकिल थी उसी से दिग्विजय करता कहीं भी आ जा सकता था। शाम को जल्दी लौटने की कोशिश करता क्योंकि बताया था न कि सड़क से भक्ति भवन तक की फर्लांग भर की दूरी, निपट सुनसान थी। एक ओर किसी पुराने शाही भवन की ऊँची लम्बी चहारदीवारी थी और एक ओर जंगलनुमा बागीचा। वह

एक फर्लांग की दूरी न जाने कितने कोस की दूरी लगती थी। इस दूरी में कहीं कोई किसी को पकड़कर कुछ भी कर सकता था। इस रास्ते रात को मुझ जैसे इक्के-दुक्के लोग ही आते-जाते थे। वैसे मेरे पास साइकिल के सिवा था क्या लेकिन उस ज़माने में साइकिल का कोई कम महत्त्व तो नहीं था। आखिर साइकिल की चोरियाँ होती ही थीं (अब भी होती हैं) और मेरे लिए तो वह सर्वस्व थी। यदि कोई छीन लेता तो मेरे लिए साइकिल खरीदना असंभव हो जाता। केवल स्कालरशिप का वायदा। पता नहीं कब मिलेगा? अभी तो पी-एच० डी० का बाकायदे रजिस्ट्रेशन भी नहीं हुआ। घर से कुछ लाया था उसी से काम चल रहा था। साइकिल छिन जाने का मतलब था मेरी गति का कुन्द हो जाना। न बी० एच० यू० जा सकता था न नागरी प्रचारिणी सभा। इसलिए इस दूरी से बहुत डरता था। मेरी शामें बाहर डराने लगती थीं। ज्यों-ज्यों शाम गहराती थी, यह दूरी मेरे भीतर अपने डराने स्वर में बजने लगती और मैं चाहे किसी कवि-सम्मेलन या गोष्ठी में होऊँ, चाहे किसी मित्र के यहाँ, किसी उत्सव में, या नागरी प्रचारिणी सभा में या सिनेमा हॉल में या गंगा तट पर या गोदौलिया चौक की हसीन चहल-पहल में, कमबख्त यह दूरी मेरे भीतर उभर आती थी और मैं अप्रकृतिस्थ हो उठता था। मैं जहाँ होता उसका आनंद नहीं ले पाता था। मैं जैसे ही सड़क से इस सुनसान गली या सड़क पर आता एक बार दूर तक कुछ अकनने की कोशिश करता और फिर बड़ी तेजी से साइकिल चलाता और भक्ति भवन के महाद्वार पर आकर साँस लेता। दिक्कत यह थी कि भक्ति भवन के महाद्वार पर लोहे के ग्रीलनुमा फाटक थे। साइकिल से उतरकर उसे खोलना पड़ता था। यह महाद्वार सुनसान सड़क की ओर ही खुलता था। अतः मैं सोचता था कि मेरे इतना तेज़ चलाकर आने से क्या फायदा जब कि यहाँ आकर मुझे रुकना ही पड़ता है। मुझे कोई यहाँ भी पकड़ ले तो कौन देखता है। फिर भी अपने घर के पास आ जाने की एक आश्वस्ति तो मन में होती ही थी। जिस दिन इधर आने वाला कोई साथी मिल जाता उस दिन मेरे भीतर कोई पर्व-सा मन जाता।

सोचता रहा कि अब रजिस्ट्रेशन हो जाएगा और स्कालरशिप शुरू हो जाएगी। ज्यों-ज्यों पास की पूँजी ख़त्म हो रही थी डर भीतर भरता जा रहा था। तभी एक दिन द्विवेदी जी ने कहा—"देखो भाई, तुम मेरे निर्देशन में काम नहीं कर सकते।" मैं सुनते ही रुआंसा हो गया। 'क्यों पंडित जी?' मैंने दीन भाव से कहा। मैं उनकी ओर देखने लगा। वे कुछ द्विधा में दिखे। लगता था वे कहना नहीं चाहते थे किन्तु कहे बिना अपने शिष्य को आश्वत भी कैसे कर सकते थे।

"बात यह है कि मेरे पास जगह नहीं है।"

"पंडित जी, यह एकाएक कैसे हो गया?"

"अब इसमें क्या रस है कि कैसे हो गया? इसे छोड़ो और कोई विकल्प सोचो।"

मैं बेहद उदास हो गया। पंडित जी चुप रहे। लेकिन उनकी चुप्पी उन्हें स्वयं सालती सी लगी। शायद सोच रहे होंगे कि मैं उनकी बात को टालने वाली बात मान रहा हूँ। किन्तु भला मैं ऐसा क्यों सोचता और 'मैं ऐसा सोचूंगा' ऐसा वे भला क्यों सोचते। गुरु-शिष्य के बीच विश्वास न हो तो फिर क्या बचेगा? "बात यह है कि लोगों ने वी० सी० से शिकायत की है कि सारे छात्र मेरे ही पास आ रहे हैं अतः संख्या निर्धारित होनी चाहिए। तय हुआ है कि मेरे पास आठ से अधिक छात्र शोध नहीं कर सकते। आठ तो पहले ही हो चुके हैं। अब तुम्हारे लिए

क्या करूँ ?"

"एकाध साल रुक जाता हूँ।"

"नहीं यह समझदारी नहीं है। पता नहीं मेरे पास कब जगह हो—साल लग सकता है, दो साल लग सकते हैं, तीन भी लग सकते हैं। पी-एच० डी० कोई एम० ए० थोड़े कि साल के अन्त में परीक्षा देनी ही होगी। करना हो तो दो साल में कर लिया, नहीं तो बरसों इसकी डाल पकड़ कर लटके हुए हैं।"

मैं कुछ पूछ नहीं पा रहा था। वे फिर बोले—"और प्रश्न तुम्हारे स्कालरशिप का भी तो है। यदि विषय रजिस्टर्ड नहीं होगा तो कैसे मिलेगी या कहीं नियुक्ति का जुगाड़ बनता है तो कैसे क्या होगा ?"

मैं पंडित जी के यहाँ से लौटा तो मन बहुत भारी था, कुछ निर्णय नहीं कर सका था लेकिन निर्णय तो करना ही था। पंडित जी ने बताया था कि शर्मा जी (डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा) और मिश्र जी (पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र) दोनों ही गाइड हैं और उनके पास जगह है। किसी के पास चले जाओ। मुझे सभी गुरुओं का स्नेह प्राप्त रहा है और सबके लिए मन में आदर का भाव रहा है इसलिए किसी के निर्देशन में काम करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं थी किन्तु पंडित जी की सर्जनात्मक दृष्टि अन्यत्र कहाँ मिलती ? उस सर्जनात्मक दृष्टि के कारण ही छात्र उनकी ओर आकृष्ट होते थे। पंडित जी जैसे अपनी जड़ शोध-सामग्रियों को गतिशील चिन्तन और मानववादी सर्जनात्मक दृष्टि से स्पंदित कर देते हैं उन्हें जीवंत बना देते हैं वैसे ही कुछ अपना शोध भी बन जाएगा। यह इच्छा उनसे गहरे जुड़े छात्रों के मन में होती थी। मेरे मन में भी थी। किन्तु जब यह संभव नहीं हुआ तो विकल्प तो ढूँढ़ना ही था। मैंने सोचा विश्वनाथ जी पंडित तो हैं किन्तु उनकी दृष्टि में खुलापन नहीं है, उनकी इतिहास-दृष्टि नयी नहीं है। वे विकास की गति को चक्रवात मानते हैं अतः उनका पांडित्य मेरे शोध कार्य को सर्जनात्मकता नहीं दे पाएगा और मेरी छोटी-सी सर्जनात्मक शक्ति उनके अगाध पांडित्य के आगे बहुत दबाव महसूस करेगी। डॉ० शर्मा आधुनिक साहित्य के अध्यापक तथा अलोचक हैं और स्वभाव से भी मस्त हैं। मेरे कार्य में वे बहुत हस्तक्षेप नहीं करेंगे। जहाँ तक संभव होगा, वे मेरी गाड़ी मेरे ढंग से ही चलने देंगे। यही सोचकर उनके पास गया। उन्होंने तुरंत फार्म पर हस्ताक्षर कर दिया और कहा—"देखो भाई तुम्हारा प्रस्तुत विषय मेरे वश का नहीं है। तुम यदि अपने बल पर यह काम कर सकते हो तो करो, मुझे आपत्ति नहीं होगी किन्तु यदि मेरी सहायता चाहते हो तो कोई आधुनिक विषय लो।"

डॉक्टर साहब की स्पष्टवादिता से मैंने बहुत राहत महसूस की। वास्तव में प्रस्तुत विषय भारी था ही और मेरी अपनी रुचि भी आधुनिक साहित्य में ही रही है। यह विषय केवल पंडित जी के भरोसे लेकर चल रहा था उसमें मेरी रुचि बन नहीं पा रही थी। शर्मा जी के स्पष्ट कथन से मुझे इस विषय से भागने का अवसर मिल गया और आलोचना को शोध का विषय बनाया। शीर्षक रखा गया—'हिन्दी आलोचना की प्रवृत्तियाँ और उनकी आधार भूमि।' यह शोध-प्रबन्ध पूरा होने पर 'हिन्दी आलोचना का इतिहास' नाम से छपा तथा उसका संशोधित स्वरूप हिन्दी समीक्षा स्वरूप और सन्दर्भ नाम से प्रकाशित हुआ।

नया शोध कार्य शुरू हो गया। इसमें मेरी बुद्धि स्वयं धँस रही थी। विषय पकड़ में आ रहा था। कुछ सवालों से स्वयं जूझता था और कुछ के लिए शर्मा जी के पास पहुँचता था। कार्य

में रस आने लगा था। किन्तु जीविका की समस्या बनी हुई थी। अभी तक कुछ हुआ नहीं। एक दिन पंडित जी (द्विवेदी जी) ने बताया कि उन्होंने कमच्छा स्थित सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज (इंटर सेक्शन) में हिन्दी की एक अस्थायी लेक्चररशिप के लिए मेरा नाम भेज दिया है। वास्तव में अगस्त में ही उस पोस्ट का इन्टरव्यू हुआ था। उसमें मैं भी उम्मीदवार था ठाकुर प्रसाद सिंह भी थे। किन्तु डॉ० सुधीन्द्र उम्मीदवार के रूप में आये थे और चुन लिये गये थे। वे आये नहीं और वह पोस्ट खाली की खाली रह गयी। इसलिए अप्रैल तक काम चलाने के लिए उस पर मेरी अस्थायी नियुक्ति कर दी गई। मुझे बहुत राहत मिली। तात्कालिक राहत के साथ-साथ भविष्य की एक आशा भी बनी कि शायद मैं स्थायी रूप से ले लिया जाऊँ।

कमच्छा में डॉ० राजपति दीक्षित अध्यक्ष थे और श्री बच्चन सिंह तथा श्री रामनरेश वर्मा उनके सहयोगी थे। नियुक्ति तो मेरी हो गयी किन्तु कक्षा के भय से प्राण काँप रहे थे। ज्वाइन करने से पूर्व रात डर के मारे नींद नहीं आयी। यही सोचता रहा कि कैसे पढ़ाऊँगा? कक्षा का सामना कैसे करूँगा? छात्रों को कैसे नियंत्रित करूँगा? अजीब मानसिक तनाव का समय था। भूख-प्यास, नींद सभी गायब। सबेरे ज्वाइन करने के लिए कॉलेज पहुँचा तो पता चला कि परीक्षाएँ चल रही हैं। बड़ी राहत महसूस हुई। कुछ दिन तो चैन से गुजरेंगे। मुझे भी ड्यूटी दे दी गई और एक हाल में जाकर खड़ा हो गया। उसमें तीन प्राध्यापक और ड्यूटी दे रहे थे। उन्होंने बहुत स्नेह और आत्मीयता से मेरा स्वागत किया। मैं देख रहा था कि लोग घूम-घूम कर निगरानी कर रहे थे, संदेह होने पर किसी छात्र के पास ठहर कर 'वाच' करते थे। उसकी उत्तर पुस्तिका उलटते-पलटते थे। कभी किसी को डाँट देते थे किसी को आगाह करते थे और मैं सहज संकोच लिए जहाँ का तहाँ खड़ा था या कुर्सी पर बैठ जाता था। मुझ से छात्रों के बीच टहलते भी नहीं बनता था। मुझे लगता था कि मैं तो स्वयं इनके बीच का हूँ।

आखिर इम्तहान के दिन खत्म हुए और क्लास लेने का दिन आ गया। क्लास लेने जा रहा था तो बाहर खड़े लड़कों में से एक ने कहा—"यह नया लेक्चरर है।"

"अरे यह तो खुद ही लड़का लग रहा है, क्या क्लास पढ़ायेगा?"

इस रिमार्क से मेरी धुकधुकी और बढ़ गयी और भीतर से उत्तेजित हो गया और क्लास में जाकर पूरे जोश-खरोश से बोला। उस क्लास में द्विवेदी जी के सुपुत्र बबुआ (जगदीश प्रसाद) भी बैठे थे और बहुत उत्सुकता से मुझे देख रहे थे। उन्हें देखकर मैं पहले तो नर्वस हुआ (नर्वस इसलिए कि मेरी रिर्पोट पंडित जी के पास पहुँचेगी) किन्तु बाद में मैं और ताव में आ गया और अपनी पूरी ताकत लगाकर पढ़ाने लगा। पहले दिन की सारी कक्षाएँ सकुशल सम्पन्न हुईं और मैंने बहुत राहत अनुभव की। बाद में बबुआ ने बताया कि पंडित जी पूछ रहे थे कि कैसा पढ़ाया? मैंने कहा—"भइया ने जमा दिया था।" मुझे यह जानकर राहत मिली कि पंडित जी के पास मेरी रिर्पोट ठीक-ठाक पहुँच गयी है।

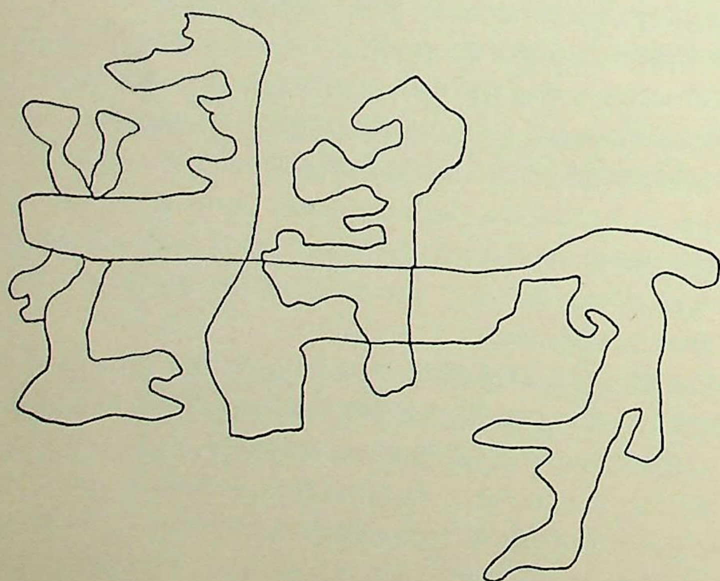
बारी-बारी से आर्ट्स, कॉमर्स और विज्ञान के सेक्शन पढ़ा लिए तथा क्लास में अपने को तथा छात्रों को आजमा लिया। धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। कक्षाओं में जैसा होता है होता रहा यानी तीते-मीठे दोनों प्रकार के अनुभवों से गुजरता रहा। वाणिज्य और विज्ञान के छात्रों के लिए हिन्दी लगाव का विषय नहीं होती, उसे उन्हें किसी तरह परीक्षा पास करने तक अनिवार्य भाव से ढोना पड़ता है किन्तु कक्षा में कुछ छात्र ऐसे होते हैं जो साहित्यकार या साहित्य प्रेमी बनने का संस्कार लिये होते हैं और वे हिन्दी के प्रति एक गहरा लगाव रखते हैं। यह लगाव

परीक्षार्थी के लगाव से कुछ ज्यादा होता है। इसीलिए कई विद्यार्थी मेरे बहुत निकट आने लगे। सबको मालूम था कि मैं कवि हूँ। मेरी कविताएँ बहुत मशहूर हो चुकी थीं, यानी हिन्दी-प्रेमी छात्रों में मेरा अच्छा इमेज थी। वे छात्र कक्षा में भी कुछ साहित्यक चर्चा छेड़ देते थे, कभी मुझ से कोई कविता सुनाने का आग्रह करते थे और कक्षा के बाहर भी मिलते थे, घर भी आने लगे थे। इन छात्रों के नाते कक्षा में एक आत्मीय वातारण बनने लगा था। इनमें से कुछ छात्र कुछ लिखते भी थे। वे मुझे अपना लेखन दिखाते थे तथा सलाह माँगते थे। आज के हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित कवि विजेन्द्र तथा कथाकार काशीनाथ सिंह उसी बैच के छात्र थे।

अपने विभाग तथा दूसरे विभाग के वरिष्ठ प्राध्यापकों का भी भरपूर स्नेह मिला। अर्थशास्त्र या वाणिज्य के प्रवक्ता (नाम नहीं याद आ रहा है) वार्षिक समारोह के इंचार्ज थे। उन्होंने एक नाटक के लिए मुझसे एक गीत लिखवाया और रिहर्सल के समय मुझे आमंत्रित करते रहे। अपने किसी गीत को स्टेज पर पहली बार देख रहा था। जब बी० ए० में था, तो अखबार में पढ़ा था कि कलकत्ते की किसी सांस्कृतिक संस्था ने वर्षा मंगल मनाया था और उस अवसर पर हिन्दी के कुछ विशिष्ट कवियों की कविताओं के साथ मेरी भी एक कविता 'मैं अषाढ़ का पहला बादल मेरी राह न बाँधो' अभिनीत की थी किन्तु देखने का यह पहला अवसर था। बहुत अच्छा लगा था और उस गीत के माध्यम से साथियों और छात्रों का लगाव और भी बढ़ा था।

देखते-देखते अप्रैल भी आ गया और मेरी अस्थायी नियुक्ति का समय पूरा हो गया। फिर चिंता सवार हुई किन्तु एक तो पत्नी ने कुछ पैसे बचा लिये थे दूसरे भरोसा हो गया था कि जुलाई में जब यह जगह भरी जायेगी तो शायद मुझे मिल जायेगी। छ: महीने का अनुभव हो गया है प्रिंसिपल मलानी की भी अनुकूलता प्राप्त है, साथियों का स्नेह है।

[जीवन के सफरनामे 'टूटते बनते दिन' का एक अंश।]



उपन्यास की अवधारणा

□ शुभा मटियानी

प्राणी से मनुष्य बनने के क्रम में भाषा और श्रम का ही महत्व है। प्रतीक स्रष्टा प्राणी ही मनुष्य है। प्रतीकन की यही प्रक्रिया इन्द्रियबोध, विचारबोध और भावबोध को विभिन्न रूपों में रूपायित और परिष्कृत करती हुई, स्वतः समृद्ध होती अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को जन्म देती है। कर्म और वाणी दोनों ही इन्हें अवधारित, प्रतीकित और अभिव्यक्त करते हैं। विधायें उसी प्रक्रिया की सामाजिक निष्पत्तियाँ हैं।

सामाजिक प्राणी होने से अपने अनुभव, भावसंवेदनों अथवा विचारों को दूसरों तक अधिकतम आकर्षक, हृदयस्पर्शी तथा सुन्दर ढँग से सम्प्रेषित करने की हर व्यक्ति में एक स्वाभाविक इच्छा होती है। सारी ललित कलाओं के आविष्कार की कहानी यही है। उपन्यास अनुभव, भावसंवेदन तथा विचार को अधिकतम आकर्षक तथा प्रभावी ढँग से कह सकने की उस कथा-परम्परा का ही एक सर्वाधिक विकसित रूप है, जिसका प्रारम्भ हमें दंतकथाओं से लेकर लोक कथाओं तक में मिलता है। कथा को पद्य की जगह गद्य में कहने के इस सिलसिले का जो विकसित रूप हमें आधुनिक कहानी (Short story) में मिलता है, उपन्यास इसी कथा-विद्या का एक व्यापक रूप है। गद्य और पद्य एक प्रकार के रूप हैं, जो विशेष प्रकार के सारतत्त्वों को आकार-प्रकार देते हैं। वृत्तान्तों और इतिवृत्तों के साथ सामाजिक जीवन से प्रयोग के स्तर पर सीधे सम्बद्ध होने से गद्य ने उपन्यास को सामाजिक जिन्दगी से जोड़ने का भी कार्य किया।

उपन्यास में कहानी के सारे आधारभूत तत्त्वों के साथ-साथ, उसका एक ऐसा सुविस्तृत ढाँचा भी मिल जाता है, जिसमें लेखक को मानव-जीवन के विस्तार को समोने का पूरा-पूरा अवसर सुलभ रहता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि महाकाव्यों के बाद, आदमी की जीवन गाथा को उसके व्यापक फलक में प्रस्तुत कर सकने का अवसर लेखक को पहली बार महाकाव्यों के तत्वों के उपन्यास विधा में अंतर्ग्रंथन के बाद ही मिल पाया है। जिस प्रकार महाकाव्य में खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, स्फुट काव्य इत्यादि काव्य के अनेकानेक प्रकारों के सारे सारभूत तत्व और रूप समाहित हैं, उसी प्रकार गद्य के सभी प्रकारों के तत्व उपन्यास में मिल जाते हैं।

शायद, यही कारण है कि कई लोगों द्वारा उपन्यास को गद्य का महाकाव्य तक कहा गया है। उपन्यास वाचिक परम्परा का महाकाव्य है। 'महाकाव्य' विधा सुनाने, लिपिबद्ध होने, पढ़ने और छपने के क्रम में लोगों की चेतना के विकास के साथ बदलती रही और औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ यह उपन्यास के रूप में बदल गयी। अवकाश के क्षणों में पुस्तक का

बढ़ता महत्व पत्रकारिता के रुझान से भी प्रभावित हुआ। अक्षरक्रांति और प्रकाशन क्रांतियाँ 'उपन्यास' के आकार-प्रकार ही नहीं, उसकी आत्मा को भी बदलने में सहायक हुईं। इन सारे परिवर्तनों का उपन्यास की 'अवधारणा' को निर्मित करने और बदलने पर प्रभाव पड़ता रहा है। रूढ़ि और नवीनता तथा प्रदत्त और प्रकल्पित की इस धारावाहिकता में अवधारणाओं का सामान्य और विशेष रूप बदला है। परिभाषाओं से निर्मित 'अवधारणा' और उपन्यासों के पठन-पाठन से निर्मित 'अवधारणा' अपने सारतत्व की दृष्टि से भिन्न होती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र में गद्य और पद्य दोनों ही काव्य हैं। 'श्रव्य' और 'दृश्य' दोनों ही काव्य के भेद हैं। श्रव्यता और दृश्यता ही मुख्य आधार है, जो ग्रहणशीलता और पाठक की अभिमुखता के आधार पर किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के इस भेद के बाद कथा और आख्यायिका का भी भेद किया गया है। आख्यानात्मक दृष्टि से उपन्यास के भारतीय स्रोतों की खोज विधा के स्तर पर इन्हीं गद्यरूपों में की जा सकती है। महाकाव्यों के समानांतर चरितकाव्यों का विकास विधा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। इसे आधुनिक दृष्टि से चरितकेन्द्रित कथात्मक विकास कहा जा सकता है। बाणभट्ट और दण्डी के 'हर्षचरित' और 'दशकुमार चरित' को ऐतिहासिक उपन्यासों के पूर्वरूप माना जाना चाहिए। कल्पना प्रधान प्रेम कहानी होने के बावजूद तत्कालीन नैतिक मापदण्डों और संस्कारों को व्यक्त करने की दृष्टि से 'कादम्बरी' का कम महत्व नहीं है।

यहाँ थोड़ा 'उपन्यास' शब्द की अवधारणा और व्याख्याओं का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

उपन्यास के सन्दर्भ में प्रख्यात आलोचक बाबू गुलाबराय की टिप्पणी इस प्रकार है—
"अंग्रेजी शब्द नॉविल (Novel) में कहानी-तत्व भरा हुआ है। मराठी भाषा में अंग्रेजी शब्द के आधार पर 'नवल कथा'—शब्द गढ़ लिया गया है। मराठी में उपन्यास को 'कादम्बरी' भी कहते हैं। यह एक व्यक्तिवाचक नाम को जातिवाचक बनाने का अच्छा उदाहरण है। उपन्यास शब्द प्राचीन नहीं है, कम-से-कम उस अर्थ में, जिसमें उसका आजकल व्यवहार होता है। संस्कृत लक्षण-ग्रंथों में 'उपन्यास' शब्द है। यह नाटक की संधियों का एक उपभेद है, (प्रतिमुख संधि का) इसकी दो प्रकार से व्याख्या की गयी है—उपन्यासः प्रसादनम् (साहित्यदर्पण, ६।९) अर्थात् प्रसन्न करने को उपन्यास कहते हैं, दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—'**उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः संकीर्त्तितः**'। अर्थात् किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना उपन्यास कहलाता है। सम्भव है कि उपन्यासों में प्रसन्नता देने की शक्ति तथा युक्तियुक्त रूप में अर्थ को उपस्थित करने की प्रवृत्ति के कारण इस तरह की कथात्मक रचनाओं का नाम उपन्यास पड़ा हो, किन्तु वास्तव में नाटक-साहित्य के उपन्यास शब्द और आजकल के उपन्यास में नाम का ही साम्य है। उपन्यास का शब्दार्थ है—सामने रखना।"

उपन्यास के सन्दर्भ में गुलाबराय जी के उपरोक्त कथन पर गहराई से विचार करें, तो ये कुछ तथ्य सामने आयेंगे जरूर। अंग्रेजी के 'नॉविल' का अर्थ नवीन (या आदर्श) लगाया जाता है, तो इससे अनुमान लगाना अनुचित नहीं होगा कि इस शब्द के उपन्यास के किसी वस्तुगत रूपविधान की जगह, उसके (या उससे) अपेक्षित गुण की प्रतीति अधिक होती है। ऐसे में 'प्रसन्न करने' या 'किसी अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करने की कला' के रूप में कोई बहुत बड़ा तात्त्विक अन्तर संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में आये 'उपन्यास' या अंग्रेजी के 'नॉविल' शब्द में नहीं

दिखता।

बहुत सम्भव है कि अगर गद्य की विधाओं का विकास हिंदी में भी अंग्रेजी की ही भाँति हुआ होता, तो उपन्यास शब्द इस विधा के लिए यहाँ भी पहले ही अस्तित्व में आ गया होता। आखिर अंग्रेजी के 'नॉवेल' का हिंदी अनुवाद 'उपन्यास' भी तो यही सिद्ध करता है कि हमारे यहाँ उपन्यास शब्द की जो अवधारणा रही है, वह अंग्रेजी के नॉवेल के समरूप ही है। जहाँ तक उपन्यास के लिए 'नवलकथा' शब्द के प्रयोग का सवाल है, इसका ज्यादा प्रचलन मराठी नहीं, गुजराती भाषा के साहित्य में मिलता है, जिसका अर्थ 'नयी-कथा' होता है। स्पष्ट है कि कथा का नया प्रकार मानकर ही इसे 'नवल-कथा' नाम दिया गया।

इस दृष्टि से देखें, तो मराठी में उपन्यास के लिए 'कादम्बरी' शब्द की प्रयुक्ति का कारण बाणभट्ट की काव्य कथा कृति 'कादम्बरी' की प्रेरणा भी हो सकती है, जिसके कथा-विन्यास का स्वरूप लगभग उपन्यास के ढाँचे और शिल्प से मेल खाता है। 'उपन्यास' शब्द का अर्थ अगर कदाचित् 'सामने रखना' भी लगाया जाय, तो कहा जा सकता है कि कोई उपन्यास-कार आखिर इसके माध्यम से मानव-जीवन के अनुभवों को सामने रखना ही तो चाहता है।

'**हिन्दी साहित्य कोश**' में उपन्यास के बहुविध, विशद तथा व्यापक स्वरूप को देखते हुए जहाँ एक ओर यह कहा गया है कि 'उपन्यास की परिभाषा देना सम्भव नहीं है।'[1] वहीं इस शब्द की व्युत्पत्ति पर विधिवत् विचार करते हुए, इसके स्वरूप तथा गुणपक्ष की विस्तृत चर्चा की गई है। 'उपन्यास' शब्द को लेकर कहा गया है—उपन्यास—यह शब्द उप=समीप तथा न्यास=थाती के योग से बना है, जिसका अर्थ हुआ (मनुष्य के) निकट रखी हुई वस्तु, अर्थात् वह वस्तु या कृति जिसको पढ़कर ऐसा लगे कि यह हमारे जीवन का प्रतिबिम्ब है, इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गयी है। आधुनिक युग में जिस साहित्य-विशेष के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने में यह शब्द सर्वथा समर्थ है।'[2]

उपन्याम विधा के आधुनिकतम रूप के अनेकानेक सारतत्वों की इसमें समाविष्टि का उल्लेख करते हुए, 'उपन्यास' शब्द को लेकर हिंदी साहित्य कोशकारों ने स्पष्ट कहा है—'उपन्यास हमारे लिए कोई नूतन शब्द नहीं है और गुणाढ्य की वृहत् कथा, पंचतंत्र, बौद्ध जातक कथाओं तक मजे में इसके सूत्र को खींच ले जाया जा सकता है।'[3]

'**अमरकोश**' में भी 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्' कहा गया है। यदि उपन्यास को वाङ्मय के एक मुख्य अंग के रूप में लें, तो यह स्वतः ही (काव्य की तरह) व्यापक अर्थ ध्वनित करता भासित होगा। काव्य वाङ्मय का आधार है और 'काव्य' शब्द की परिभाषा करते हुए '**हिंदी**

---

१. 'उपन्यास की परिभाषा देना सम्भव नहीं है, परन्तु व्यापक रीति से कह सकते हैं कि यह गद्य का एक अन्यतम रूप है, जिसका आधार कथा है—चाहे वह सीधे मनुष्यों की हो या मनुष्येतर जीव और निर्जीव प्रकृति अथवा चाहे सच्ची हो या कल्पित।'

२. '**हिंदी साहित्य कोश**' : भाग-१, पृ०-१५५, सं० : **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० धर्मवीर भारती, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी तथा डॉ० रघुवंश।**

३. '**हिंदी साहित्य कोश**', पृ० १५३

साहित्य कोश' में कहा गया है—"काव्य के अन्तर्गत वह सब सर्जनात्मक साहित्य आता है, जो कविता, नाटक, कादम्बरी (उपन्यास), कथा आदि के नाम से प्रचलित है। इस प्रकार वाङ्मय में समस्त लिपिबद्ध मानव-चेष्टा आ जाती है।"[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'उपन्यास' शब्द हमारे वाङ्मय में अपनी पूर्व अवधारणाओं में ही कुछ ऐसे बुनियादी सारतत्वों को समाविष्ट किये हुए था कि इसे अंग्रेजी के 'नॉवेल' के अर्थ में व्यवहार में लाये जाने पर, 'नॉवेल' के अर्थवृत्त की समतोल अभिव्यक्ति में कोई बाधा अनुभव नहीं हुई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की आधुनिक विधा के रूप में अनेक परिभाषायें की गयी हैं, जिनमें यह माना गया है कि उपन्यास शब्द मानव-जीवन के सारे कार्य-कलापों तथा गद्य के लगभग सारे रूपों को अपनी परिधि में ले लेता है। ऐसे में, यह तथ्य कुछ चकित करने वाला ही माना जा सकता है कि उपन्यास शब्द को प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भी व्यापक अर्थ-समूह वाले शब्द के रूप में ही प्रयुक्त किया गया है। लेकिन जहाँ तक उपन्यास विधा के हिंदी में प्रचलन का सवाल है, ढाँचे ही नहीं, बल्कि वस्तुविन्यास तथा किसी सीमा तक प्रकृति में भी इसकी प्रेरणा के स्रोत पाश्चात्य उपन्यासों में ही मिलेंगे।

मूर्द्धन्य समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी उपन्यास-विधा की मानव-जीवन के विस्तार को अपने में समोने की विशिष्टता और सम्भावनाओं को लेकर बहुत आशान्वित थे। उनका मानना था कि उपन्यास के द्वारा समाज की प्रामाणिक तस्वीर प्रस्तुत की जा सकती है तथा समाज में व्याप्त दुष्प्रवृत्तियों, विषमताओं, विसंगतियों और समस्याओं का दिग्दर्शन ही नहीं कराया जा सकता, बल्कि इनके समाधान भी सुझाए जा सकते हैं। अपने ऐतिहासिक महत्व के ग्रंथ '**हिन्दी साहित्य का इतिहास**' में उन्होंने उपन्यास के महत्त्व को निम्नलिखित प्रकार से रेखांकित किया—

'वर्त्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके शिल्प-विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं। समाज के बीच खान-पान के व्यवहार तक में जो भद्दी नकल होने लगी है। गर्मी के दिनों में भी सूट-बूट कस कर टेबुलों पर जो प्रीतिभोज होने लगा है—उसको हँसकर उड़ाने की सामर्थ्य उपन्यासों में ही है। लोक या किसी जनसमाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिन्त्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं, उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।'[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भी पहले मराठी के उपन्यास साहित्य के प्रथम तथा प्रमुख आलोचक **विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े** ने सन् १९०२ में लिखे अपने '**उपन्यास**' शीर्षक लेख में उपन्यास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा कि 'उत्कृष्ट विचारों और पुरुषार्थों के प्रसार

---

१. '**हिन्दी साहित्य कोश**', पृ० ७६७
२. **हिन्दी साहित्य का इतिहास**, पृ० ३६५-३६६

के लिए उपन्यासों से बढ़कर और आसान उपाय कोई नहीं है।'[१] उपन्यास की व्यापक क्षमता का आकलन करते हुए उन्होंने कहा—'वह छोटे-छोटे बच्चों को पशु-पक्षियों की कहानियाँ सुनाकर उनमें भक्ति और साहस के बीज बोयेगा, महिलाओं को संसार-सुख-सिद्धि का मंत्र पढ़ाएगा, युवाओं को राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा का रहस्य समझाएगा और वृद्धों के लिए जीवन की सार्थकता का मार्ग प्रशस्त करा देगा। यह सब कुछ करते हुए सामान्य जनों को पता तक नहीं चलेगा कि उपन्यास ने ये सारे काम कब और कैसे किये।'[२]

उपन्यास के वस्तु तथा रचना-विधान की विशाल परिधियों को दृष्टिगत करते हुए, **राजवाड़े** जैसे भावविभोर हो उठते हैं। 'उपन्यास को हम आधुनिक मयासुर मानते हैं।'[३] जैसा भावोद्‌गार प्रकट करते हुए **राजवाड़े** श्रेष्ठ उपन्यासकारों को इन शब्दों में अपना साधुवाद देते हैं—'वे आधुनिक युधिष्ठिर भाग्यवान और कृती हैं, जिन्हें इस मयासुर पर अधिकार प्राप्त हुआ है।'[४]

उपन्यास की मानव-जीवन की व्यापकता को अंकित करने की शक्ति को लेकर सुप्रसिद्ध आलोचक **डॉ० नन्ददुलारे बाजपेयी** ने भी अत्यन्त काव्यात्मक ढँग से अपना यह मत व्यक्त किया है—'उपन्यास का जगत खुले हुए आकाश के नीचे फैली हुई विस्तृत हरीतिमा के समान है, जिसमें नाना वर्ण के वृक्ष, लता, गुल्म, पशु-पक्षी आदि स्वच्छंद रूप से विहार करते हैं, यद्यपि इस स्वच्छंदता में भी एक समग्रता तो रहती ही है।'[५]

राजवाड़े ने उपन्यास की लोगों की समझ को विकसित तथा आंदोलित कर सकने की जिस शक्ति का उल्लेख किया है, उसकी पुष्टि अंग्रेजी के विश्व प्रसिद्ध उपन्यासकार **डी० एच० लॉरेन्स** के इस कथन से भी होती है—

'उपन्यास जीवन की एक उज्ज्वल पुस्तक है। पुस्तकें जीवन नहीं हैं, वे सिर्फ हवा में घरघराहट पैदा करती हैं, लेकिन उपन्यास एक ऐसी घरघराहट है, जो समूचे जीवित मनुष्य को कँपा सकती है। कविता, दर्शन, विज्ञान या किसी भी पुस्तक की घरघराहट से कहीं ज्यादा जबरदस्त उपन्यास की घरघराहट है।'[६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपन्यास की जिस विशिष्टता तथा विपुल समाहरण-शक्ति ने साहित्य के अनेक मर्मज्ञों को गहरे तक प्रभावित किया है, उसका मूल आधार यही दिखाई पड़ता है कि मानव-जीवन का कोई कार्यकलाप, कोई समस्या अथवा उससे जुड़ी कोई भी वस्तु, ऐसी नहीं है, जिसे उपन्यास के वस्तु तथा रचना-विधान के व्यापक पटल पर अंकित न किया जा सकता हो। फिर चाहे वह आचार्य **नंददुलारे बाजपेयी** के शब्दों में—'खुले हुए आकाश के नीचे फैली हुई विस्तृत हरीतिमा' ही क्यों न हो।

---

१. उपन्यास : मू० ले० **विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े** : अनु० ह० **श्री० साने**।
हिन्दी में **डॉ० नामवर सिंह** द्वारा संपादित **'आलोचना'** :
अंक ८४ : जनवरी-मार्च १९८८ में प्रकाशित। पृ० २८।

२. ३. ४. उपरोक्त : पृष्ठ २९

५. आधुनिक साहित्य : **नंददुलारे बाजपेयी** : पृ० १२५

६. 'आखिर उपन्यास ही क्यों ?' : **डी० एच० लॉरेन्स**, **'पूर्वग्रह'**—उपन्यास विशेषांक : अंक ४६-४७ : १९९१ : पृ० ८५

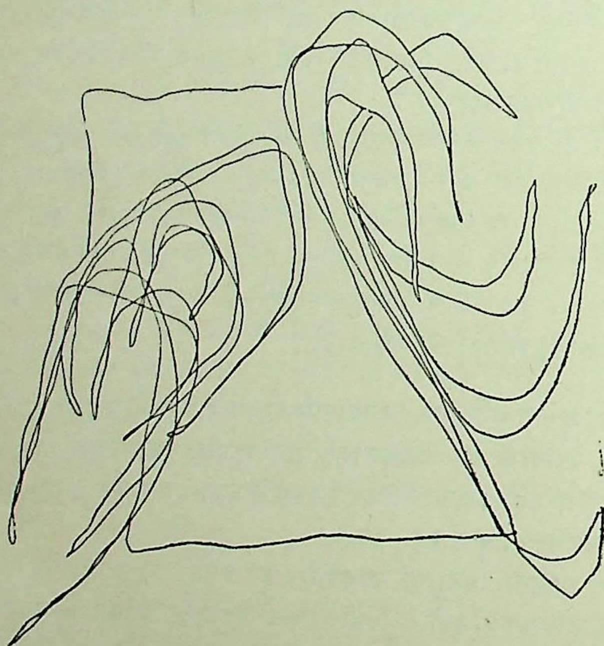
मानव-जीवन की समस्याओं से उपन्यास के गहरे रूपों में आबद्ध होने को लेकर विख्यात आलोचक W. H. Hudson ने भी An Introduction to the study of Literature' में कहा है—'प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, अथवा चाहे कोई लेखक स्वयं इस विषय में सचेत हो या नहीं, प्रत्येक उपन्यास अत्यन्त आवश्यक रूप से जीवन के किसी एक निश्चित दृष्टिकोण अथवा जीवन की कुछ समस्याओं को प्रस्तुत करता ही है।'

वस्तुतः उपन्यास की सारी प्रासंगिकता उसके 'समग्रताबोध' पर ही टिकी हुई है। समग्रता बोध से समन्वित होने के कारण ही मानव-जीवन, अथवा उससे सम्बद्ध स्थितियों का कोई प्रसंग ऐसा नहीं, जिसे उपन्यास के वस्तु तथा रचना-विधान को कलात्मकता प्रदान करने के लिए छोड़ देना आवश्यक हो। इस प्रकार हम पाते हैं कि उपन्यास अपने रचना-विधान में सृष्टि का-सा निर्बंध खुलापन लिए रहता है। जैसे सृष्टि, वैसे ही उपन्यास में हर वस्तु की जगह है। अपने इस सीमामुक्त खुलेपन के कारण ही उपन्यास अपने भावकों को हृदय की गहराइयों तथा मस्तिष्क की ऊँचाइयों, यानी भावना और विचार दोनों स्तरों पर समान रूप से प्रभावित करता है। जबकि काव्य, नाटक अथवा कहानी इन सारे माध्यमों में वस्तु और शिल्प के चयन की कुछ आधारभूत सीमाएँ हैं।

उपन्यास के उपर्युक्त प्रकार के समग्रता-बोध की ही ध्वनि **डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र** के इस कथन में भी मिलती है—'उपन्यास में जीवन की समग्रता को, जीने की विवशता और अनिवार्यता को एक विशिष्ट रूप में विभिन्न समस्याओं और समस्याओं के कारण पैदा हो गई जटिलताओं, के माध्यम से सम्प्रेषित किया जा सकता है।'[1]

---

१. 'यह पथबन्धु था' : एक अध्ययन, पृष्ठ-१४३, **डॉ० सत्यप्रकाश मिश्र** ।



अनाथ मुहल्ले के ठुल-दा

□ बटरोही

कस्बे की गुम्बदनुमा पहाड़ी पर था ओक कॉटेज ! बाँज के पेड़ों से पटी थी वह पहाड़ी, जिसमें पूरी बरसात काई की तरह बिछी रहने वाली जौकें हमारे मन में हमेशा खौफ पैदा किये रहतीं। पहाड़ी की एकदम चोटी पर चर्च का विशाल गुम्बद आकाश छूता था, जिसे कस्बे के किसी भी कोने पर से देखा जा सकता था। ओक कॉटेज चर्च के विशाल गेट से थोड़ा हटकर, नीचे की ओर था, इसलिए उसे देखने के लिए काफी नजदीक जाना पड़ता था। चर्च के अहाते से कॉटेज की सिर्फ हरी टीन की छत दिखाई देती थी। चारों ओर खुबानी, दाड़िम, मेगनोलिया, गिंको, मोरपंखी, बुरुंश, बाँज और कुकाट के पेड़ फैले थे जिनके बीच स्थित ओक कॉटेज किसी रहस्य लोक की तरह महसूस होता। रोजी एडवर्ड का घर था वह. और रोजी हमें आकाश की परी की तरह दिखाई देती। परियों का घर कैसा होता होगा, इसका अन्दाज हम ओक कॉटेज को देखकर ही लगाते।

रोजी एडवर्ड ! किस्से-कहानियों में पढ़े गये, शाहजादी के किले की तरह था ओक कॉटेज जहाँ रोजी और उसकी मम्मी राजकुमारी- रानी की तरह रहते थे। हम लोग हमेशा इस धुन में खोये रहते कि कैसे अपने कबाइली राज्य की राजकुमारी बनाये रोजी को। रोजी के पिता एडवर्ड साहब इंग्लैण्ड में रहते थे और हम लोग जब सुनते थे कि रोजी हर साल दिसम्बर के शुरू में अपने पिता के पास चली जाती है तो मार्च में उसके लौटने पर झुण्ड में ओक कॉटेज के इर्द-गिर्द जमा हो जाते। अपने माँ-बाप से हमने सुना था कि इंग्लैण्ड सात समुन्दर पार है जहाँ गोरी परियाँ रहती हैं। परियों के बीच रहकर रोजी कैसी हो गई है, यह देखने का कौतूहल हमें घंटों तक ओक कॉटेज के इर्द गिर्द समेटे रहता।

शायद इसीलिए हम लोग रोजी के घर को आकाश और अपने मुहल्ले को पाताल कहते थे। ओक कॉटेज वाली पहाड़ी की जड़ से ही एक लम्बा बाजार झील की ओर को चला गया था जो शहर का शायद सबसे पुराना और खास बाजार था। सामने की ओर सजी-धजी दुकानें थीं, जिनके दुमंजिलों पर मालिक लोग रहते थे। पीछे की ओर मल-मूत्र बहा ले जाने वाली नालियों के ऊपर अनेक खंडहरनुमा टिन-शेड थे, जिन्हें कभी शायद अंग्रेज बहादुर ने--जब कस्बे में सिर्फ उन्हीं की मिल्कियत थी—अपने नौकरों के रहने के लिए बनाया था। अंग्रेज तो धीरे-धीरे ऊपर पहाड़ी पर बंगले बना-बनाकर खिसकते चले गये और बाजार में हिन्दुस्तानी दुकान-दार भरते चले गये। गन्दी, मल-मूत्र के ऊपर बैठी इन कोठरियों को हिन्दुस्तानी दुकानदारों ने हमारे बुजुर्गों को दिया था और किराये के रूप में हमारे बुजुर्ग उनके घरों पर बरतन मलने, कपड़े

धोने, साफ-सफाई करने, खाना बनाने या सामान ढोने का काम कर दिया करते।

बाजार के एकदम किनारे पर छः सीटों वाले-उभयलिंगी शौचालय के पास ठेले जमादार का घर था, जिसका लड़का भीमा हमारे क्लब का सबसे सक्रिय सदस्य था। उसके बाद बाजार से लगा हुआ हुसैन नाई और उसके लड़के करीम का दड़बा था, जिसे हम 'क्रीम' के नाम से पुकारते थे। फिर बद्री पनवाड़ी और अनू-गड्डाम पहलवान का कमरा था, जो रामलीला में हर साल जटायु और सुग्रीव का अभिनय करता था। फिर एक गन्दी-बदबूदार नाली बाजार के अगले हिस्से तक निकल गई थी, जिसमें दुमंजिलों से साबुन और पेशाब का मिलाजुला पानी चौबीसों घंटे टपकता रहता। इस गली की बगल में ही था ठुल-दा का कमरा, जो हमारे 'ग्रांड फादर' थे। ठुल-दा यानि बड़े भाई! सारा मुहल्ला उन्हें ठुल-दा ही पुकारता था। उम्र में हम से सात-आठ बरस बड़े मगर अक्ल में सत्तर-अस्सी साल बड़े। खूबसूरत सैलानी कस्बे के बीचों-बीच अनाथ की तरह छिटके हमारे कबाड़ी मुहल्ले के ठुल-दा बेताज बादशाह थे। मुहल्ले में भंगी मोची, पनवाड़ी, मजदूर, चपरासी, ठेले वाले, पोस्टमैन, सिनेमा घरों के गेट-कीपर, लोक-गायक कुली वगैरह हर तरह के लोग थे; ठुल-दा भी इन्हीं लोगों में कोई एक थे, मगर पूरा मुहल्ला एक ऐसा घर था, जिसकी डोर का सिरा एक-दूसरे से बँधा हुआ ठुल-दा के हाथों में था।

बाजार के इसी पिछवाड़े की सड़क में हम लोगों की दुनिया आबाद थी। हम लोग हर तरह के शरारत भरे खेलों में मगन रहते। कभी गुल्ली-डंडा, कभी घुच्ची, कभी डिब्बू-डिब्बू, कभी टोपीमार, कभी झण्ड और कभी-कभी 'तेरे मेरे प्यार में कलुआ मोची!''···ठुल-दा इन सब खेलों के बीच उपस्थित न रहते हुए भी हमारे रेफरी और सलाहकार थे। हमारे आदर्श थे ठुल-दा और उनके आदर्श थे अंग्रेज और उनकी अंग्रेजी! पढ़ने में बहुत अच्छे तो नहीं थे, मगर एक-आध मोटी-मोटी किताब हमेशा उनके हाथों में मौजूद रहती। खाना खाते, कमरे में बैठे हुए, घूमते हुए, सड़क पर खेलते हुए वे हम लोगों का मुआयना करते,···हर क्षण किताब बगल में दबाये रखना उनकी पहचान बन गई थी, उसी तरह, जैसे भूरे रंग का ओवरकोटनुमा पैवन्द लगा कोट!

अंग्रेजी को ठुल-दा संसार के सारे विषयों का निचोड़ मानते थे। उनका कहना था कि आदमी की सारी पढ़ाई सिर्फ एक धुरी पर टिकी हुई है, वह है अंग्रेजी। "जहाँ तुमको अंग्रेजी आई, बाकी विषय तो तुम्हारे पीछे-पीछे ऐसे ही आ जायेंगे मिस्टर, जैसे बादशाह के पीछे-पीछे गुलाम बिना बुलाये आ जाते हैं।" गणित, विज्ञान, भूगोल जैसे विषयों को तो वे विषय की मान्यता दे भी देते थे, लेकिन इस बात का वे हमेशा विरोध करते थे कि हिन्दी, संस्कृत या मॉरल साइन्स जैसे विषयों में एम० ए०, बी० ए० भी किया जा सकता है! "एम० ए०!···," वे अमूमन अपनी आँखें आतंक के साथ फैलाते हुए कहते, "···मास्टर ऑफ आर्ट्स! जानते हो, मास्टर किसे कहते हैं? जो अपने सब्जेक्ट में इतना माहिर हो कि दुनिया के किसी कोने के आदमी के बारे में पूछिये, उसको सब मालूम होगा। तुम लोग खुद ही सोचो, हिन्दी संस्कृत का कोई क्या मास्टर होगा? जरा-सा यू० पी०, बिहार या एम० पी० के दस-पाँच गाँव वालों ने बोल दी हिन्दी तो वह मास्टर बनाने वाला सब्जेक्ट हो गया? उस पर यहाँ के पहाड़ी अलग तरह से बोलने वाले हुए, पूरब के लोग अलग और पश्चिम के अलग! अरे मियाँ, अंग्रेजी को देखो, सारी दुनिया की भाषा है! कह के देखो—'ही गो', यहीं का हिन्दीवाला खाल खींच के रख देगा तुम्हारी—'ए राजा, हम हू जानब इंगलिस लैंगवेज, कितनी बार कहे हैं, हमारे तईं इंगलिस

सही बोला करो !'···दुनिया के किसी कोने में चले जाओ—क्या स्वीडन, क्या नोर्वे, क्या स्पेन और क्या अर्जेन्टीना, क्या एशिया-यूरोप···अंग्रेजी के बिना, मिस्टर, किसी देश का सूरज नहीं उगता।···'' इसलिए ठुल-दा का तर्क होता था कि अंग्रेजी की डिग्री का नाम एम० एम० ए० होना चाहिए—-मास्टर ऑफ मास्टर्स आफ आर्ट्स !

ठुल-दा हाईस्कूल में दो बार फेल हो चुके थे, वह भी अंग्रेजी में। हमें यह सब देखकर ताज्जुब होता। वे समय-समय पर हमें अखबारों-किताबों में छपे अंग्रेजी वाक्यों की गलतियाँ बताया करते। अंग्रेजी शब्दों के बीच जब कोई हिन्दी का शब्द रोमन में लिखा दिखाई देता तो वे आगबबूला हो जाते। अंग्रेजी लिपि में हिन्दी लिखना उन्हें ऐसा ही लगता जैसे कि उच्च-कुलीन ब्राह्मण को किसी अछूत ने पानी का गिलास थमाया हो। वे हमें विस्तार से बताया करते कि कहाँ 'शुड' लगाना चाहिए और कहाँ 'वुड', कहाँ 'शेल' लगना चाहिए, कहाँ 'विल' ! वे कहा करते, जिस भाषा को सब लोग आसानी से पढ़ लें, वह भाषा कहाँ हुई ? बिना दो-चार बार फेल हुए सीख भी लिया आपने तो क्या सीखा ! हिन्दी में तो 'प्रकाश' लिखा तो प्रकाश ही पढ़ भी लिया जैसे कोई रसगुल्ला हो कि उठाया और मुँह में डाल दिया। अरे, अंग्रेजी में तो रात वाली 'नाइट' आपको अलग याद करनी है, सेनापति वाली 'नाइट' अलग, कैमिस्ट्री के 'क' को अलग, चैस के 'च' को अलग और कैमल के 'क' को अलग। ये थोड़े ही कि हिन्दी की तरह सब धान बाईस पसेरी।···

ठुल-दा के बहुत स्पष्ट निर्देश थे कि कौन-सा खेल हमें खेलना चाहिए और कौन-सा नहीं ? 'घुच्ची' जुआ होता—वे हमें समझाते—'टोपीमार' साफ चोरी है, मिस्टर; और ये 'डिब्बू-डिब्बू', ये तो सिगरेट की लत डालने की रिहर्सल है ! ये भी कोई खेल होता है ? खेल होता है 'वर्डगेम'। एक वर्ड तुम बोलो इंगलिस का और उसके आखिरी अल्फाबेट से शुरू होने वाला वर्ड बोलूँगा मैं। और फिर तुमको उसके बाद का वर्ड बोलना पड़ेगा। अंग्रेज बन जाओगे मिस्टर, अंग्रेज ! और इस दुनिया में अंग्रेज और अंग्रेजी के अलावा धरा ही क्या है सीखने को। देखो जरा इन सैण्टजोसेफ और शेरवुड के लड़कों को कैसी फटाफट अंग्रेजी बोलते हैं। कल ये ही लोग पहुँचेंगे पार्लियामेण्ट और कमिश्नर की कोठी पर। उस वक्त तुम ही लोग हजूर माईबाप कहकर उनकी पूँछ पकड़े पीछे-पीछे दौड़ते रहोगे !···ऐसे मौके पर अमूमन ठेले जमादार के लड़के भीमा की शामत आ जाती। उसके झबरीले बालों को खींचकर वह जमीन पर पटकते हुए कहते, "उल्लू के पट्ठे, जिन्दगी भर दूसरों का गू-मूत ही साफ करना है तो मर उसी में। अंग्रेजी सीख जायेगा तो तेरे सारे पुरखे तर जायेंगे उसमें। गंगा माता है अंग्रेजी, साले ! एक बार नहा लेगा तो जनम जन्मान्तर के लिए मुक्त हो जायेगा इस गू-मूत से।···

सर्दियों के दिन थे, जब सड़क पर खेल रहे हम लड़कों के बीच रोजी भी आकर खेलने के लिए जिद करने लगी थी। रोजी अपनी मम्मी के साथ बाजार के एक बड़े दुकानदार के घर पर आई थी और अपनी मम्मी को बातों में मशगूल देखकर कौतूहलवश सड़क पर हम लोगों को खेलता हुआ देखने लगी। हम लोग उस वक्त घुच्ची खेल रहे थे। 'डिब्बू-डिब्बू' और 'गुल्ली-डंडा' से तो वह परिचित थी; अपनी कॉटेज में अकेले-अकेले इन खेलों को खेल भी चुकी थी, मगर 'घुच्ची' और 'टोपीमार' खेलों ने उसे विशेष आर्कषित किया था। घुच्ची में हम लोग जमीन पर इंच-भर का गड्ढा बनाते थे और उसमें सब खिलाड़ियों के द्वारा जमा किये गये

सिक्के दूर से उछालते। जो सिक्का छेद के अन्दर चला जाता, खेलने वाले का हो जाता और उसके बाद किसी भारी सिक्के से बताये गये सिक्के पर मारना होता था। अगर बिना दूसरे सिक्के को छुए सिक्का उस पर लग जाता तो सारे सिक्के उसी खिलाड़ी के हो जाते। अगर मारने वाला भारी सिक्का छेद के अन्दर चला जाता तो खिलाड़ी को दण्ड के रूप में एक और सिक्का देना पड़ता। यह खेल यद्यपि बच्चों का जुआ समझा जाता था, लेकिन हमें यह सबसे ज्यादा प्रिय था। रोजी को तो यह खेल बहुत ही पसन्द आया और एक सिक्का जमीन पर डालते हुए वह, बिना संकोच के, जैसे कि हमारी पुरानी खिलाड़ी हो, बोली, "हम भी खेलेंगे इसे। इट्स रियली इण्टरेस्टिंग···"

हम लोग एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। घुच्ची लड़कों का गेम समझा जाता था। मुहल्ले की लड़कियाँ तो इसका नाम तक नहीं लेती थीं। एक तो अपरिचित, ऊपर से लड़की। ···भीमा ने अपनी आस्तीन से नाक पर बहती रेंट पोंछते हुए कहा, 'हमारे किलब की मैम्बर थोड़ी है तू। जा-जा, ये लड़कियों का खेल थोड़ी है! उठा अपने पैसे।···"

"हम बन जाते हैं मैम्बर। बोलो, कितने पैसे लगते हैं मैम्बर बनने के? आई विल··· हम अपनी मम्मी से माँग कर दे देंगे।" रोजी जमीन से सिक्का उठाकर भीमा के हाथ में पकड़ाती हुई बोली। रोजी ऊनी स्कार्फ से अपने कान बाँधे हुए थी और शरीर पर बहुत ही सुन्दर रंगीन विदेशी जैकिट पहने थी। पाँवों पर स्लैक्स चढ़े हुए थे। हममें से अधिकांश लोग तो आतंकित होकर सिर्फ आँखें फाड़-फाड़कर रोजी को देख रहे थे। कुछ रोजी के कपड़ों का आतंक और कुछ ठण्ड के कारण ठिठुरता हमारा शरीर।···किनारे पर दोनों हाथ बाँधे हम अधिकांश बच्चे नाक सुड़क रहे थे।

"नहीं-नहीं जी···" हिम्मत करके क्रीम भीमा के हाथ से अधन्नी का सिक्का रोजी के आगे पटकता हुआ बोला, "हम लड़कियों को नहीं लेते जी अपनी पाल्टी में। तुम लड़कियों की पाल्टी में जाओ, उनके खेल करो। तुम्हारा हमसे क्या मतलब? वा भई वा, अच्छा 'ब' बना रही हो हमको! 'ब' हमारा कोडवर्ड था, मूर्ख बनाने के लिए; जैसे 'मारो' के लिए 'रोमा', 'भागो' के लिए 'सोभा-सोगो', बेवकूफ बनाते हुए चिढ़ाने के लिए 'झण्ड' और बेशर्म आदमी को चिढ़ाने के लिए, सब लोगों के द्वारा एक स्वर में आलाप की तरह चिल्लाना···'ब ऽऽ'।

"क्या बना रहे हैं हम आपको? 'ब' मीन्स?" रोजी सहज जिज्ञासा से बोली।

"ब मीन्स नहीं, 'ब'—माने बेवकूफ होता है हमारी पाल्टी में।" क्रीम को तुरन्त एहसास हुआ कि जब रोजी हमारी पार्टी में है ही नहीं तो 'ब' का अर्थ कैसे जानेगी? फिर थोड़ा सयाने स्वर में बोला, "अगर तू नहीं मानेगी तो हम झण्ड बना देंगे तुझे। लड़की है करके लिहाज कर रहे हैं तेरा।"···फिर मेरी ओर मुँह करके बोला, "बई बसे बस बम बझा बओ बया बर···" यह हमारी अपनी ईजाद की हुई भाषा थी। आपस में बात करने के लिए, जिससे कि दूसरा न समझ सके, हम लोग हर शब्द के पहले 'ब' लगाकर बात करते। इस भाषा का हमें इतना अभ्यास हो गया था कि फटाफट बोल भी सकते थे और तुरन्त समझ भी लेते। अपनी 'कोड' भाषा में क्रीम ने मुझसे कहा था, "इसे समझाओ यार। नहीं तो ठुल-दा मारेंगे।"

उसी समय ठुल-दा आ गये। हमारी जान में जान आई। क्रीम ने शिकायत की ठुल-दा से, "देखो ठुल-दा, ये लड़की हमारे साथ घुच्ची खेलती हूँ कह रही है। घुच्ची लड़कियों का गेम थोड़े ही है कोई?"

"गुड ईवनिंग बेबी···" हमारी बात का कोई जवाब दिये बगैर ठुल-दा रोजी के पास चले गये। उनके चेहरे से लगता था कि रोजी से बात करते हुए वह खुद को धन्य समझने लगे थे। चेहरा लाल हो गया, सीना तन गया था और चाल में भी अतिरिक्त सजगता आ गई थी।

"आइएम नॉट बेबी, आ—एम रोजी। डौंच्यू नो, आइ स्टडी इन सेविन्थ स्टैण्डर्ड···" रोजी हिकारत के साथ बोली।

"ऑल राइट रोजी···" अपनी आवाज में पूरी आत्मीयता और आदर की भावना घोलते हुए ठुल-दा बोले, "ह्वाट्स द प्रौब्लम? आइ विल हैल्प यू।" एकाएक गुस्से से भरे हुए हमारी ओर मुँह करके बरस पड़े वह, "क्यों परेशान कर रहे हो रोजी को। एक तो जुआ खेल रहे हो, ऊपर से रोजी के पैसे छीन रहे हो? जानते हो, ये कौन हैं? चर्च वाले एडवर्ड साहब की बेटी है। एक गाली देगी अंग्रेजी में तो सबके सब उड़कर जाओगे तालाब में। बोलना भी आता है तुमको रोजी से?"

"ये खुद ही तो कह रही है घुच्ची खेलने के लिए", हिम्मत करके मैं ही बोला ठुल-दा से, "हम तो कही रहे हैं, घुच्ची लड़कियों का गेम थोड़ी है। फिर ये हमारे किलब की मैम्बर भी तो नहीं हैं। लड़कियाँ तो मैम्बर हो भी नहीं सकतीं।"

"आइ लाइक दिस गेम···हम भी खेलेंगे इसे।···" रोजी ने ठुल-दा का कोट पकड़कर प्यार भरे लहजे में कहा।

"ऑल राइट रोजी, हम सिखायेंगे आपको। लाओ रे लड़को, सारे पैसे रोजी को दो।"

"नहीं, हम अपने पैसे से खेलेंगे। हम सब लड़कों के साथ खेलेंगे। हम बड़े लोगों के साथ नहीं खेलेंगे।"

"हम बड़े नहीं हैं, रोजी। हम भी खेलते हैं इसे, देखो···" ठुल-दा ने सचमुच क्रीम के हाथों से सिक्के घुच्ची के छेद में उछाले, फिर एक अठन्नी से इकन्नी पर टन्न से मारा। अरे! ठुल-दा तो गजब की घुच्ची खेलते हैं! हम से अधिकांश के मुँह से एक साथ चीख-सी निकली।

"नहीं, हम इन सबके साथ ही खेलेंगे।"···रोजी जिद करने लगी।

"अच्छा ठीक है!···चलो लड़को, रोजी के साथ खेलो घुच्ची। लेकिन याद रखना, रोजी को हराना मत। अभी इसे खेलना नहीं आता।"

"नो—गेम इज गेम···," रोजी हठपूर्वक बोली, "हम एक बार में गेम सीख जायेंगे।"

तभी बदरी पनवाड़ी का लड़का बिशन चिल्लाया, "सोभा सोगो···" और सब लोग तेजी से क्रीम के घर वाली गली में घुस गये। 'झण्ड'···दौड़ते-दौड़ते भीमा चिल्लाया, हँसी का एक फव्वारा-सा चारों ओर फूट पड़ा।

रोजी की मम्मी आ गई थी। गुस्से से भरी वह रोजी का हाथ पकड़कर ले गई। ठुल-दा ने कमर को बेतहाशा झुकाकर 'गुड ईवनिंग मैम' कहा मगर उसका जवाब न रोजी ने दिया और न रोजी की मम्मी ने।

□

ठुल-दा उदास नहीं हुए। बड़ी देर तक, जब तक रोजी ओर मिसेज एडवर्ड सामने के मोड़ पर से ओझल नहीं हो गये, ठुल-दा उन्हें देखते रहे। रोजी के प्रति उनकी फालतू किस्म की आत्मीयता हमारी समझ में नहीं आई। उन्होंने मिसेज एडवर्ड के गुस्से को

नहीं समझा हो, ऐसा भी नहीं था। गुस्से में रोजी का हाथ पकड़कर खींचते हुए अंग्रेजी में उसे जिस तरह लताड़ा था, उसे हम तक समझ गये थे, फिर ठुल-दा तो अंग्रेजी समझते थे।

बेहद ठंड थी उस शाम। सुबह से ही बर्फीली हवाएँ चल रही थीं और बादलों के झुण्ड बौखलाये हुए-से इधर-उधर भाग रहे थे। मिसेज एडवर्ड ओक कॉटेज में पहुँची भी नहीं होंगी कि बारीक ओले पड़ने शुरू हो गये थे और सुबह उठकर हमने देखा कि सारा शहर, ओक कॉटेज सहित, बर्फ की मोटी चादर से ढक गया था। दिन भर हम लोग बर्फ के बीच खेलते रहे। बिशन ने प्रस्ताव रखा कि बर्फ का आदमी बनाया जाय और उसे इतना बड़ा बनायेंगे कि अगले साल की होलियों तक भी उसकी बर्फ सुरक्षित रहे। भीमा का प्रस्ताव और ज्यादा मजेदार था कि होली की पहली रात को जब रतजगा करेंगे तो इस बर्फ को गुड़ के साथ खायेंगे। फरवरी के पहले हफ्ते तक ठहरी हुई बर्फ तो हमने देखी थी लेकिन होलियों तक तो उन जगहों में भी बर्फ पिघल जाती थी, जहाँ सूरज की किरणें कभी नहीं पड़ती थीं।

हम लोग चपटी किनारे की प्लेटों से बर्फ को निकालकर उसे एक जगह एकत्र करने में लग गये। ताजी बर्फ थी इसलिए बहुत आसानी से निकल जाती थी। शाम तक अपने से दुगुने आकार की हिम आकृति तैयार हो गई और भीमा ने करीम के कन्धे पर चढ़कर उसमें बड़े-बड़े कोयले के टुकड़ों को भरकर नाक, कान, मुँह बना दिये। सेब के पेटी के टुकड़े खोंसकर उसने दो बड़े-बड़े कान भी लगा दिये।

खुशी से नाचते हुए हम लोग ठुल-दा को यह सूचना देने के लिए उनके कमरे में गये तो वे वहाँ नहीं थे। हमारे पास भी वे आज नहीं आये थे। इधर-उधर ढूँढ़ते हुए बाजार की दूसरी नुक्कड़ पर पहुँचे तो करीम के अब्बा ने बताया कि वे दिन भर तो यहीं पर बर्फ का पुतला बना रहे थे। थोड़ी देर पहले ही ऊपर चर्च वाले रास्ते की ओर उन्हें जाते देखा था। हम लोग कौतूहलवश बर्फ की आकृति के पास पहुँचे तो देखा, सचमुच एक खूबसूरत आकृति बनी हुई थी। आँख, कान, नाक की जगह हमारी तरह कोयले नहीं, सफेद चिकने पत्थर लगाये थे। पाँवों के पास बर्फ में ही अंग्रेजी की सुन्दर लिखावट में लिखा हुआ था—रोजी!

बाद में हमको मालूम हुआ कि वे उस वक्त घुटने-घुटने तक की बर्फ को रौंदते हुए ओक कॉटेज पहुँचे थे। बिना किसी संकोच के वे ओक कॉटेज के अहाते में घुसे। बर्फ के कारण कोठी का अलसेशियन कुत्ता मिसेज एडवर्ड के साथ 'फायर प्लेस' के पास बैठा था। बहुत शालीनता के साथ दरवाजे की घण्टी बजाई ठुल-दा ने और अपने आधा दर्जन पैबन्दों वाले ओवरकोट को बर्फीले हाथों से झाड़ा। बरसाती बूट के हील के ऊपर एक इंच का कट आ गया था जिससे बर्फ के टुकड़े घुस-घुस कर पाँवों की अंगुलियों तक पहुँच गये थे। रोजी से मिलने की इच्छा से शरीर इतना तप रहा था कि बर्फ की ठंडक का उन्हें अहसास तक नहीं था। हाँफ रहे थे ठुल-दा और नाक-मुँह से जो भाप निकल रही थी, ऐसा लगता था कि शरीर की गर्मी से खौलती हुई बर्फ बेतहाशा भाप छोड़ रही है। तपते हुए तलवों के कारण बर्फ भरे मोजे पूरी तरह भीग गये थे और लिजलिजेपन से उन्हें असुविधा अनुभव हो रही थी। मन हुआ कि मोजे खोलकर एक बार निचोड़ लें और फिर पहन लें, मगर तब तक प्रश्नभरी निगाहों से दस्ताना चढ़ाये एक हाथ से दरवाजे का कुण्डा पकड़े और दूसरे को अपने गरम गाउन के अन्दर डाले मिसेज एडवर्ड सामने खड़ी थीं।

"गुड ईवनिंग मैम," ठुल-दा ने लोहे की छाता को अपनी बगल में दबाये हुए कहा।

दरअसल छाता के लोहे के हैण्डिल में पॉलिश उखड़कर जंग लग गई थी और छाता में एक-दो जगह छेद हो जाने के कारण उसमें काले कपड़े की टल्ली लगाई गई थी। छाता बगल में दबाते हुए ठुल-दा ने पूरी कोशिश की कि उसके पैबन्द उनकी अस्तीन से छिप जायें।

मिसेज एडवर्ड ने कोई जवाब नहीं दिया। पहले की तरह वह प्रश्नवाचक निगाहों से ठुल-दा को घूरती रहीं।

ठुलदा ने मिसेज एडवर्ड से पहले रोजी के बारे में पूछा और फिर बताया कि कल शाम जब वह बाजार के लड़कों के साथ घुच्ची खेलने के लिए जिद कर रही थी तो उन्होंने ही रोजी को तंग कर रहे लड़कों को डाँट-फटकार कर घुच्ची-गेम सिखाया। उन्होंने इस बात पर विशेष जोर दिया कि बच्चों की इच्छा को उनके माँ-बाप द्वारा प्रोत्साहित किया जाना चाहिए और कल रात भर वे रोजी को सिखाने के लिए दर्जनों गेम्स के बारे में सोचते रहे। रोजी के दबंग खेलप्रेमी और 'शार्प' स्वभाव के कारण ही उन्होंने सोचा कि वे हर शाम को एक घण्टा रोजी को कुछ 'टिपिकल इण्डियन गेम्स' सिखा देंगे। मिसेज एडवर्ड से उन्होंने थोड़ी देर के लिए रोजी को बुला देने के लिए कहा ताकि वे उसकी सहमति ले सकें।

"आप एक बार उसको बाहर तो ले आयें मैम, वह मुझे फौरन पहचान जायेगी। कल मेरा कोट पकड़कर जिद की थी उसने कि मैं उसे गेम सिखा दूँ। मैं रात भर सपने में भी उसे गेम सिखाता रहा। आप देखियेगा, सिर्फ दो दिन में मैं उसे हर तरह के गेम में एक्सपर्ट बना दूँगा।..."

मिसेज एडवर्ड करीब आधे घंटे तक दरवाजे का कुंडा पकड़े उसी तरह खड़ी रही। ओक कॉटेज के बर्फ भरे बरामदे पर खड़े-खड़े ठुल-दा आधे घंटे तक अपनी रातभर की बेचैनी का बखान करते रहे। लेकिन मिसेज एडवर्ड ने न ठुल-दा में रुचि ली और न उनके द्वारा की गई रोजी की तारीफ में। आधे घंटे बाद उन्होंने 'एक्सक्यूज मी' कहते हुए झटके-से दरवाजा बन्द किया और 'फायर प्लेस' के पास आराम कुर्सी पर बैठ गईं।

ठुल-दा उस दिन आधी रात के बाद घर लौटे। देर रात वे तुषार पड़ रही बर्फ के ऊपर ओक कॉटेज, चर्च और लोअर चीना माल की सुनसान पहाड़ियों में घूमते रहे और चाँदनी रात में देवदार, मोरपंखी, बाँज और दाड़िम के पेड़ों पर अटकी हुई बर्फ का आनन्द लेते रहे। बीच-बीच में उस सुनसान मरघट के-से माहौल के बीच अगर कभी ओक कॉटेज में बिजली जलती तो वे दौड़कर पास जाने की कोशिश करते लेकिन उनके पास पहुँचने तक बत्ती फिर गुल हो जाती।

"ऐसे ही माहौल में कीट्स, मिल्टन और शेली पैदा होते हैं, मिस्टर", दूसरे दिन हम लोगों पर उन्होंने अपना गुस्सा निकाला, "एक हम हैं जो साले इन डिब्बाबन्द कमरों में चूहों की तरह अपनी जिन्दगी गुजार देते हैं। ये भी कोई जिन्दगी हुई? रहो इन साँपों के बिल में, खाओ ठठवाणी-भात और बोलो हिन्दी। अरे, सजा ही देनी थी तो एक सजा देते! चलो, खाना-कपड़ा नहीं दिया था तो जबान तो अच्छी दे दी होती। अब अगर यही फटीचर हिन्दी नसीब में थी तो ये पैबन्द लगा कोट तो नहीं दिया होता। वही साला एक अदद बाबा-आदम के जमाने का कोट जिसे पहले बूबू ने पहना, फिर बौज्यू ने पहना और अब ठुल-दा पहनेंगे। एक आध और टल्ला लगाकर हमारे बेटे के काम भी आ जायेगा। वाह रे हिन्दी वाले हिन्दुस्तानी।..."थोड़ा शांत होने पर ठुल-दा फिर चालू हो गये, "तुमने शेली की फोटो देखी है? मैंने देखी

है और शेली के कॉटेज की भी। रोजी एकदम शेली-जैसी लगती है और ओक कॉटेज तो एकदम शेली की कॉटेज है। देखना, किसी दिन शेली हिन्दुस्तान की मशहूर इंग्लिश पोयटेस बनेगी।…"

मगर रोजी के साथ उनकी मुलाकात फिर नहीं हो सकी। हर रोज, बिना किसी अन्तराल के वे ओक कॉटेज की ओर जाते। घण्टों वे ओक कॉटेज के पिछवाड़े की तरफ पगडंडी पर बैठे रहते। कभी-कभी रोजी अपने बगीचों में फूल-लताओं को देखने निकलती तो साँस रोक कर ठुल-दा आँखों की अपनी सारी शक्ति रोजी के चेहरे पर टिका देते। साँस रुक जाती; रोजी दो एक फूल तोड़कर या एक आध पत्ती को सहलाकर अन्दर चली जाती तो उनकी साँस सामान्य हो पाती! कभी रोजी नजर घुमाते हुए पगडंडी की ओर देखती तो ठुल-दा अपनी पूरी करुणा को समेटते हुए चेहरे पर समर्पणयुक्त मुस्कान बिखरने की कोशिश करते। लगता कि रोजी ने उन्हें देख लिया है और जब पत्थरों, पत्तियों, ठुल-दा के चेहरे और झाड़ियों से सरकती हुई रोजी की नजर अपने तक लौटती और वह अपना स्कार्फ ठीक करती हुई वापस कमरे के अन्दर चली जाती तो ठुल-दा रोजी के चेहरे और उसके भावों को देर तक मन में रटते रहते।…

हम लोगों को बहुत बाद में मालूम हुआ कि ठुल-दा रोजी से मिलने के लिए इतने व्याकुल हैं। उनकी भावना की तीव्रता को हम पकड़ नहीं सकते थे लेकिन, ठुल-दा का इस तरह उदास और खोये-खोये रहना हमसे देखा नहीं गया। हमने तय किया कि किसी दिन रोजी को पकड़कर ठुल-दा के पास ले आयेंगे, हालांकि जब इस विचार को व्यावहारिक रूप देने लगे तो समझ में नहीं आया कि उसे कैसे पकड़ कर लायें? दो-चार बार एकदम तड़के हम दस-बारह लड़के झुण्ड में ओक कॉटेज के आसपास फैल गये। हर लड़के को निर्देश था कि ज्यों ही रोजी दिखाई देगी, वह झटके से उसे दबोच लेगा और फौरन सीटी बजायेगा। बाकी लोग तुरन्त वहाँ आ जायेंगे और उसे पकड़कर ठुल-दा के सामने पेश कर दिया जायेगा। लेकिन एक तो उतनी सुबह रोजी कभी दिखाई नहीं दी; दो-एक बार कमरे के अन्दर हलचल हुई भी तो कोई बाहर नहीं निकला। कोठी के नजदीक हम जा नहीं सकते थे, क्योंकि पूरे अहाते में भूखे शेर की तरह अलसेशियन कुत्ता चक्कर काटता रहता था। हमें देखना तो दूर, जरा-सा आवाज भी सुनाई देने का मतलब था कि वह हमारे चीथड़े-चीथड़े कर डालता।

कई दिनों के प्रयत्नों के बाद जब हम कुछ नहीं कर पाये तो एक दिन ढेर सारे पत्थर इकट्ठा करके ओक कॉटेज की टीन की छत पर हमने उनकी बौछार की और जितनी हमने सीखी थी, मिसेज एडवर्ड और रोजी को भद्दी-भद्दी गालियाँ चिल्लाकर वापस चले आये।

मगर रोजी के साथ उनकी मुलाकात फिर नहीं हो पाई। अगले तीन वर्षों में उसने सैण्ट-मेरीज कॉन्वेन्ट से जूनियर केम्ब्रिज पास किया और उसके बाद आगे पढ़ने के लिए अपने पिता के पास इंग्लैण्ड चली गई। ठुल-दा शायद रोजी को कभी नहीं भूल पाये। पता नहीं क्या देखा था उन्होंने रोजी में? रोजी ही नहीं, उससे मिलने के बाद हमारे प्रति भी उनकी विचित्र किस्म की आत्मीयता बढ़ती चली गई थी। पढ़ने-लिखने के बारे में वो हमारे प्रति कहीं ज्यादा जागरूक और कठोर हो गये थे। बात-बात पर रोजी और उसके ओककॉटेज की मिसाल दिया करते।… "जिन्दगी भर ऐसे ही नाली कीड़े की तरह पड़े रहना है तो ठीक है, मरो।…" भीमा से कहते ठुल-दा…"अपने बाप की तरह दूसरों का गू खाना चाहता है तो शौक से खा साले, मुझे क्या करना है?…" क्रीम के बाल खींचकर जमीन पर पटकते हुए कहते…"तेरा बाप दूसरों के सिर

पर कैंची चलाता है, तू अब दूसरों की जेब में कैंची चलायेगा, उल्लू के पट्ठे ! जैसी कैंची चलाता है, वैसी कलम चला कर देख, तब मैं मानूँ तुझे !···" फिर हम सब लोगों की ओर बारी-बारी से मुँह करके कहते, "जैसे कैंची चलती है इस क्रीम के बाप के हाथ में, ऐसे ही तुम्हारे मुँह से अंग्रेजी निकलनी चाहिए। लोहे को लोहा ही काटता है हरामजादो !···अंग्रेज को अंग्रेजी से ही जीता जा सकता है। हिन्दी साली तो अंग्रेज के जूते की जुबान है ! अंग्रेज इतने दिन तक जो यहाँ टिका रहा, तुम क्या समझते हो, वह अपने दिमाग से टिका रहा यहाँ ? अपने जूते से रहा मिस्टर, जूते से। जिस दिन उसने अपना दिमाग और अपनी जुबान इस देश को दी, बस उसी दिन से उसे भागना पड़ा। इंग्लिश इज इण्टरनेशनल लैंग्वेज माई डियर, लैंग्वेज ही नहीं, इंग्लिश तो एक इण्टरनेशनल फीलिंग भी है; समझे !···"

चाहे भीमा हो या क्रीम, बिशन हो या छिल्ला, सुभाष हो या खड़क···सबको उन्होंने मार-मार कर उल्टी-सीधी अंग्रेजी बोलने लायक तो बना ही दिया। खुद भले ही हर दर्जे में एक-एक साल फेल होते रहे, लेकिन हम लोगों में से कोई भी किसी कक्षा में रुका नहीं। अंगुलियों के बीच पैंसिल फँसा-फँसा कर उन्होंने हम सबकी अंगुलियों में घाव जरूर किये, मगर हम सबकी अंग्रेजी लिखावट बढ़िया बना दी।

इण्टर पास करने के बाद ठुल-दा जंगलात दफ्तर में बाबू हो गये। हम लोगों के हाई-स्कूल-इण्टर करने तक वह पहले की तरह हमसे जुड़े रहे। दो-चार वर्ष में ही हम में से अधिकांश नौकरियों में लग गये। भीमा का बाप ठेले जमादार तो मरते वक्त बार-बार यही चिल्लाता रहा···"मैं ठुल-दा बाबू के पावों—नीचे मरूँगा···मैं जब मर जाऊँ तो ठुल-दा बाबू से कहना, मेरे सिर पर अपने जूते से मारकर मेरा कपाल फोड़ दें !···मेरे खानदान को तो गू-कीचड़ से निकाल ही दिया इस फरिश्ते ने !···"

भीमा थानेदार बन गया था। क्रीम तहसीलदार बना और सुभाष इंजीनियर बनने के लिए आगे पढ़ने बाहर चला गया। ज्यादातर लोग अच्छी जगहों पर चले गये। मुहल्ले की लड़कियाँ भी काफी आगे निकल गयीं। दो-एक नौकरी भी करने लगीं।

बहुत बाद में मालूम हुआ हमें, ओक कॉटेज में एक ईसाई महिला रहने लगी थीं। आते ही शहर भर में उसके बारे में तरह-तरह की चर्चाएं होने लगी थीं। मिसेज एडवर्ड वर्षों पहले कोठी छोड़कर इंग्लैण्ड चली गई थी और चूँकि कोठी चर्च की सम्पत्ति थी, इसलिए किसी ने उसे खरीदा भी नहीं। खाली कोठी के पड़े रहने के कारण शहर के मुहल्लों में तरह-तरह के किस्से पैदा हो गये। शहर के कुछ बुजुर्ग बड़े विश्वास के साथ कहा करते, मिसेज एडवर्ड इंग्लैण्ड नहीं गईं। किसी ने उनका कोठी के अन्दर ही खून कर दिया था और कोठी के अन्दर उनकी आत्मा आज भी भटकती रहती है। रात-अधरात कोठी के अन्दर से आने वाली चीख-चिल्लाहट को सुनने का कुछ लोगों ने दावा भी किया।

ईसाई महिला के ओक कॉटेज में रहने की वजह से लोगों के द्वारा उसे कभी प्रेत-सिद्धिनी और कभी चाण्डालिनी के रूप में चित्रित किया जाने लगा। कुछ लोग उसे एडवर्ड खानदान की वारिस बताने लगे। मगर किसी को भी सही स्थिति मालूम नहीं थी, न किसी में उससे पूछने की हिम्मत थी, इसलिए महिला के बारे में किस्से-कहानियों का सिलसिला बढ़ता ही चला गया।···

कुछ ही दिनों के बाद शहर के लोगों को ठुल-दा ओक कॉटेज में घुसते दिखाई दिये। सर्दियों के ही दिन थे, उन दिनों लोअर चीना माल की तरफ साढ़े-पाँच-छः बजे तक अच्छा-खासा अंधेरा हो जाता था। शाम के धुँधलके के बीच चर्च का नुकीला टॉवर और सुनसान वातावरण···और फिर ओक कॉटेज के बारे में शहर भर में फैले भुतहा किस्से···कोई उस तरफ जाता नहीं था। लोगों को तो इसी बात पर ताज्जुब होता था कि नई आई यह ईसाई महिला उस विशाल कोठी में अकेले कैसे रह लेती है? दो-चार दिन तक तो लोगों ने इसे अपने मन का वहम समझा, मगर बाद में जंगलात दफ्तर के चौकीदार की बातों पर विश्वास करना पड़ा। वन विभाग का कार्यालय, जहाँ ठुल-दा काम करते थे, चर्च से बहुत दूर नहीं था। दफ्तर के गेट से ही ऊँचाई पर स्थित ओक कॉटेज का गेट एकदम साफ दिखाई देता था। चौकीदार ने ही सबसे पहले बताया था कि ठुल-दा दफ्तर से करीब साढ़े पाँच बजे निकले उस दिन और जब नीचे बाजार की ओर जाने के बजाय चर्च वाली पगडण्डी की ओर बढ़े तो उसे ताज्जुब हुआ। थोड़ी देर बाद उसने देखा कि वे ओक कॉटेज के बरामदे पर खड़े हैं। ईसाई महिला से थोड़ी देर उन्होंने बातें कीं और फिर दोनों अन्दर चले गये। इसके बाद तो कुछ लोगों ने उन्हें ईसाई महिला के साथ ओक कॉटेज के बरामदे पर बैठे अपनी आँखों से देखा।

चालीस-पैंतालीस वर्ष की वह महिला, जिसका नाम ठुल-दा मुहल्ले के बच्चों के सामने यदा कदा मिस मार्गरेट लिया करते थे, तेज मेक-अप करने वाली ढीले बदन की महिला थी। तीखी सेण्ट भी इस्तेमाल करती थी और ठुल-दा से हमेशा अंग्रेजी में बातें किया करती थी?··· "मिल्टन की एक-एक पोयम याद है उसे!···" मुहल्ले के बच्चों को बताते ठुल-दा···"और आवाज तो ऐसी स्वीट है कि लगता ही नहीं कि कभी उसके पाँच बच्चे भी हो चुके होंगे! अपने दूसरे पति से उसने तलाक ही इसलिए लिया क्योंकि उसके इंगलिश उच्चारण में बांग्ला की बू आती थी। उच्चारण देखो उसका···जैसे ऑक्सफर्ड का कोई प्रोफेसर बोल रहा हो। लिप्स तो उसके कभी मिलते ही नहीं बोलने में। अरे मिस्टर, बोलते हुए जहाँ होंठ मिले, वह अंग्रेजी कहाँ रही, वो तो साली हिन्दी हो गई, पहाड़ी हिन्दी···आइ लभ यू भेरी-भेरी मच डार्लिंग··· साली अंग्रेजी नहीं हुई, कद्दू की सब्जी हो गई!···"

बच्चों पर ठुल-दा ने मिस मार्गरेट का अच्छा-खासा आतंक जमा लिया था। बच्चे तो मार्गरेट के साथ उनके सम्बन्धों को एक सामान्य कौतूहल के रूप में लेते थे, मगर मुहल्ले के लोगों की जिज्ञासा निरन्तर बढ़ती जा रही थी। सम्भव है, ठुल-दा के माध्यम से मुहल्ले वाले मिस मार्गरेट के रहस्यमय व्यक्ति का खुलासा जानना चाहते हों; या सम्भव है, ठुल-दा के बारे में ही उनके मन में सन्देह की भावना पनप रही हो, मगर ठुल-दा ने बच्चों के अलावा न किसी को मिस मार्गरेट के बारे में बताया और न लोगों के मन में उपज रहे सन्देह के कीड़े की परवाह की। ओक कॉटेज जाना उनका दैनिक कार्यक्रम बन गया। कभी ऑफिस से सीधे और कभी घर आकर कपड़े बदलकर जाते। महीने-दो-महीने बाद तो कभी-कभी रात को भी लौटते हुए नहीं दिखाई दिये।

शहर के लोग निष्कर्ष पर पहुँचते, इससे पहले ही ठुल-दा को एक खतरनाक बीमारी हो गई। मुश्किल से सात-आठ महीने उन्हें ओक कॉटेज जाते हुए बीते होंगे!···तकलीफ ज्यादा महसूस होने पर जब ठुल-दा अस्पताल गये तो डॉक्टर ने बताया कि उन्हें पेशाब के रास्ते में खतरनाक इन्फेक्शन हो गया है और टाँगों से ऊपर शरीर तक फैल चुका है। बहुत पूछने पर

डॉक्टर ने ठुल-दा के कानों पर हथोड़ा-सा मारा। बताया कि उन्हें भगन्दर हो गया है। जब तक कुछ सम्भलते, इंजेक्शन का कोर्स पूरा होते-होते टाँगों से लेकर पूरे शरीर तक का अधिकांश हिस्सा पक गया।

अस्पताल में भरती होते वक्त ठुल-दा को तकलीफ इस बात की ज्यादा नहीं थी कि उन्हें रोग ने जकड़ लिया है, इस बात की हुई कि उनके रोग का नाम इतना भद्दा और बेहूदा है! डॉक्टर पर बार-बार गुस्सा आता था उन्हें, एक तो हिन्दी में, दूसरे हिन्दी का भी इतना भद्दा लफ्ज उनके रोग के लिए इस्तेमाल किया डॉक्टर ने। अच्छा होता, वे नाम पूछते ही नहीं। या डॉक्टर को ही चाहिए था कि 'इन्फेक्शन' बताने के बाद कोई और नाम बताता ही नहीं। ये डॉक्टर है या चार सौ साल पुराना यूनानी हकीम!···उन्हें इस बात की तकलीफ ज्यादा थी कि जिस ओक कॉटेज की उन्होंने रोजी के कॉटेज के रूप में कल्पना की थी, उसमें जाकर उन्हें ऐसा भद्दा शब्द मिला। मिल्टन और शेली के बीच जीने के बाद उन्हें फिर उसी तरह की बदबू भरी जिन्दगी और भाषा जीनी पड़ रही है, उन्हें निहायत अपमानजनक महसूस होने लगा। इसीलिए उन्होंने न किसी को रोग का नाम बताया और न अपनी तकलीफ ही जाहिर की। कराह तक न ली। मगर जब खड़े रहने की ताकत ही नहीं रही, तब अस्पताल की खाट पकड़नी ही पड़ी। कई दिनों तक अपनी कराह दबाये रहे, मगर कब तक दबाये रख सकते थे! अंततः एक दिन, उनके न चाहते हुए भी, पक गये फोड़े के मवाद की तरह कराह भी बाहर आ ही गई।

और आज ठुल-दा कराह रहे थे। उनकी और अपनी जिन्दगी में पहली बार उनके मुँह से हमें यह कराह सुनाई दी थी, जैसे पूरे शरीर को निचोड़कर दर्द किसी तरल पदार्थ के रूप में उनके मुँह में टपक रहा हो—भीगी सूती धोती को दोनों हाथों से निचोड़ने की तरह! कराह की कोई भाषा नहीं होती, मगर ठुल-दा के लिए तो वह जीती जागती भाषा थी; ऐसी भाषा, जो ओक कॉटेज की नहीं, उनके अनाथ मुहल्ले की गँवारु भाषा थी। जिन्दगी भर जिससे वे बचते रहे थे, आज अनायास ही वह भाषा उनके अन्दर से प्रवाहित हो गई थी। वे आज सिर्फ इतना ही तो सोच रहे थे कि कराह की यह भाषा किसी तरह उनके मुहल्ले की जगह ओक कॉटेज की बन जाती तो वे चैन से अपनी आँखें बन्द कर पाते। जिसे सारी जिन्दगी उन्होंने कितनी तकलीफों से तो प्राप्त किया था, आज सचमुच की तकलीफ के क्षणों में उसे नहीं अपना पा रहे थे! पता नहीं उनकी व्यथा कराह को भाषा के रूप में प्राप्त करना था या उस भावना को ओक कॉटेज की कराह के रूप में बदल पाना!

एक और मृत्युंजय

□ मिथिलेश्वर

राघव शरण ने अस्थायी कार्यों को कभी पसन्द नहीं किया। जो कार्य स्थायी नहीं, उसमें उन्होंने हाथ ही नहीं लगाया और अगर लगाया तो फिर अपने लिए उसे स्थायी बनाकर ही छोड़ा। चन्द दिनों का स्वर्गीय सुख भी उन्हें प्रिय नहीं। कम या अधिक, सुख जो भी मिले, वह बराबर मिलता रहे। उनकी मान्यता है कि अपने लिए मनुष्य जो भी सुख अर्जित करे, वह स्थायी रूप में अर्जित करे, ताकि उसका उपभोग सदैव करता रहे।

अपने इसी दृष्टिकोण के तहत प्रारम्भ में जब वे अस्थायी नौकरी में आये तो अनवरत प्रयत्न और अथक परिश्रम के फलस्वरूप अपनी नौकरी को स्थायी बनाकर ही शांत हुए। अब सहज ही उन्हें नौकरी से निकाला नहीं जा सकता। किराये के मकानों में अस्थायी रूप से रहना भी उन्हें कष्टदायक प्रतीत होता था। मकान मालिक कभी भी मकान खाली करने के आदेश दे देते थे। फलतः रुपये एकत्रित कर उन्होंने नगर में अपना बढ़िया मकान बना लिया। अब किसी मकान मालिक की उन्हें परवाह नहीं। स्वयं या परिवार के साथ कहीं आने-जाने के क्रम में उन्हें भाड़े के वाहन कभी समय पर मिल जाते तो कभी नहीं मिलते, इसीलिए उन्होंने कार एवं स्कूटर दोनों खरीद लिये। उनकी पत्नी को सिनेमा देखने का बेहद शौक ! लेकिन अस्थायी रूप में नगर के कभी इस हॉल में तो कभी उस हॉल में जाना उन्हें स्वीकार्य नहीं। परिणामतः उन्होंने वीडियो और रंगीन टी० वी० ले लिया। इसी तरह अच्छे होटलों एवं पार्कों में मिलने वाले अधिकांश सुखों को उन्होंने अपने घर पर ही एकत्रित कर लिया। अब उन्हें किसी चीज की जरूरत नहीं। समर्पित सुन्दर पत्नी और तमाम आधुनिक सुख स्थायी रूप में उपलब्ध। वे आनन्द और चैन की वंशी बजाने लगे। लेकिन अचानक इसी बीच पैंतालिस की उम्र में ही पेट की एक भयंकर बीमारी की पकड़ में वे आ गये। जाँच-पड़ताल के बाद चिकित्सकों ने 'लिवर-कैंसर' की घोषणा की तथा उन्हें चन्द दिनों का मेहमान बताया·· !

राघव शरण की जिन्दगी में यहीं से भयंकर परिवर्तन शुरू होता है। उनके पाँव के नीचे की जमीन खिसकती जान पड़ती है। उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है। पूरी दुनिया उन्हें बदली हुई जान पड़ने लगती है। उन्होंने सारे स्थायी सुखों का इंतजाम कर लिया था। लेकिन अब कोई भी सुख उनके किसी काम का नहीं। जब वे ही स्थायी नहीं हो सके तो इन स्थायी सुखों की कैसी उपयोगिता ? अपना पिछला किया-कराया सब उन्हें बेकार लगने लगता है। कितनी आशाएँ एवं उम्मीदें संजो कर उन्होंने यह सुखद दुनिया बसायी थी। लेकिन सब कुछ छोड़कर बीच में ही चले जाने की बारी आ गयी। वे बेहद दुःखी, चिंतित एवं गमगीन

रहने लगते हैं।

राघव शरण के ऊपर एकाएक आये इस आसन्न संकट से उनके परिवार के लोग भी व्यथित एवं परेशान हो जाते हैं। राघव शरण द्वारा अर्जित सुखों का ही इस्तेमाल परिवार के सभी सदस्य कर रहे थे, इसीलिए उनका परेशान होना स्वाभाविक ही था। वे अपने तईं लिवर-कैंसर के इलाज की बेहतर से बेहतर सुविधाएँ उन्हें मुहैया कराने लगते हैं। लेकिन कोई फायदा नहीं···! फिर भी अपने संतोष के लिए वे लगे रहते हैं। लेकिन राघव शरण की चिंता उनकी अपेक्षा कहीं बहुत गहरी है। कोई किसी का लाख आत्मीय क्यों न हो, जिसके ऊपर घटित होता है, दुःख और पीड़ा का वास्तविक अनुभव वही कर पाता है।

राघव शरण अनुभव करते हैं कि एक ओर खुद उनके द्वारा अर्जित सुखों का मोहक संसार है तो दूसरी ओर सामने साक्षात् काल खड़ा है जो शीघ्र ही उस मोहक संसार से उन्हें विलग कर देगा। राघव शरण की जीवन-दृष्टि और चिंतन में यहीं से बदलाव शुरू होता है। उन्होंने सबसे पहले शरीर के स्थायित्व की बात ही क्यों नहीं सोची थी? अन्य सुखों का अर्जन क्यों किया था? वे कितने मूर्ख साबित हुए? कितना बड़ा धोखा खाया? शरीर गला कर उन्होंने सब कुछ हासिल किया। उनका परिश्रम देखकर लोग दंग रह जाते थे। भौतिक सुखों को एकत्रित करने के लिए वे पागलों की तरह लगे रहे। न कभी समय पर खाना खाया, न आराम किया। लम्बे संघर्ष के बाद अब सुख भोगने के लिए वे तैयार हुए थे कि अचानक सब कुछ छोड़कर चले जाने की बारी आ गयी···।

राघव शरण को अपने मुहल्ले के लोगों की मूर्खता याद आ जाती है। आधुनिक सुविधाओं से पूर्ण उनका घर और समृद्धि देख सब उनके नक्शे कदम पर चलने लगे हैं। उनकी ही तरह तमाम भौतिक सुखों को स्थायी रूप में एकत्रित करने के लिए जी-जान से लगे हैं। उन्हें लगता है, सिर्फ उनके मुहल्ले के लोग ही क्यों, पूरा देश और पूरी दुनिया इसी उद्देश्य में लगी हुई है! लेकिन क्या वे नहीं जानते कि मृत्यु कभी भी उनकी चीजों से उन्हें अलग कर देगी? फिर इस तरह जान लुटाकर वे उनका संग्रह क्यों करते हैं? इस पर उन्हें एक जवाब यह सूझता है कि स्वयं न सही; उनके बाल-बच्चे तो उपभोग करेंगे और उनका नाम लेंगे। लेकिन यह जवाब उन्हें वाजिब नहीं लगता है। मरने के बाद वे देखने तो आयेंगे नहीं कि उनके बाल-बच्चे सुख कर रहे हैं या दुःख? बाल-बच्चे समझदार होंगे तो विरासत में पिता के कुछ न छोड़ने पर भी सुख-समृद्धि एकत्रित कर लेंगे और नासमझ होंगे तो विरासत की सारी सम्पत्ति चंद मिनटों में ही लुटा देंगे। इसीलिए बाल-बच्चों के लिए ही लोग स्थायी सुखों का संग्रह करते हैं, यह तर्क सार्थक नहीं। तब फिर लोग ऐसा क्यों करते हैं? इस पर उन्हें लगता है कि पूरी दुनिया उनकी तरह ही भ्रम और धोखे में हैं। यथार्थ स्थिति का ज्ञान किसी को नहीं। मृत्यु को सब भूले बैठे हैं। अचानक जब मृत्यु सामने आती है तब उन्हें ज्ञान होता है। लेकिन उस वक्त ज्ञान के सदुपयोग के लिए समय तो बचता नहीं। सिर्फ अफसोस होता रहता है।

राघव शरण सोचते हैं कि मनुष्य ने जंगलों-पहाड़ों को काट कर गाँव और नगर बसाया। कल-कारखानों का निर्माण किया। अपने रहने, खाने, पहनने और ऐशो-आराम का सारा प्रबन्ध किया। तब फिर मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की कोशिश क्यों नहीं की? इस पर उन्हें स्वतः जवाब मिलता है कि मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए शुरू से ही प्रयत्नशील रहा है। विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों के माध्यम से चिकित्सक मरने वाले रोगियों को बचाने के लिए ही

प्रयासरत होते हैं। अमेरिका आदि अनेक विकसित देशों में हिमीकरण पद्धति से अब भी अरब-पतियों की लाशें उस वक्त के लिए सुरक्षित रखी जा रही हैं जब विज्ञान मृतकों को जीवित बनाने में सक्षम हो सके। लेकिन पता नहीं, कभी ऐसा हो सकेगा भी या नहीं ?

अपनी जानकारी के तहत राघव शरण को एक-एक कर अनेक चेहरे याद आते हैं जो कैंसर की बीमारी की चपेट में आये थे, दवा कराते-कराते थक गये, लेकिन ठीक नहीं हुए। उनमें पूँजी रखने वाले कुछ लोगों ने विदेशों में जाकर ऑपरेशन कराया। फिर भी नहीं बच सके। इस संदर्भ में राघव शरण ने अनुभव किया है कि कैंसर किसी बीमारी का नहीं, मृत्यु का ही नाम है। कैंसर ही क्यों, मृत्यु के लिए दुनिया की प्रायः सभी बीमारियाँ सिर्फ बहाना भर ही हैं। वास्तविक बीमारी तो मृत्यु ही है। राघव शरण ने ऐसे लोगों को भी मृत्यु का शिकार होते देखा है, जिन्हें कोई बीमारी नहीं थी। भले-चंगे थे। लेकिन अचानक हार्ट अटैक हुआ और गुजर गये। कुछ अच्छी सेहत वाले व्यक्ति प्रतिदिन की भाँति बिस्तरे पर सोये तो सोते ही रहे। कुछ लोग ऑफिस से थके-हारे घर पर आकर चाय पीये और चले गये। रास्ते में, दफ्तर में, खेत-खलिहान में कब मृत्यु पकड़ ले कुछ पता नहीं। मृत्यु के लिए अब किसी बीमारी का भी बहाना नहीं। चिकित्सकों ने बीमारियों के इलाज के लिए विभिन्न पद्धतियाँ विकसित कीं तो मृत्यु साक्षात् सामने खड़ी हो गयी और सब पस्त हो गये। लेकिन राघव शरण दूसरों का मरना सुन और देखकर पहले कभी भी इस तरह मृत्यु भय से आक्रान्त नहीं हुए थे। अगर पहले इस तरह आक्रान्त हुए रहते तो यह आलीशान भवन और इसके अन्दर प्रायः सभी सुखों का निर्माण वे नहीं करते। उनसे होता ही नहीं। इसीलिए उनकी व्यथा बहुत गहरी है। वे अनुभव करते हैं कि अगर अपने लिए इतना सुन्दर संसार उन्होंने नहीं बनाया होता तो मृत्यु से वे इस तरह पीड़ित नहीं होते। अभावों के बीच रहने वाले लोगों की मृत्यु उन्होंने देखी है। सहज रूप से वे मृत्यु को स्वीकार कर लेते हैं। उसकी तरह भय से घबराते-छटपटाते नहीं। लेकिन चाह कर भी अपने वैभवपूर्ण संसार का मोह राघव शरण त्याग नहीं पाते हैं।

राघव शरण की चिंताएँ निरन्तर बढ़ती जाती हैं। जब से चिकित्सकों ने कैंसर की घोषणा करते हुए उन्हें चंद दिनों का मेहमान बताया है तब से सोते-जागते, उठते-बैठते हर वक्त मृत्यु उन्हें भयभीत किये रहती है। वे व्यग्रता एवं बेचैनी से यह सोचने लगते हैं कि कितना अच्छा होता अगर वे जी जाते! क्या कोई ऐसी राह नहीं जिस पर चलकर इस शरीर को स्थायित्व प्रदान किया जा सके। वे दूर तक अपनी दृष्टि दौड़ाते हैं। प्रायः सभी चिकित्सा-पद्धतियाँ और अन्य उपाय उन्हें मृत्यु के समक्ष पराजित नजर आते हैं। इसी संदर्भ में अचानक अध्यात्म एवं भारतीय धर्म ग्रंथों की ओर भी उनका ध्यान जाता है। उनके मित्र सदासुख पिछले काफी समय से सन्तों की संगति में रहने लगे हैं। जब भी मिलते हैं, अध्यात्मिक बातों की चर्चा प्रारम्भ कर देते हैं। राघव शरण ने उनकी बातों को कभी पसन्द नहीं किया। उन्हें यह सब फालतू, निस्सार और मनगढ़ंत बातें लगतीं। लेकिन अब उन्हीं बातों में उन्हें सार नजर आने लगता है तथा उनका आकर्षण तेजी से उस ओर बढ़ने लगता है।

सदासुख बताते हैं कि मरने पर शरीर का नाश हो जाता है, लेकिन आत्मा नहीं मरती…।

सदासुख यह भी बताते हैं कि एक सन्त का कहना है कि देह और आत्मा का सम्बन्ध अभेद होता है।

सदासुख कहते हैं कि सदियों पहले अपने यहाँ श्री शुक्राचार्य जी के पास वह संजीवनी विद्या थी, जिससे मरे हुए व्यक्ति को भी वे जिला देते थे। लेकिन आज वह विद्या विलुप्त हो गयी है। रामायण और महाभारत के कई चरित्र आज भी सशरीर जीवित हैं। उदाहरण स्वरूप हनुमान जी, विभीषण, अश्वत्थामा, वेदव्यास, शुकदेवजी, बलि आदि।

सदासुख बताते हैं कि अपने देश में अभी भी अनेक साधु-सन्त और योगी-संन्यासी हिमालय पर्वत पर रहते हैं, जिनकी उम्र कई सौ वर्षों की हो गयी है···।

राघव शरण के दादा धार्मिक व्यक्ति थे। वे एक प्रसिद्ध सन्त के शिष्य थे। घर पर नियमित रूप से पूजा-पाठ करते तथा पूरे मन से धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करते थे। उनकी मृत्यु के बाद लाल रंग के कपड़े में बँधे धार्मिक ग्रन्थ वर्षों से आलमारी के एक कोने में पड़े रहे। कभी किसी ने नहीं छुआ। लेकिन राघव शरण उस बण्डल को खोलकर वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि का अध्ययन शुरू कर देते हैं। घर के लोग समझते हैं कि सामने उपस्थित मृत्यु को देखकर अपना परलोक सुधार रहे हैं। लेकिन वे तो एक दूसरे सत्य की खोज में हैं—मृत्यु पर विजय पाने का सत्य।

राघव शरण अनुभव करते हैं कि उनके जीवन की अवधि कम है तथा प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ विपुल मात्रा में हैं। अल्पावधि में सब पढ़ लेना संभव नहीं। पता नहीं, सत्य वे पा भी सकेंगे या अध्ययन के क्रम में ही गुजर जायेंगे।

कैंसर की बीमारी और मृत्यु-चिंता से राघव शरण का बदन पीला, उदास, निस्तेज दुबला होने लगता है। उनकी पत्नी अपने जाते हुए सुहाग को देखकर छिप-छिपकर रोती रहती है। सारा परिवार दुःख और व्यथा में डूबता जाता है। राघव शरण के न रहने की कल्पना मात्र से ही उनके परिवार के होश उड़ने लगते हैं। ऐसे ही समय एक रात अपने विस्तरे पर पड़े-पड़े राघव शरण की व्यथा और वेचैनी चरम विन्दु पर पहुँच जाती है। उन्हें लगता है कि कायरों और बुजदिलों की तरह वे चुपचाप आने वाली मृत्यु का इन्तजार कर रहे हैं। कि उन्हें इस तरह हाथ-पर-हाथ रखकर नहीं बैठना चाहिए। कि इस महल में छिपकर जब वे मृत्यु से बच नहीं सकते तो फिर यहाँ क्यों छिपे हैं? सत्य की खोज में क्यों नहीं निकलते? जोखिम मोल लेकर और घर-परिवार को त्याग कर ही सत्य को पाया जा सकता है। मृत्यु आनी होगी तो कहीं भी आयेगी। बैठकर धीरे-धीरे काल के गाल में जाने की अपेक्षा काल को परास्त करने के लिए संघर्ष-यात्रा पर चल देना ही बेहतर होगा··! आधी रात की इस वेला में जब घर-परिवार और सारा शहर सोया है, गौतम बुद्ध की तरह अपनी पत्नी, बाल-बच्चे, महल और सारे वैभवों को त्याग कर चल देना चाहिए···! और राघव शरण चल देते हैं ··!

□

घर से भागने के बाद राघव शरण ने कैसे रातों-रात वह शहर छोड़ दिया? कि कैसे विभिन्न तीर्थों एवं धर्म-स्थलों में घूमते हुए उन्हें संतों की संगति प्राप्त हुई? कि कैसे जंगलों और पहाड़ों से गुजरते हुए हिमालय की तराई में एक सिद्ध महात्मा का उन्हें दर्शन हुआ? कि कैसे उस महात्मा जी ने उन्हें अपना शिष्य बनाया? कि कैसे गुरुदेव के निर्देशन में योग-साधना से वे अवगत हुए? कि अपने गुरुदेव के आदेशानुसार एक निर्जन स्थान में कैसे वे लम्बे समय तक समाधिस्थ रहे? कि कैसे उन्हें अमरत्व की प्राप्ति हुई? यह बहुत लंबी कहानी है। यहाँ विस्तार से उसका जिक्र संभव नहीं हो पायेगा। उनके बारे में संक्षिप्त सूचना यह है कि घर से भागने

के १२० वर्ष बाद अमरत्व प्राप्त कर वे वापस लौट चलते हैं···।

हजारों मील की लंबी यात्रा के फलस्वरूप राघव शरण जब अपने शहर पहुँचते हैं तो पाते हैं कि उनका शहर आश्चर्यजनक रूप से बदल गया है। वे पहचान नहीं पाते हैं कि यह उनका शहर है, जिसके हर मुहल्ले और चौराहे से वे परिचित थे। जिसकी हर गलियाँ जानी-पहचानी थीं। अपने इस छोटे शहर को टहलने के क्रम में ही वे इस छोर से उस छोर तक नाप लेते थे। लेकिन अब वह शहर यह रहा नहीं। शहर के बाहर दूर तक फैले जंगल का कहीं अता-पता नहीं। उस जंगल में एक-से-एक हिंसक जानवर रहते थे। लेकिन उस जंगल के स्थान पर ऊँची-ऊँची अट्टालिकायें बन गयी हैं। शहर का सबसे बड़ा मुहल्ला बस गया है। उस मुहल्ले को देख कर कोई यह सोच ही नहीं सकता है कि कभी यहाँ कोई घना जंगल भी होगा। शहर के बाहर की बस्तियाँ, नदी-नाले और मैदान सब शहर की परिधि में आ गये हैं। शहर ने अपने आसपास के इलाकों को अजगर की तरह लील लिया है। शहर के बाहर के प्राकृतिक दृश्य और शहर को स्वच्छता प्रदान करने वाले वातावरण सब शहर की पेट में समा गये हैं। उन्हें यह देखकर गहरा आश्चर्य होता है कि उनका साफ-सुथरा छोटा शहर एक प्रदूषणयुक्त महानगर में बदल गया है। उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगता है। यह सब क्यों हो गया? कैसे हो गया? अपने जिस शहर का सपना संजोये वे लौटे थे, वह शहर कहाँ चला गया? उनका मन तिक्त हो जाता है।

राघव शरण को बहुत पूछताछ करने के बाद अपने शिवपुरी मुहल्ले का पता मिलता है। उनके मुहल्ले का नाम शिवपुरी से कैसे सुन्दरपुरम हो गया, उन्हें कोई जानकारी नहीं मिलती है। वो तो एक-दो बुड्ढ़े बताते हैं कि सुन्दरपुरम ही पहले का शिवपुरी मुहल्ला है, तब वह जान पाते हैं।

अपने मुहल्ले में पहुँचकर राघव शरण पाते हैं कि शहर की तरह उनके मुहल्ले का नक्शा भी पूरी तरह बदल गया है। न वे गलियाँ हैं। न वे मकान हैं। लोगों ने अपनी इच्छानुसार इतना परिवर्तन किया है कि अब वह मुहल्ला रहा ही नहीं। उन्होंने सोचा था कि बिना किसी से कुछ पूछे सीधे अपने मकान पर पहुँच जायेंगे। लेकिन उन्हें अपना मकान पहचान में ही नहीं आ रहा है। सारी दोपहरी पूरे मुहल्ले का चक्कर लगाते-लगाते जब वे थक जाते हैं और परेशान हो उठते हैं तो पूछना शुरू करते हैं। अपने तीनों पुत्र ज्वाला प्रसाद, बाला प्रसाद और लाला प्रसाद का नाम लेकर वे पूछते हैं कि उनका घर कहाँ है? जवाब में लोग बताते हैं कि उस नाम के आदमी यहाँ नहीं। इस पर वे बहुत दुःखी हो जाते हैं। क्या वे किसी दूसरे शहर और किसी दूसरे मुहल्ले में पहुँच गये हैं?

राघव शरण के दिमाग में एक बात सूझती है। अब वे जिस किसी से अपने पुत्रों के बारे में पूछना चाहते हैं, पहले उसका हुलिया लेने लगते हैं कि वह इस मुहल्ले में कब से रह रहा है? इस संदर्भ में वे पाते हैं कि स्थायी रहने वाले नहीं के बराबर हैं। अधिकतर किरायेदार हैं। कुछ मकान मालिक भी मिलते हैं। लेकिन किरायेदारों की तरह ही अस्थायी। दूसरी जगह का मकान बेचकर यहाँ बनाया है या हाल ही में नौकरी के संदर्भ में स्थानान्तरण होकर आने पर मकान खरीद लिया है। और स्थायी रूप से यहाँ रहेंगे, इसकी भी कोई निश्चितता नहीं। कहीं भी और कभी भी मकान बेच देंगे। खरीद लेंगे।

राघव शरण चिंता में पड़ जाते हैं कि अपना मकान वे कैसे ढूंढ़ें? मुहल्ले के स्थायी बाशिंदे तो अब रहे नहीं। वे महसूस करते हैं कि उनके जमाने के इस स्थायी मुहल्ले की स्थिति

चलती हुई ट्रेन की हो गयी है जिस पर लोग समयानुसार उतरते-चढ़ते रहते हैं। उन्हें इन्हीं यात्रियों में अचानक पीर के मजार के बूढ़े मौलवी साहब मिल जाते हैं, जो बताते हैं कि ज्वाला प्रसाद, बाला प्रसाद और लाला प्रसाद वर्षों पहले दिवंगत हो चुके हैं। कि उनके लड़के भी बूढ़े हो गये। कि उनके नाती-पोते जवान हो गये हैं!

पुत्रों के निधन की सूचना से उनका मन व्यथित हो जाता है। उन्हें लगता है कि पुत्र जब गुजर गये तो उनकी माता तो पहले ही गुजर गयी होगी। एक क्षण तक दुःखी मन से सोचने के बाद जब वे अपना नाम लेकर मौलवी साहब से पूछते हैं कि उस नाम के आदमी के बारे में वे जानते हैं तो वे बताते हैं कि नहीं। तब वे मौलवी साहब से अपने दिवंगत पुत्रों का निवास पूछ दुःखी मन से वहाँ चल देते हैं।

अपने घर के समीप पहुँच कर राघव शरण को गहरी पीड़ी होती है उनका मकान कहाँ चला गया, जिसे वे अब तक ढूँढते रहे थे? उन्होंने अपने हाते में चारों तरफ काफी जमीन छोड़ कर बीच में मकान बनाया था। मकान एक तल्ला था। ऊपर छत पर सिर्फ एक बड़ा-सा कमरा था। शेष छत जानबूझ कर उन्होंने खाली छोड़ दी थी। गर्मी की रातों में तारों भरे आकाश के नीचे वे अपने परिवार के साथ खुली छत पर सोते थे। जाड़े के दिनों में अपने मकान के बगल की खाली जमीन में फूल-पत्तियों के बीच धूप का सेवन करते थे। उन्होंने ऐसा मकान बनाया था कि उस मकान में रह कर सुविधापूर्वक समय-समय पर धरती और आकाश का सेवन किया जा सके। लेकिन वे देखते हैं कि अब उस स्थान पर एक विशाल बहुमंजिली इमारत खड़ी है— नीचे से लेकर कई तल्ले ऊपर तक छोटे-छोटे क्वार्टरों की शृंखलाएँ! उनके एक मकान की जगह पर लगभग साठ क्वार्टर एक-दूसरे के ऊपर खड़े हैं और सब भरे हुए हैं। पता नहीं, इनमें सिर्फ उनके परिवार के लोग ही हैं या अन्य किरायेदार भी। उन्हें अपना यह परिवर्तित मकान बिल्कुल अरुचिकर प्रतीत होता है। धरती आकाश के बीच टँगे कबूतरखाने की तरह। दड़बेनुमा घरों में लोग कैसे रहते हैं? क्या उन्हें ऊब और घुटन महसूस नहीं होती? क्या धरती और आकाश के नैसर्गिक सुख-सौंदर्य का पान वे नहीं करना चाहते! उनके वंशजों ने उनके मकान की यह कैसी दशा कर दी? क्या उन्होंने इसे इस रूप में परिवर्तित किया। सब कुछ जानने की दुःखद जिज्ञासा उन्हें बैचेन कर देती है। मकान से बाहर आ रहे एक व्यक्ति को वे अपनी ओर मुखातिब करते हैं—"सुनिये!"

वह व्यक्ति नजर उठाकर उनका हुलिया देखता है। फिर जवाब देता है—"मैं एक जरूरी काम में हूँ। मुझे फुर्सत नहीं।"

वे कहते हैं—"एक मिनट मेरी बात तो सुन लीजिए।"

इस बार वह आदमी उनकी ओर देखता भी नहीं। जाते हुए ही कहता है—"इन क्वार्टरों में बहुत लोग रहते हैं। किसी से कुछ माँग लीजिए।"

वह आदमी चला जाता है। राघव शरण फटी-फटी आँखों से उसे देखते रहते हैं। उस व्यक्ति ने उनके साथ कैसा अशिष्ट व्यवहार किया? क्या वह उनके परिवार का ही कोई सदस्य है या किरायेदार वगैरह? कोई भी हो! दरवाजे पर आये अतिथि के साथ भला ऐसा व्यवहार किया जाता है?

अपने शहर और मुहल्ले का अरुचिकर परिवर्तन देखकर लौटने का राघव शरण का सारा उत्साह तो ऐसे ही समाप्त हो गया था, इस घटना के बाद तो वे और अधिक उदासीन हो उठते

हैं। चुपचाप खड़े-खड़े उस जाने वाले व्यक्ति के बारे में सोचते रहते हैं। अंततः यह सोचकर अपने मन को हल्का करते हैं कि उनकी तगड़ी कद-काठी माथे और दाढ़ी के लंबे घने बाल, साधु-संन्यासियों की वेश-भूषा देखकर ही उस व्यक्ति ने उनकी उपेक्षा की है। उसे लगा है कि कुछ माँगने के उद्देश्य से ही वे आये हैं। लेकिन उनके जमाने में तो साधु-अतिथियों का स्वागत और अधिक किया जाता था···?

पुनः एक व्यक्ति उस मकान से निकलता है। वे उस व्यक्ति के समीप लपकते हुए पुनः आवाज लगाते हैं—"सुनिये !"

वह व्यक्ति भी पलट कर उनका हुलिया देखता है। फिर बिना मुँह से कुछ बोले हाथ के इशारे से उन्हें मकान की ओर बढ़ जाने का संकेत करते हुए बिना रुके आगे बढ़ जाता है। राघव शरण अनुभव करते हैं कि पहले व्यक्ति की तरह यह व्यक्ति भी उन्हें भिखमंगा समझकर ही आगे बढ़ जाता है। लेकिन किसी से बातचीत किये बिना सिर्फ वेश-भूषा देखकर उसके बारे में कोई धारणा बना लेना कितनी गलत बात है !

इस बार बाहर से एक व्यक्ति आता है और उस बहुमंजिली इमारत की ओर बढ़ता है। राघव शरण पुनः आवाज लगाते हैं—"एक मिनट सुनियेगा भाई !"

लेकिन वह व्यक्ति न तो पलट कर उनकी ओर देखता है, न मुँह से कुछ बोलता है और न हाथ से कोई संकेत ही करता है। शायद आते हुए उसने उन्हें देख लिया है। वह तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ते हुए तीन-मंजिले के एक क्वार्टर के सामने की बालकनी में पहुँच जाता है, जहाँ से खड़ा होकर उन्हें हिकारत की नजरों से घूरने लगता है।

राघव शरण महसूस करते हैं कि तीनों व्यक्तियों ने उनकी उपेक्षा की है। पहले से दूसरे और दूसरे से तीसरे की उपेक्षा उन्हें ज्यादा कड़वी लगी है। अब किसी और से कुछ भी पूछने की उनकी इच्छा जाती रही। अपने ही दरवाजे पर उन्हें कितना अपमानित होना पड़ रहा है। घर से बाहर पहाड़ों एवं जंगलों पर रहने की अवधि में उन्होंने सुना था कि देश का सर्वांगीण विकास हो रहा है। गाँवों एवं शहरों को आदर्श के साँचे में ढाला जा रहा है। लोगों को शिक्षित बनाने के साथ-साथ उनके जीवन को सुखी एवं समृद्धशाली बनाने का प्रयास जारी है। राघव शरण सोचते हैं कि क्या यह उसी प्रयास का परिणाम है ? उनकी पीड़ा और बढ़ जाती है···!

राघव शरण के साथ उन तीनों व्यक्तियों ने ऐसा बेरुखा व्यवहार क्यों किया, इस विषय पर बहुत विचार-विमर्श करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आगन्तुकों या अजनबी लोगों के प्रति उनका दृष्टिकोण ऐसा ही बना दिया गया है। दूसरी बात वे यह महसूस करते हैं कि वे तीनों बहुत जल्दी में थे। शायद उनके पास एक मिनट के लिए भी अतिरिक्त समय नहीं। लेकिन यह ठीक तो नहीं। मनुष्य का दृष्टिकोण ऐसा हो जाय और वह इतनी जल्दबाजी में रहने लगे कि बुनियादी मानवीय गुणों से वंचित हो जाय तो फिर मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या रह जायेगा ? वे भारी मन लिये चुपचाप खड़े रहते हैं। मकान से बाहर जाते एवं भीतर आते व्यक्तियों से अब वे कुछ भी नहीं पूछते हैं।

देर तक राघव शरण को इस तरह खड़े देख नीचे के क्वार्टर के दरवाजे पर एक वृद्ध महिला उपस्थित होती है। उसके हाथों में भिक्षा देने के लिए एक पात्र है, जिसमें अनाज के कुछ दाने हैं। राघव शरण को वह समीप बुलाती है। राघव शरण का अन्तर मर्माहत हो जाता है। अपने जिस घर के लिए अमरत्व प्राप्ति कर वे व्यग्रता से वापस लौटे हैं, उस घर के सामने अब

उनकी हैसियत मात्र एक भिखारी की हो गयी है। वे एक क्षण के लिए पूर्ववत: खड़े रहते हैं। फिर अपने पीड़ित मन को दृढ़ करते हुए यह सोचकर उस वृद्धा के समीप चल देते हैं कि इसी बहाने उस वृद्धा से अपने बेटों-पोतों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

जब राघव शरण उस वृद्धा के समीप पहुँचते हैं तो वह भिक्षा पात्र उनकी ओर बढ़ाने लगती है। इस पर वे हाथ जोड़कर जवाब देते हैं—"माता जी, मैं भिक्षा माँगने नहीं आया हूँ। वर्षों पहले यहाँ मेरा मकान था। मेरे परिवार के लोग थे। उन्हीं की खोज-खबर लेने आया हूँ…।"

इस पर वह वृद्धा पूछती है—"किन लोगों की ?"

वह बताते हैं—"ज्वाला प्रसाद, बाला प्रसाद एवं लाला प्रसाद की…!"

वृद्धा कहती है—"इन लोगों को मैं नहीं जानती। इनका नाम पहले भी मैंने नहीं सुना है…।"

वे वृद्धा से पूछते हैं—"आपके पति हैं? शायद वे कुछ बता सकें…?"

वृद्धा जवाब देती है—"मेरे पति वर्षों पहले दिवंगत हो चुके हैं।"

इस पर वे पुन: प्रश्न करते हैं—"तब आपके परिवार में और कोई पुरुष पात्र ?"

वृद्धा बताती है—"मेरा लड़का है। बैंक में नौकरी करता है, दफ्तर गया है। शाम को आयेगा। लेकिन फिर नाइट कॉलेज चला जायेगा। उसके पास एक मिनट का भी समय नहीं…!"

राघव शरण पूछते हैं—"अच्छा, यह तो बताइये कि यह आप लोगों का अपना घर है या आप लोग किराये पर हैं ?"

वह कहती है—"हम लोग किराये पर हैं।"

राघव शरण के चेहरे पर पुन: चिंता की लकीरें उभर आती हैं। अब वे क्या करें? किससे पूछें? किंकर्त्तव्यविमूढ़ की स्थिति में उस वृद्धा के समक्ष खड़े रहते हैं। इस पर वह वृद्धा कहती है—"उस दायीं ओर के क्वार्टर में प्रसाद टाइटिल के एक व्यक्ति रहते हैं। शायद वे आपको कुछ बता सकें।"—और वृद्धा हाथ के इशारे से उस क्वार्टर की ओर संकेत करती हैं। इसके बाद मंत्रचालित मशीन की भाँति वे उस क्वार्टर के समीप चल देते हैं।

उस क्वार्टर के समीप पहुँच कर राघव शरण देखते हैं कि नरेश प्रसाद के नाम का एक बोर्ड लगा है। वे दरवाजे पर दस्तक देते हैं। अन्दर से एक सत्रह-अट्ठारह साल की क्वांरी कन्या आती है। फिर उनका हुलिया देख बिना उनसे कुछ पूछे वापस चल देती है। शायद उन्हें भिखारी आदि समझ कुछ ले आने जा रही हो। लेकिन वे आवाज लगा कर बीच में ही उसे रोक लेते हैं—"बेटी, मैं कुछ माँगने नहीं आया हूँ। इस मकान में श्री नरेश प्रसाद रहते हैं ?"

वह कहती है—"हाँ, वे मेरे डैडी हैं।"

इस पर वे कहते हैं—"मुझे उनसे मिलना है।"

कन्या अन्दर चली जाती है। फिर शीघ्र ही वापस आती है—"आपका क्या नाम है? आप कहाँ से आये हैं ?"

वे जवाब देते हैं—"मेरा नाम राघव शरण है। मैं हिमालय की तराई से आया हूँ।"

कन्या फिर अन्दर जाती है। फिर वापस आती है—"क्या काम है? किसी मंदिर आदि के लिए चंदे की बात है क्या ?"

वे कहते हैं—"नहीं, मैं कुछ भी लेने नहीं आया हूँ। उनसे मुझे एक आवश्यक जानकारी लेनी है।"

वह पुनः अन्दर जाती है। फिर बाहर आकर कहती है—"इस समय डैडी आराम कर रहे हैं। शाम पाँच बजे आइयेगा···।"

वे अनुनय के-से स्वर में कहते हैं—"बेटी, मैं बहुत दूर से आया हूँ और देर से जानकारी के लिए भटक रहा हूँ···।"

कन्या फिर अन्दर चली जाती है। इस बार थोड़ी देर बाद आँखों पर चश्मा लगाये एक वृद्ध अन्दर से आते हैं—"क्या काम है ? आप कौन हैं ?"

राघव शरण एक क्षण तक उस वृद्ध को देखते हैं। फिर पूछते हैं—"ज्वाला प्रसाद, बाला प्रसाद एवं लाला प्रसाद के बारे में आप जानते हैं ?"

इस पर वे वृद्ध राघव शरण के चेहरे पर अपनी नजरें टिकाते हुए कहते हैं—'उनके बारे में आप क्या जानना चाहते हैं ? मैं बाला प्रसाद का ही पुत्र हूँ।"

बस, इतना सुनते ही राघव शरण का चेहरा खिल उठता है। वे 'आप' की जगह 'तुम' का सम्बोधन करते हुए सुखद आश्चर्य से बोल उठते हैं—"तुम बाला के पुत्र हो ? युग-युग जियो बेटा ! मैं तुम्हारा दादा राघव शरण हूँ। यह मेरे मकान की कैसी दुर्गति बना रखी है तुम सबों ने ? परिवार का हाल सुनाओ ! और कौन-कौन लोग बचे हैं परिवार में···?"

इस पर वे क्रोध प्रकट करते हुए सख्त शब्दों में कहते हैं—"ए साधु ! यहाँ तुम्हारी दाल गलने वाली नहीं। दुनिया बहुत आगे बढ़ चुकी है। मैंने अपने बाल धूप में सफेद नहीं किये हैं। किसी और को मूर्ख बनाना। यहाँ से अपना रास्ता नापो···!"

यह सुन राघव शरण के होश उड़ जाते हैं। अचानक वे आसमान से जमीन पर आ गिरते हैं। उन्होंने सोचा था कि घर पहुँचने पर उनके वंशज सुखद आश्चर्य से उछल पड़ेंगे। कि उनके मुहल्ले से होते हुए यह खबर सारे शहर में फैल जायेगी। कि लोग उनका दर्शन करने एवं आशिष पाने के लिए उमड़ पड़ेंगे। कि उनके वंशज उनका पाँव पखारेंगे। आरती उतारेंगे। उनकी पूजा करेंगे। लेकिन यहाँ तो बिल्कुल उल्टी बातें घटित हो रही हैं। लोगों को यह क्या हो गया है ? लोग ऐसा कैसे बन गये है ?···!

राघव शरण भौंचक हो उस वृद्ध की ओर ताकते रहते हैं। उस वृद्ध के पास आस्था और विश्वास नाम की कोई चीज नहीं। अपने जिस मकान और परिवार में स्थायी रूप से रहने के लिए वे अमरत्व प्राप्ति कर लौटे हैं, क्या यही उनका मकान और परिवार है ? अगर ये लोग उन्हें पहचान भी लेते हैं तो क्या ऐसे लोगों के बीच वे रह पायेंगे ? एक दुःखद पश्चाताप भरे अंतर्द्वन्द्व के बीच वे घिर जाते हैं। उन्हें चुपचाप खड़े अपने ऊपर टकटकी लगाये देख वे वृद्ध कहते हैं—"किसी गाँव में चले जाओ साधु ! वहाँ ठगना आसान होगा। यहाँ किसी कों ठग नहीं पाओगे···।"

—और वे वृद्ध तिरस्कार भरी निगाहों से उन्हें घूरते हुए अन्दर चले जाते हैं। राघव शरण की इच्छा होती है कि वर्षों का मोह त्याग वापस लौट जायँ। अब यहाँ रहा ही क्या ? फिर यह सोचकर कि उनका परिवार बड़ा था, अन्य सदस्यों से भी मिल लें···अन्य सदस्य कैसे हैं ? कौन-कौन बचे हैं ? सबको देखने-जानने की जिज्ञासा से वे रुक जाते हैं।

कुछ समय बीत जाता है चिंताओं में डूबे वे ऐसे ही खड़े रहते हैं। अचानक वह कन्या

किसी कार्यवश दरवाजे की ओर फिर आती है। उन्हें पूर्वतः दरवाजे पर खड़े पा तेजी से अन्दर लौट जाती है। इस बार वे वृद्ध गुस्से में तमतमाते हुए आते हैं—"क्या विचार है साधु! सीधे मन से वापस चले जाओगे या पुलिस को बुलाना पड़ेगा···।"

राघव शरण कहते हैं—"ईश्वर साक्षी है बेटा! मैं किसी को ठगने या किसी से कुछ भी लेने नहीं आया हूँ···अपने घर-परिवार के लोगों की जानकारी ले लूँ और उनसे मिल लूँ तो चला जाऊँगा···।"

वे वृद्ध कहते हैं—"इससे बड़ा फरेब और क्या करोगे? जो दादा सैकड़ों वर्ष पहले कैंसर की बीमारी से मर चुके उनके नाम पर धोखा देने आये हो···!"

इस पर राघव शरण कहते हैं—"मैं कैंसर से मरा नहीं था बेटा! तुम्हारे बाप बाला ने बताया होगा, मैं आधी रात को घर से भाग गया था···फिर जंगलों और पहाड़ों की खाक छानते हुए मुझे संतों की संगति प्राप्त हुई थी। इसके बाद वर्षों की साधना के पश्चात यहाँ लौटा हूँ···!"

वे वृद्ध कुटिल भंगिमा प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—"अच्छी कहानी गढ़ ली है साधु! लेकिन तीर्थ के पंडे तो तुमसे भी आगे कई पीढ़ियों का इतिहास अपने पास रखते हैं। पर अब कोई मूर्ख नहीं रहा। तुम तो सिर्फ एक दिवंगत व्यक्ति का नाम बेच रहे हो। यहाँ तो कई लोगों ने अपने को ईश्वर घोषित कर दिया है···उनमें कुछ ईश्वर अभी भी जेलों में बंद हैं!"

राघव शरण चौंक उठते हैं—"क्या कहा! लोगों ने अपने को ईश्वर घोषित कर लिया है और ईश्वर जेलों में बंद हैं···हे भगवान यह सब मैं क्या सुन रहा हूँ···।"

वे वृद्ध कहते हैं—"भोले न बनो साधु! वे सब तुम्हारी तरह ही हैं। प्रपंच छोड़कर कहीं और प्रस्थान करो!"

राघव शरण को यह समझ में नहीं आता है कि इस आदमी से वे बात आगे बढ़ायें तो कैसे? एक ही भाषा में दोनों की जीवन-दृष्टि का अन्तर इतना विकसित हो चुका है कि एक-दूसरे के लिए शब्दों का अर्थ पूर्णतः बदल गया है। राघव शरण सोचते हैं कि अपने कथन को विश्वसनीय बनाने के लिए कौन-सी बात कहें, कोई सूत्र उन्हें हाथ नहीं लगता है। अंततः निराश हो अनुनय के-से स्वर में कहते हैं—"ज्वाला प्रसाद और लाला प्रसाद के पुत्र कहाँ हैं?"

इस पर वे वृद्ध कहते हैं—"उनकी जानकारी लेकर क्या उन्हें भी धोखा देने पहुँचोगे··· लेकिन वहाँ कोई धोखे में नहीं आयेगा···।"

राघव शरण कहते हैं—"नहीं···नहीं···मैं अपने को कैसे बताऊँ कि···मेरी प्रार्थना है मुझे कुछ जानकारी दे दो···।"

इस पर वे कहते हैं—"क्या जानकारी लोगे? ज्वाला प्रसाद के बाल-बच्चे नहीं हुए। वे वर्षों पहले गुजर गये। मैं अपने बाप का अकेला हूँ। मुझे एक लड़का है और एक लड़की। लाला प्रसाद के चार लड़के और तीन लड़कियाँ हैं। वे काफी समय से दिल्ली में रह रहे हैं। उनके बच्चे विदेशों से शिक्षा लेकर लौटे हैं। वे अपने गेट पर भी तुम्हें खड़ा नहीं होने देंगे। मेरी तरह उनके पास समय नहीं कि तुम्हारे साथ वक्त जाया करेंगे···।"

इसके बाद राघव शरण पूछते हैं—"ज्वाला प्रसाद आदि की माता का निधन कब हुआ था? कैसे हुआ था?"

वृद्ध कहते हैं—"इसकी मुझे कोई जानकारी नहीं।"

अब राघव शरण पूछते हैं—"ज्वाला प्रसाद आदि की तीन बहनें थीं—सुनंदा, सुनयना और सरस्वती···उनके परिवार का क्या समाचार है ? वे लोग कहाँ हैं ? कौन-कौन बचे हैं ?"

वृद्ध कहते हैं—"किसी पंडे के गिरोह के आदमी मालूम पड़ते हो साधु···पूरी जानकारी लेकर आये हो···लेकिन आज के इस वैज्ञानिक युग में अब किसी को भी छल नहीं पाओगे··· मुझे ज्वाला प्रसाद आदि की बहनों के बारे में विशेष जानकारी नहीं···पुराने सम्बन्ध आज नहीं चलते···किसको इतनी फुर्सत है···?"

अब राघव शरण पूछते हैं—"पुराने मकान की जगह यहाँ यह कबूतरखाना कैसे खड़ा हो गया ?"

वृद्ध कहते हैं—"इसे कबूतरखाना कहते हो साधु ! ये क्वार्टर बहुत आरामदायक एवं सुविधाजनक हैं। विज्ञान के विकास की देन हैं ये क्वार्टर कि इतनी कम जमीन में इतने फ्लैट्स बन गये। इन फ्लैटों में जागरूक लोग रहते हैं···उनके समक्ष तुम्हारी दाल गलने वाली नहीं···पुराना मकान किसी को पसन्द नहीं था···काफी जमीन के बीच एक छोटा-सा मकान···जमीन की बर्बादी थी। वर्षों पहले ज्वाला प्रसाद आदि ने ही भवन निर्माण से सम्बन्धित एक को-ऑपरेटिव के हाथों पुराना मकान और सम्बन्धित जमीन बेच दी थी नये सिरे से बन जाने के बाद इसी में का एक क्वार्टर मैंने अपने लिये ले लिया है···और क्या पूछोगे ? अब तो जान छोड़ो; मैं रिटायर्ड आदमी हूँ इसीलिए इतना समय भी दे दिया। और लोग तो तुमसे बातचीत ही नहीं करेंगे··।"—इतना कह कर वे वृद्ध अन्दर चले जाते हैं। राघव शरण भौंचक हो खड़े रहते हैं। कुछ वर्षों के अन्तराल में ही वे अपने घर-परिवार के लिए कितने अजनबी बन गये हैं ! अगर वे जानते कि दुनिया इतनी बदल जायेगी तो इस दुनिया के लिए इतनी आसक्ति पालते ही नहीं। उन्हें गहरा पश्चाताप होने लगता है। अमरत्व प्राप्ति के बाद वे पहली बार थकान का अनुभव करते हैं। फिर समीप ही एक कोने में खुले आसमान के नीचे कुश की अपनी आसनी बिछा बैठ जाते हैं।

□

शाम घिरने लगती है। विभिन्न दफ्तरों से कार्य कर औरत-मर्द तथा स्कूल-कॉलेजों से पढ़ कर लड़के-लड़कियाँ वापस आने लगते हैं; उनके हाते के बहुमंजिली इमारत के सामने स्कूटर, मोटर साइकिल, जीप, कार और रिक्शों का ताँता लग जाता है। विभिन्न सवारियों से उतर कर लोग सीढ़ियों के सहारे अपने-अपने दड़बों में घुसते चले जाते हैं। राघव शरण को यह देख कर गहरा आश्चर्य होता है कि इतने लोग इस इमारत में कैसे अंट गये और कैसे रह लेते हैं ? उनकी आँखों के सामने अतीत का वह दृश्य घूम जाता है जब इस जगह प्रकृति के खुले वातावरण में उनका एक छोटा-सा प्यारा मकान था···! क्या लोगों के रहने के लिए अब पर्याप्त जगह नहीं रह गयी है। या इसी तरह दड़बों में रहना ही लोगों को पसंद है, उन्हें कुछ भी समझ नहीं आता है !

राघव शरण अपने पोते को लेकर सोचते हैं कि उसे उनकी बातों पर तनिक भी विश्वास नहीं। अगर विश्वास न भी होता तब भी सहानुभूतिपूर्वक उनकी पूरी बात तो उसे सुननी चाहिए थी। उनकी बातों की सत्यता की जाँच करनी चाहिए थी। लेकिन जैसे पहले ही से धारणा बनी हो कि उनकी तरह के लोग पाखंडी होंगे। उसी तरह का व्यवहार उसने किया। तो क्या उनकी वेशभूषा में पहले भी किसी ने आकर उसे धोखा दिया है ? अगर ऐसा हुआ है

तो उसे बताना चाहिए था। फिर उनके कानों में अपने पोते का यह कथन गूँजने लगता है कि कई लोगों ने अपने को ईश्वर घोषित कर दिया है और कई ईश्वर जेलों में बंद हैं। तो क्या यह सब भी यहाँ होने लगा है ? हे प्रभु ! मैं यह सब क्या सुन रहा हूँ ? क्या यह मेरा शहर नहीं ? मेरा घर-परिवार नहीं ? सब कुछ इस रूप में कैसे बदल गया ? उन्हें अच्छी तरह याद है, जब वे यहाँ रहते थे तो दुनिया इस रूप में बदलती हुई तनिक भी जान नहीं पड़ती थी। फिर एकाएक इतना कैसे बदल गई ?

शाम गहरा जाती है। अचानक एक युवक मोटर साइकिल से आता है और उनके पोते के क्वार्टर की ओर चल देता है। वे गौर से उसे देखने लगते हैं शायद उनके पोते का लड़का हो ! उनके पोते ने बताया था कि उसे एक लड़का और एक लड़की है। लड़की को तो वे देख ही चुके हैं। लड़की की तरह ही नाक-नक्स देख उन्हें लगता है कि अवश्य यह उसी का लड़का है। फिर उनकी आँखें स्नेह से भर जाती हैं। अपने परिवार की तीसरी पीढ़ी को वे देख रहे हैं···!

वह युवक क्वार्टर के अन्दर जाता है। फिर शीघ्र ही बाहर आता है और इधर-उधर नजर घुमा कर किसी को ढूँढ़ने लगता है। फिर उन पर नजर पड़ते ही उनके समीप बढ़ चलता है। उनका मन खुशी से हुलसित-पुलकित होने लगता है। घर के अन्दर उनके बारे में जानकारी प्राप्त कर उनके पोते का लड़का उनसे मिलने आ रहा है। लेकिन समीप आने पर इससे पहले कि अपना आशिष भरा हाथ वे उसके माथे पर रखते वह क्रुद्ध शब्दों में कहता है—'तो तुम्हीं हो जो मेरे डैडी को धोखा देने आये हो···अभी आज के अखबार में तुम्हारी तरह ही एक विदेशी गुप्तचर के पकड़े जाने की खबर आयी है···इसी लिबास में तथा इसी तरह बाल-दाढ़ी बढ़ा कर वह जासूसी करता था···अभी अपना रास्ता लोगे या पुलिस को बुलवाऊँ ?

राघव शरण के मुँह में स्नेह-आशिष के शब्द भरे थे। लेकिन अचानक उनकी बोलती बंद हो जाती है। उनके पोते का लड़का तो उनके पोते से भी बेरुखा और अमानवीय है ! वे आवाक् हो उसके चेहरे की ओर ताकने लगते हैं कि उनके वंशज कितने गये-गुजरे हैं ?

उन्हें चुप देख वह युवक पुन: पाँव पटकते हुए गरजता है—"गूँगे-बहरे हो क्या ? तुम्हीं से पूछ रहा हूँ···यहाँ से हटोगे या पुलिस को खबर करूँ ?"

एक क्षण के लिए राघव शरण को समझ में नहीं आता है कि वे क्या करें ? फिर स्वतः उनके मह से बोल फूट पड़ते हैं—"बेटा ! इस रात को कहाँ जाऊँ ? किसी से कुछ भी माँग नहीं रहा हूँ। किसी को कुछ भी अनिष्ट पहुँचाने नहीं आया हूँ। रात-भर मुझे रहने दो। सुबह चला जाऊँगा···।"

वह युवक क्रुद्ध नजरों से एक क्षण के लिए उन्हें घूरता रहता है। फिर वापस क्वार्टर में चला जाता है।

राघव शरण के अन्दर दुःख, पीड़ा, आश्चर्य एवं पश्चाताप के भाव चरम बिन्दु पर पहुँच जाते हैं। वे इस जगह के मालिक थे—इस परिवार के स्वामी। लेकिन यहाँ के अब वे भिखारी, पाखंडी और जासूस बन गये हैं। उनकी इच्छा होती है कि चिल्ला-चिल्ला कर इस बहुमंजिली इमारत में रहने वाले तमाम लोगों को अपनी कहानी बता दें। लेकिन फिर उन्हें लगता है कि उनकी बात लोग क्यों सुनेंगे ? अगर सुनेंगे भी तो कतई विश्वास नहीं करेंगे···उल्टे उन्हें सिर-फिरा, पाखंडी या घुसपैठी समझ दंडित करना शुरू कर देंगे। इसीलिए अन्दर से उफनते हुए

भी कुछ कह नहीं पाते हैं। अपने भीतर के तूफान को अन्दर ही अन्दर जज्ब करते रहते हैं।

राघव शरण के अन्दर क्रोध की शुरुआत यहीं से होती है। उन्हें लगता है कि 'बिनु भय होहिं न प्रीति।' अधिकार माँगने से नहीं मिलता। अपने अधिकार एवं हक के लिए लड़ना ही पड़ता है। उन्होंने अदालत की सहायता लेनी चाहिए। अदालत से जब अपने होने की प्रमाणिकता लेकर आयेंगे तब उनके वंशजों को पता चलेगा! लेकिन फिर उन्हें लगता है कि अदालत में उनके वंशजों की तरह ही लोग होंगे। वहाँ न तो कोई उनकी बात मानेगा और न सुनवाई ही करेगा। उनकी तरह के लोग तो अब रहे नहीं। इस बिन्दु पर पहुँच कर वे महसूस करते हैं कि युग के परिवर्तन के साथ सारे मूल्य एवं नियम-कानून इस तरह बदल गये हैं कि वे बिल्कुल अकेले पड़ गये हैं—नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह।

शाम रात में बदल जाती है। रात का पहला पहर शुरू हो जाता है। बहुमंजिली इमारत के विभिन्न क्वाटरों में बिजली की बत्तियाँ जल जाती हैं। सड़क के किनारे की ट्यूब लाइट प्रकाशमान हो जाती है। स्त्री-पुरुष के विभिन्न जोड़े हाथ में हाथ डाले सड़क पर निकल आते हैं।

राघव शरण एक कोने में छिप कर बैठे सब कुछ देख रहे हैं। क्या ये पति-पत्नी हैं या गैर औरत-मर्द? गैर औरत-मर्द इस रूप में नहीं हो सकते! अवश्य ये पति-पत्नी ही होंगे! लेकिन पति-पत्नी हैं तो क्या प्रेमाभिव्यक्ति के लिए एकान्त स्थान इन्हें नहीं मिलता? इस तरह सड़क पर खुलेआम एक-दूसरे का हाथ थामे चलना घोर अनैतिक एवं अशिष्ट कार्य है। नई उम्र के बाल-बच्चों पर इसका कितना बुरा असर होगा?

वे देखते हैं कि बहुमंजिली इमारत के सामने रंग-बिरंगी पोशाकों में इत्र और सेंट की खूशबू बिखेरते अनेक युवक जुटने लगते हैं फिर मुँह से अलग-अलग ढँग की ध्वनियाँ निकालते हैं। प्रत्युत्तर में बहुमंजिली इमारत की विभिन्न खिड़कियाँ खुल जाती हैं, जहाँ युवा लड़कियों के चेहरे दिखाई पड़ने लगते हैं। किसी खिड़की से पत्र गिराया जाता है। किसी खिड़की से मुआयना करने के बाद लड़की शीघ्र ही अपने प्रेमी के पास नीचे उतर आती है। फिर आलिंगन एवं प्रेमालाप का दृश्य शुरू हो जाता है···।

कुमार्ग की ओर बढ़ रही इस नई पीढ़ी को देख कर राघव शरण सोचते हैं कि क्या इनके अभिभावक इससे अवगत नहीं? फिर उन्हें लगता है कि सब क्वार्टरों से तो लोग देख ही रहे हैं। देखते हुए भी न देखने का अभिनय कर रहे हैं। तो क्या अब यह सब वर्जित नहीं रहा है? घोर व्यभिचार और अनाचार का युग आ गया है···।

राघव शरण देखते हैं कि अचानक जीन्स की पैंट पहने एक पतली-पतली टाँगों वाला युवक सिगरेट पीते हुए उनके पोते के क्वार्टर के समीप आ जाता है। फिर मुँह से सीटी बजाता है। जबाव में उनके पोते की कन्या तत्क्षण बाहर आ जाती है। वह युवक कन्या का हाथ अपने हाथ में ले लेता है। फिर एक किनारे सट कर खड़े दोनों गुपचुप करने लगते हैं।

राघव शरण का खून खौल जाता है। उनके खानदान की लड़की इस रूप में और इस छोकरे की मजाल! पीठ पीछे ये लोग जो कुछ करें, अपनी आँखों के सामने वे यह कदापि बर्दाश्त नहीं करेंगे। हालांकि उन्हें लगता है कि परिवार के लिए अब तो वे कुछ रहे नहीं। साथ ही बीच में हस्तक्षेप करने का परिणाम भी अच्छा नहीं होगा। फिर भी वे अपने को रोक नहीं पाते

हैं। तत्काल उन दोनों के बीच पहुँच जाते हैं। वे दोनों अचानक उन्हें अपने समीप आया देख घबरा जाते हैं। वे सबसे पहले कन्या को दुत्कारते हैं—"शर्म नहीं आती तुम्हें···भला सयानी लड़की गैर युवक के साथ इस तरह मिलती है···पूरे खानदान की इज्जत मिट्टी में मिला रही हो ···भागो घर के अन्दर नहीं तो एक तमाचा कस कर लगाऊँगा···।"

वह लड़की माथा झुकाये घर के अन्दर चली जाती है। अब वे उस युवक को पकड़ते हैं—"किसी दूसरे के घर पहुँच उसकी लड़की को कुपंथ पर ले जाते हुए तुम्हें तनिक भी भय नहीं···भ्रष्ट, कुमार्गी, कुपथगामी··· आइंदे से इधर कभी पाँव मत रखना नहीं तो दोनों टाँगें तोड़ दूँगा···।"

वह युवक उनकी लबी-तगड़ी कद-काठी देख विरोध नहीं करता है। हाथ बाँधे वापस चला जाता है। लेकिन उसकी भृकुटी तनी रहती है।

राघव शरण क्रोध से हाँफने लगते हैं। हाँफते हुए ही अपनी जगह आते हैं और पद्मासन लगा बैठ जाते हैं। उनका मन अशांत एवं उद्विग्न हो उठा है। वे प्रभु के नाम का जप करते हुए अपने चित्त को सहज बनाने लगते हैं।

रात का दूसरा पहर शुरू हो जाता है प्रेमाभिव्यक्ति में लीन जोड़े अपने-अपने दरबों में वापस चले जाते हैं। सर्वत्र सूनापन बिखर जाता है। राघव शरण का मन अभी पूरी तरह सहज भी नहीं हो पाया है कि देखते हैं, सड़क को लाँघ कर चार-पाँच युवक उनकी तरफ आ रहे हैं। युवकों के हाथ में हंटर, बेल्ट, रॉड, हॉकी आदि हैं। समीप आने पर वे पहचान जाते हैं, उनके पोते की कन्या को गुमराह करने वाला युवक अपने कुछ साथियों को लेकर आया है। इससे पहले कि वे पास आने का कारण पूछते, वह युवक अपने साथियों से कहता है—"यही साधु है!"

इस पर उसका एक साथी कहता है—"इसकी दाढ़ी नोच ली जाय!"

दूसरा कहता है—"इसका पाँव पकड़ कर घसीटा जाय।"

तीसरा कहता है—"पहले जम कर इसकी मरम्मत की जाय।"

लेकिन चौथा कहता है—"साधु-संत मालूम पड़ता है। इस बार धमका कर छोड़ दिया जाय। आगे फिर गलती करेगा तो दंडित किया जायेगा।"

इसके बाद उनके पोते की कन्या का आशिक वह युवक एक लंबी चाकू राघव शरण के पेट में सटाते हुए कहता है—"ए साधु! इस बार छोड़ देता हूँ। आइंदे से बीच में टोक-टाक किया तो समूचा रामपुरी पेल दूँगा···समझे!"

वे युवक धमका कर चल देते हैं। राघव शरण को काटो तो खून नहीं। उनके साथ कभी ऐसा भी होगा, उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। हे प्रभो, अब और कौन-सा समय दिखाओगे? अन्दर ही अन्दर उन्हें गुस्सा भी आता है कि छोकरों के खिलाफ प्रतिकार क्यों नहीं किया? चुप क्यों रह गये? या तो इन छोकरों की धुनाई कर देते या उनके हाथों पीटे जाते! शोरगुल सुन लोगबाग जुटते तो अवश्य कोई फैसला होता। इस पर उन्हें लगता है कि लोग छोकरों का पक्ष ले लेते। सम्मिलित रूप से सब उन्हें पाखंडी और घुसपैठी समझते। तब उनकी और 'भद्' हो जाती।

राघव शरण के मन की अशांति और अधिक बढ़ जाती है। जब से वे आये हैं, कितनी उपेक्षा, अपमान और तिरस्कार का सामना उन्हें करना पड़ रहा है। किसी ने भी उनका कुशल-मंगल नहीं पूछा। एक गिलास पानी पीने का भी आग्रह नहीं किया। और तो और, खुद उनके

घर वालों ने भी दुत्कार दिया। उनके मुँह से अपने परिवार, आसपास के लोग और पूरे शहर के खिलाफ बद्दुआएँ निकलने लगती हैं। फिर किसी तरह अपने मन को नियंत्रित कर वे पूर्व प्रभु का नाम जपते हुए अपने को शांत करने लगते हैं।

रात का तीसरा पहर प्रारम्भ हो जाता है। वे नित्यक्रिया से निबटने के लिए तैयार करने लगते हैं। अक्सर वे ब्रह्ममुहूर्त में ईश्वर की उपासना करते आये हैं। लेकिन यहाँ उनकी अपनी जगह नई और अनपहचानी हो गयी है, इसीलिए वे तीसरे पहर के प्रारम्भ में ही च देते हैं। पता नहीं, कोई सरोवर या कोई वाटिका नजदीक मिले या दूर जाना पड़े?

राघव शरण अपने मुहल्ले को पार करते हुए आगे बढ़ चलते हैं। सड़क के आर-पार दोनों ओर विशाल बहुमंजिली इमारतें खड़ी हैं। ईमारतों के भीतर बिजली की दूधिया रोशनी जगमगा रही होती है, जो खिड़कियों एवं दरवाजों की दरारों से छन-छन कर सड़क पर आ रही होती है। राघव शरण अनुमान लगाते हैं कि इन इमारतों के निर्माण में काफी धन लगा होगा। वर्षों पहले उन्होंने जो अपना मकान बनाया था, उसी दौरान उन्हें यह अनुभव हुआ था कि मकान बनाने का कार्य काफी खर्चीला होता है। उस हिसाब से वे सोचते हैं कि इन इमारतों के निर्माण में बेशुमार सम्पत्ति खर्च हुई होगी। इस बिन्दु पर पहुँच कर उन्हें लगता है कि लोगों की समृद्धि बढ़ी है। लेकिन मात्र वैभवशाली होने से ही तो मनुष्य का विकास नहीं होता। मानवता से रहित यह विकास कदापि श्रेयस्कर नहीं।

राघव शरण एक मुहल्ले को पार कर दूसरे मुहल्ले में प्रवेश करते जाते हैं। शहर से बाहर किसी सरोवर या वाटिका की तलाश में वे बढ़े जा रहे हैं। अचानक वे एक ऐसे मुहल्ले में पहुँच जाते हैं कि उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं होता है। यहाँ इमारतें नहीं, सड़क के दोनों किनारे कच्ची मिट्टी के ढहते-गिरते मकान तथा झुग्गी-झोंपड़ियां खड़ी हैं। झोंपड़ियों से सटकर पूरे शहर की नाली गुजरती है, जो बेहद दुर्गन्ध देती है। इस दुर्गन्ध के बीच वे लोग कैसे रहते हैं!

राघव शरण देखते हैं, इमारत वाले मुहल्लों की भाँति यह मुहल्ला सोया नहीं है। झोंपड़ियों के भीतर मल-मूत्र पर रिरियाते नंग-धड़ंग बच्चे नजर आते हैं तथा दम्पत्ति लड़ते झगड़ते और गुदड़े-चिथड़े के बीच सोये-बैठे। फटेहाल और अभावों से पीड़ित लोग दीखते हैं। एक झोपड़ी में मर्द अपनी औरत पर प्रहार करता है। जवाब में वह औरत भी मर्द पर प्रहार करती हैं। तब क्रोध में आकर मर्द, औरत की साड़ी पकड़कर इतने झटके से खींचता है कि फटी-पुरानी साड़ी खुल जाती है। राघव शरण आगे बढ़ जाते हैं। एक दूसरे घर में देखते हैं कि औरत क्रोध में आकर मर्द के माथे पर तसले से इस तरह प्रहार करती है कि माथा फूट जाता है। वह माथा पकड़ कर बैठा रहता है। कुछ क्षण तक उस मुहल्ले का दृश्य देखने के बाद उन्हें सहज ही यह ज्ञात हो जाता है कि भीषण गरीबी के चलते ही वे यहाँ इस रूप में हैं और इस तरह आपस में लड़-झगड़ रहे हैं। एक ही शहर में इतनी विषमता? एक ओर बहुमंजिली इमारतें दूसरी ओर ऐसी स्थिति! उनके समय में भी विषमता थी। लेकिन विषमता से एक वर्ग का जीवन स्तर इस तरह प्रभावित हो, ऐसा कदापि नहीं था। अमीर-गरीब, बड़े-छोटे सब थे। सबों में अन्तर था। लेकिन अपने-अपने ढँग से खुशहाल थे।

राघव शरण आगे बढ़ते जाते हैं। शहर खत्म होता ही नहीं। क्या शहर के बाहर अब खुली जमीन नहीं? वे शहर के बाहर निकल जाने के लिए बेचैन हो उठते हैं तथा तेज-तेज चलने लगते हैं। लेकिन मकानों के काफिले समाप्त होते ही नहीं। उन्हें लगता है, अब कोई

सरोवर या वाटिका वे नहीं पा सकेंगे। चलते-चलते ही अगर भोर हो जायेगी तो उनका नियम भंग हो जायेगा। उन्हें हर हालत में ब्रह्ममुहूर्त तक अपनी जगह वापस हो जाना है, इसीलिए सरोवर या वाटिका की आस छोड़ अब वे शहर के भीतर ही कोई जलाशय आदि ढूँढ़ने लगते हैं, ताकि शीघ्र ही नित्यक्रिया से निबट सकें।

अचानक राघव शरण को शहर से होकर गुजरती एक नहर दिखाई पड़ती है। उनके व्यग्र मन को थोड़ी शांति मिलती है। सरोवर या वाटिका न सही, नहर तो है। किसी तरह काम चला लेंगे।

राघव शरण नहर के पास पहुँच जाते हैं। लेकिन यह क्या? नहर से तेज बदबू आ रही है। यह कैसी बदबू है? कहीं यह नहर न होकर शहर की गन्दगी के निकास के लिए कोई बड़ा-सा नाला तो नहीं है? फिर उन्हें लगता है, नाला इतना बड़ा और चौड़ा हो नहीं सकता है। साथ ही नाले से इस तरह का तीखा दुर्गन्ध भी नहीं आ सकता है। दुर्गन्ध से ऐसा प्रतीत होता है कि नाक कट जायेगी। उबकाई आने लगेगी···।

हठात् राघव शरण की निगाह नहर के पश्चिम में दूर तक उठी विशाल चाहर दीवारी और आसमान की ओर धुआँ छोड़ती ऊँची चिमनियों पर जा टिकती है। तो क्या उनके शहर में कोई बड़ा कारखाना स्थापित हो गया है? वे समझ जाते हैं, यह नहर, नाला और वास्तविक नहर नहीं, फैक्ट्री के गंदे पानी के निकास का मार्ग है। वे देर से सोच रहे थे कि आसमान की हवा स्वच्छ क्यों नहीं है? अब उन्हें इसका भी पता चलता है। लेकिन उनके भरे-पूरे शहर को प्रदूषित करने के लिए यहाँ फैक्ट्री क्यों बनायी गयीं? जानबूझ कर कल-कारखाने वाले बड़े नगरों में न बस वे साफ-सुथरे इस छोटे-से शहर में बसे थे। उसी वक्त बुद्धिजीवियों के बीच इस पर विचार किया जा रहा था कि औद्योगिक विकास के प्रदूषण से लोगों को कैसे बचाया जाय? कई विद्वानों ने यह सुझाव भी दिया था कि भरी-पूरी बस्तियों और स्वच्छ शहरों से दूर वियावान बंजरों में कारखानों का निर्माण किया जाय। लेकिन क्या बाद के वर्षों में इस विषय पर विचार नहीं किया गया? पहले की अपेक्षा यहाँ की हवा-पानी कितनी गंदी और वातावरण कितना घुटन भरा हो गया है? क्या अब वे इस शहर में पहले की तरह चैन से रह सकेंगे? फिर उनके अन्दर से स्वतः जवाब आता है—वे रहें या न रहें, और लोग तो रह ही रहे हैं···!

नहर के रूप में प्रवाहित फैक्ट्री के दूषित जल से अलग हट जाने की इच्छा राघव शरण को होने लगती है। लेकिन हट नहीं पाते हैं। न चाहते हुए भी उसी दूषित जल से नित्य-क्रिया सम्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा विकल्प उन्हें सूझता ही नहीं।

नित्यक्रिया से निपट राघव शरण वापस चल देते हैं। उनका मन संतुष्ट नहीं हो पाया है। शुद्ध हवा-पानी से वे वंचित रह गये। उनके साफ-सुथरे स्वच्छ शहर को कारखाना खोलकर बर्बाद कर दिया गया है। अच्छा हुआ, उनके परिवार वालों ने उन्हें नहीं पहचाना! अगर वे पहचान भी लेते तो क्या धूल, धुएं और दुर्गन्ध से भरे इस शहर में अब वे रह सकते थे? उन्हें खले और स्वच्छ वातावरण में रहने की आदत पड़ गयी है। इस जगह अब उनसे रहा नहीं जायेगा।

यहाँ राघव शरण के मन में यह प्रश्न उठता है कि देश के विकास के लिए ही तो कार-खानों का निर्माण किया गया है। इससे देश की प्रगति होगी। देश आतम-निर्भर होगा। लेकिन फिर उनके अन्दर से यह प्रश्न उठता है कि सब कुछ मनुष्य को स्वस्थ, सुखी एवं दीर्घायु बनाने

के लिए ही किया जाता है। किसी भी प्रगति और विकास का महती उद्देश्य यही होता है। लेकिन यहाँ तो बिल्कुल विपरीत परिणाम घटित हो रहे हैं। इस ओर विशेष ध्यान जाने की आवश्यकता है, अन्यथा जिस मनुष्य के नाम पर दुनिया विकसित की जा रही है, वह विकसित तो हो जायेगी लेकिन मनुष्य रोगी, दुखी और अल्पायु हो जायेगा। परिणामतः वह विकसित दुनिया का सुख भोग नही पायेगा। लेकिन वे कहें तो किससे कहें ? पीढ़ियों का अन्तराल इतना बढ़ चुका है कि संवाद की कड़ी बीच में ही टूट गयी है।

राघव शरण अपनी जगह वापस चले आते हैं। रात का तीसरा पहर बीत चुका होता है।

भोर होने पर अखबार वाले की आवाज से राघव शरण का ध्यान भंग होता है। वे सुनते हैं, अखबार वाला चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा होता है—'नगर के आठ व्यक्तियों की गोली मार कर निर्मम हत्या···चार बहुएँ जलायी गयीं·· तीन बैंक लूटे गये···दो अवयस्क लड़कियों के साथ बलात्कार···!'

राघव शरण सोचते हैं, सुबह-सुबह यह कैसी बुरी खबर सुनने को मिली। अब तो सारा शहर बन्द हो जायेगा। कई दिनों तक शहर पर मायूसी छायी रहेगी। अचानक यह अनहोनी कैसे हो गयी ?

बहुमंजिली इमारत की खिड़कियाँ और दरवाजे खुलते हैं। फिर अखबार लेकर बन्द हो जाते हैं। सड़क पर भीड़ नहीं जुटती। लोग प्रतिक्रिया में नहीं आते। राघव शरण का पोता भी अपने घर से निकलता है। फिर उन पर नजर पड़ते ही कहता है—"सुबह हो गई साधु! अब अपना रास्ता लो···!"—और अखबार लेकर घर के अन्दर चला जाता है।

राघव शरण को आश्चर्य होता है, इतने हिंसात्मक उपद्रव के बाद भी लोगों में कोई परिवर्तन नहीं। वे देखते हैं, धीरे-धीरे लोग अपने-अपने कार्यों में जुटने लगते हैं। लोगों की मशीनी दिनचर्या प्रारम्भ हो जाती है। फिर लोगों की गति एवं व्यवहार देख यह अन्दाजा लगा पाना मुश्किल जान पड़ता है कि नगर में इतनी हत्याएँ एवं उपद्रव हुए हैं। राघव शरण यह समझ नहीं पाते हैं कि लोग इन घटनाओं को इतनी सहजता से कैसे ले पाते हैं ? उनके जमाने में हत्याएँ होती थीं तो हफ्तों शहर बन्द रहता था। लोग उदास एवं मायूस दीखते थे। आतंकवाद के खिलाफ सामूहिक जेहाद छेड़ने के लिए सड़कों पर उतर आते थे। लेकिन क्या अब हत्या आदि की घटनाएँ इतनी आम हो गयी हैं कि लोग उन्हें सहजता से लेने लगे हैं।

राघव शरण को अतीत की घटनाएं याद आ जाती हैं। अपने इस शहर से सटे जंगलों में वे मित्रों के साथ शिकार करने जाते थे। हरियालियों के बीच घास चरते हिरण झुण्डों में से एक-दो हिरण वे अवश्य मार लेते थे। उस वक्त देखते, अपने मरे साथियों को छोड़कर आगे निकल गये हिरण अपने साथियों के लिए तनिक भी मायूस नजर नहीं आते। पुनः आपस में अठखेलियाँ करते हुए घास चरने लगते। तो क्या बहुमंजिली इमारतों में रहने वाले इन लोगों की मानसिकता पशुओं की तरह हो गयी है ?

सुबह का सूरज प्रकाशमान हो जाता है। राघव शरण अपनी बड़ी बेटी सुनन्दा को बहुत मानते थे, इसीलिए उसकी शादी दूर न कर अपने इसी शहर में किये थे, ताकि वह बराबर

नजदीक रह सके। सुनन्दा के पति का अपना मकान था। सुनन्दा के परिवार में और कौन-कौन लोग बचे हैं ? वे कैसे हैं ? सुनन्दा के घर के पास ही शिवदयाल का घर था। शिवदयाल उनके घनिष्ठ मित्र थे। शिवदयाल ने ही सुनन्दा की शादी करवायी थी। वे कैंसर की व्याधि से ग्रस्त हुए थे तो शिवदयाल ने उनके इलाज में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी थी। शिवदयाल का क्या हुआ ? उनके बेटे-पोते कैसे हैं ? सुनन्दा और शिवदयाल के परिवार से मिलने के लिए राघव शरण चल पड़ते हैं। उन्हें लगता है, युगानुकूल उनके पोते-परपोते की तरह वे भी बेरुखा व्यवहार करेंगे। लेकिन अब किसी के व्यवहार से उन्हें कोई मतलब तो है नहीं। अपने मन की शांति के लिए वे जानकारी ले लेंगे। किसी से कुछ और तो उन्हें लेना है नहीं।

राघव शरण अपने मुहल्ले को पार कर आगे बढ़ जाते हैं। अपने परिवर्तित मुहल्ले की जानकारी प्राप्त करने के लिए उन्हें जितनी पूछताछ करनी पड़ी थी और परेशानी उठानी पड़ी थी, उससे कम पूछताछ और कम परेशानी में ही उन्हें सुनन्दा और शिवदयाल का मुहल्ला मिल जाता है। लेकिन यह क्या ? मुहल्ले के नाम पर कारखाने के क्वार्टरों की एक लम्बी कॉलोनी बस गयी है। एक रंग के एक जैसे क्वार्टर। किसमें कौन रहता है, जानना मुश्किल ? वे सुनन्दा के पति और शिवदयाल का नाम लेकर पूछते हैं। कुछ लोग तो कोई जवाब नहीं देते। कुछ जवाब देते तो कहते कि इन नामों को नहीं जानते। उन्हें देर से बेचैन और परेशान देख सड़क के किनारे का एक पानवाला कहता है—"साधु बाबा ! जिन लोगों को आप खोज रहे हैं, उनके पद और क्वार्टर नं० बताइये। यहाँ नाम से कोई किसी को नहीं जानता…।"

वे कहते हैं—"वर्षों पहले यहाँ उनके मकान थे…।"

पानवाला कहता है—"गुजर गये लोगों के बारे में यहाँ कोई जानकारी आपको नहीं मिलेगी…।"

राघव शरण गहरे आश्चर्य में पड़ जाते हैं। वर्षों पहले उन्हें इस बात की आशंका थी कि अद्यौगिक विकास के साथ मनुष्य की वास्तविक पहचान गायब न हो जाय ? और आज वे वही देख रहे हैं। अब नाम, रूप-रंग और गुण नहीं, पद और क्वार्टर नम्बर ही मनुष्य की पहचान है। लेकिन यह कतई मुनासिब नहीं !

राघव शरण को सुनन्दा और शिवदयाल के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल पाती है। निराश हो वे अपने अन्य परिचितों की खोज में चल पड़ते हैं। पता नहीं, उन परिचितों के परिवार के लोग भी मिल सकेंगे या नहीं ?

अपने शहर की विभिन्न गलियों से गुजरते हुए राघव शरण जहाँ कुछ ओर पूरी तरह परिवर्तन देखते हैं, वहीं कुछ ओर पुरानी चीजें भी नजर आ जाती हैं, जैसे—कब्रिस्तान, गिरिजाघर, महावीर स्थान, चमकिली कोठी। पुरानी चीजें यथावत् देख राघव शरण रुक जाते हैं। उनकी आँखों के सामने अतीत के दृश्य गुजरने लगते हैं। उन चीजों का जी भर मुआयना करने के बाद वे आगे बढ़ते हैं।

सुबह से शाम तक राघव शरण अपने शहर का चक्कर लगाते रहते हैं। फिर शाम घिरते ही अपने मुहल्ले में वापस आ जाते हैं और पूर्वत: अपनी जगह आसन बिछाकर बैठे रहते हैं। वे काफी थक गये हैं। जहाँ तक संभव हो सका है, अपने शहर को उन्होंने घूम-घूमकर देखा है।

राघव शरण आराम की मुद्रा में अभी इतमीनान से बैठे भी नहीं थे कि सहसा उनके पोते और परपोते की नजर उन पर जा पड़ती है। फिर दोनों बाप-बेटे बाज़ की तरह

झपटते हुए उनके पास पहुँच आते हैं—"फिर तुम आ गये साधु ! अभी यहाँ से भागो···यहाँ डेरा-डंडा जमाना चाह रहे हो···अब हम एक क्षण भी तुम्हें बर्दास्त नहीं करेंगे···।"

राघव शरण को समझ में नहीं आता है कि वे क्या जवाब दें ! अनिर्णय की स्थिति में भौंचक हो वे उन दोनों का मुँह ताकने लगते हैं। इस पर वे दोनों चिल्लाते हैं—"देर मत करो साधु ! यहाँ किसी को चकमा नहीं दे पाओगे···एक रात कहकर फिर यहाँ आ धमके···जाल बिछा रहे हो···अभी इसी क्षण यहाँ से निकल जाओ···।"

राघव शरण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो निश्चल बने रहते हैं। इस वक्त वे जायें तो कहाँ जायें ? इस पर वे दोनों चिल्लाते हुए उनके हाथ पकड़ खींचने लगते हैं—"भागो···निकलो···अभी पुलिस बुलाते हैं···!"

शोरगुल सुन और हाथापाई की स्थिति देख कुछ लोग वहाँ आ जुटते हैं। आने के बाद अधिकांश लोग उनके पोते-परपोते का ही समर्थन करते हैं। एक कहता है—"ऐसे लोग पाखंडी होते हैं···ठगने और धोखा देने के लिए जाल बिछाते हैं···।"

दूसरा कहता है—"इस वेश में घुसपैठी और विदेशी जासूस भी चलने लगे हैं···इनसे सतर्क रहने की जरूरत है···।"

तीसरा कहता है—"पुलिस बुलाकर जेल भिजवा दिया जाय···।"

चौथा कहता है—"पहले खींचकर सड़क पर कर दिया जाय···।"

इसी वक्त वह वृद्ध महिला, जिसने उन्हें प्रसाद टाइटिल का घर बताया था, आती है। उन्हें साधु-सन्त समझ लोगों से कहती है—"इस रात में छोड़ दिया जाय···साधु-सन्त लगत हैं···सुबह हटा दिया जायेगा···।"

इस पर उनका पोता कहता है—"कल ही इसे कह दिया था कि मत आना···लेकिन फिर आ गया···।"

वह वृद्धा राघव शरण से पूछती है—"सुबह चले जाओगे साधु ?"

वे कहते हैं—"हाँ।"

इस पर उनका परपोता कहता है—"सीधे मन से यह कभी नहीं जायेगा···।"

अब भीड़ से एक-दो व्यक्ति कहते हैं—"सुबह जाने को कह रहा है तो रात-भर देख लिया जाय···।"

और इसी बात पर लोग महटिया जाते हैं। फिर उन्हें यह धमकाते हुए कि सुबह होते ही चले जाना, सब अपने-अपने दड़बों में चले जाते हैं।

रावघ शरण दुःख, चिंता एवं घनीभूत पीड़ा से व्यथित हो जाते हैं। अगर वे जानते कि उनके साथ ऐसा होगा तो दुबारा यहाँ कदापि नहीं आते। जिस जगह के वे स्वामी थे, जहाँ उन्होंने एक-एक पैसा संचित कर अपना बसेरा बनाया था, उसी जगह से उन्हें बेरहमी से खदेड़ा जा रहा है। रह-रहकर अन्दर से उन्हें स्वयं पर गुस्सा आता। उन्हें क्यों काठ मार गया था ? अपने पोते और परपोते को दो-चार हाथ कसकर लगा देते। जो होता सो झेल लेते। अपने हक एवं अधिकार के लिए शहीद होने में कोई पाप नहीं···!

रात गुजरती जाती है। राघव शरण सोचते रहते हैं···कितना उमंग, कितना उत्साह एवं क्या कुछ शुभ सोचते हुए वे अमरत्व पाकर वापस चले थे। लेकिन यहाँ बिल्कुल उल्टे परिणाम हासिल होने लगे हैं। काश ! उन्हें इस सत्य का ज्ञान पहले हुआ रहता कि युगांतर का

अनुभव इतना कटु होगा तो वे दीर्घजीवन के लिए प्रयास करते ही नहीं...।

अपने युग की स्मृतियाँ हृदय में बसाये इस परिवर्तित युग पर जब वे विचार करते हैं, तो उन्हें लगता है कि जीवन की शैली बिल्कुल बदल गयी है। संस्कार बदल गये हैं। रहन-सहन के ढँग बदल गये हैं। विचार और मूल्य बदल गये हैं। शहर में घूमते हुए राघव शरण ने लोगों को देख सुनकर और पूछकर जो जानकारी हासिल की है, उसने उन्हें और विस्मय में डाल दिया है। अब परिवार नाम की कोई चीज नहीं। पति कभी भी पत्नी को छोड़कर दूसरी औरत रख लेता है। पत्नी भी पति को त्याग कर गैर मर्द का वरण कर लेती है। पिता-पुत्र, भाई-भाई, भाई-बहन, माँ-बेटा कोई भी सम्बन्ध अब पहले की तरह आत्मीय एवं मानवीय धरातल पर नहीं। हर सम्बन्ध का मेरुदंड अर्थ हो गया है। जहाँ बाप बेटे साथ हैं, वहाँ किसी न किसी आर्थिक श्रोत से ही बँधे हैं...। आदमी निहायत अकेला और हर दर्जे का स्वार्थी हो गया है। कम समय में ज्यादा से ज्यादा सुखोपभोग के लिए लोगों ने नीति, मर्यादा, न्याय सबको ताक पर रख दिया है। पाप-पुण्य की कोई व्याख्या नहीं रही है।

राघव शरण सोचते हैं कि क्या मृत्यु की याद इन्हें नहीं ? मृत्यु के आगे तो इनका कोई भी छल-छद्म चलने वाला नहीं ! फिर ये मृत्यु-भय से आक्रान्त क्यों नहीं ? आने वाली मृत्यु को देखते हुए भी अपनी उच्छृंखल एवं उन्मत भोगेच्छा को नियन्त्रित क्यों नहीं करते ? अपने नश्वर क्षणभंगुर सुख के बीच इन्हें कोई भी खलल बर्दास्त क्यों नहीं होता ? इस पर जब राघव शरण गहराई से विचार करते हैं तो उन्हें लगता है कि मृत्यु सबको याद है। मृत्यु-भय से सभी अवगत हैं। शायद यही वजह है कि अल्पावधि में ही ज्यादा से ज्यादा सुखों के उपभोग में लगे हैं। कल की किसी को चिन्ता नहीं। जितने दिन भी हैं, जमकर सुख भोग लें। स्थायी कुछ भी नहीं, इसीलिए स्थायी सुख के लिए चिंतित भी नहीं। इस बिन्दु पर राघव शरण को लगता है कि वे ही नासमझ थे। इतमीनान से उपभोग के लिए सुखों का संचय करते रहे। फिर सामने आयी मृत्यु देख भयभीत हो गये...और अब दीर्घायु होकर लौटे हैं तो दुनिया ही बदल गयी है...।

राघव शरण को महसूस होता है कि इस बदले हुए युग के सभी लोग एक ओर हैं और वे अकेले दूसरी ओर ! कहीं ऐसा तो नहीं कि वे ही गलत हों और ये सब सही ! एक साथ इतने व्यक्ति गलत हो सकते हैं क्या...?

राघव शरण का मन आशंकित हो उठता है। क्या मृत्यु पर विजय प्राप्त कर वे गलत हो गये हैं ? इस पर उन्हें लगता है, हाँ। मृत्यु सत्य है...आवश्यक है...जीवन की पूर्णता है। जो अपने समय एवं युग के अन्तर्गत नहीं मरता, वह कहीं का नहीं रहता...! और अर्धरात्रि की बेला में, जिस वक्त पहली बार राघव शरण घर से भागे थे, उसी वक्त पुनः वापस चल देते हैं...!

यथा दीपो निवातस्थो

☐ रमेश उपाध्याय

बड़ी भाभी खिलखिला कर हँस रही थीं, ताई मुझ पर तरस खाकर उन्हें और बड़े भैया को डाँट रही थीं, और बड़े भैया मुझे उपदेश देते हुए अपने भारतीय भेषज सदन की हिंग्वाष्टक वटी के पार्सलों पर गहरे बैंगनी रंग की रोशनाई से अंग्रेजी के कैपिटल अक्षरों में लिख रहे थे :

ग्लास

हैंडल विद केयर

मैं काँच तो नहीं था, लेकिन कहना चाह रहा था, "दादा, प्लीज़, हैंडल मी विद केयर !"

मगर दादा, जब तक उनका गुस्सा न उतर जाये, कहाँ सुनने वाले थे ! वे तो मुझे मुर्गा बना कर ऐसे भूल गये थे, जैसे मैं वहाँ, उनकी आँखों के ठीक सामने, था ही नहीं !

आजकल घरों में तो क्या, स्कूलों में भी लड़कों को मुर्गा बनाने का चलन नहीं है, इसलिए आपको बता दूँ कि सन् पचास-इक्यावन के उत्तरी भारत में यह एक प्रकार का अहिंसक दण्ड हुआ करता था। इसमें आप अपराधी को हाथ या लात से तो क्या, छड़ी बगैरह से भी नहीं छूते थे। बस, मुँह से एक आदेश निकालते थे, "चल, तू मुर्गा बन जा।" और अपराधी स्वयं ही अपने आपको दंडित करने की व्यवस्था कर लेता था।

एक और बात बता दूँ : अपराधी, भले ही वह दस वर्षीय किशोर हो, मुर्गा बनता है तो बड़े कष्ट का अनुभव करता है। दोनों टाँगों के नीचे से दोनों हाथ निकाल कर अपने कान पकड़े आप जबर्दस्ती सिर झुकाये खड़े हैं। कानों में, हाथों में, टाँगों में दर्द हो रहा है। कमर दोहरी होकर टूटी जा रही है। पैर काँप रहे हैं। सिर भारी बोझ की तरह अपने लिए ही असह्य हुआ जा रहा है। फिर भी आप ऐसे पक्षी का अवतार धारण किये खड़े हैं जो उड़ नहीं सकता।

यह शारीरिक कष्ट की पराकाष्ठा चाहे न हो, मानसिक यातना की चरम सीमा अवश्य है; क्योंकि उस समय आप स्वयं को दूसरों की दृष्टि से देख रहे होते हैं, जो आप पर हँसें चाहे तरस खायें, आपको मुर्गा अवश्य मान रहे होते हैं !

"दादा, प्लीज, हैंडल मी विद केयर !" मैं 'मी' पर जोर देते हुए कहना चाह रहा था। लेकिन कह नहीं रहा था, क्योंकि इससे दादा के हिंसक हो जाने की आशंका थी। पहले दो-बार मैं सदा खादी पहनने वाले गाँधी-मत के अनुयायी, कट्टर कांग्रेसी, शुद्ध शाकाहारी और सनातन धर्म के पालनकर्ता कर्मकांडी पंडित अपने दादा को हिंसा के पाप का भागी, और स्वयं को उसका भोगी, बनाकर देख चुका था। अनुभव अच्छा नहीं रहा था, इसलिए मैं उन्हें पुण्यात्मा महापुरुष

के रूप में ही देखना पसन्द नहीं करता था।

मैं छठी कक्षा में था और स्थानीय एंग्लो वैदिक हाईस्कूल में पढ़ता था। उन दिनों अंग्रेजी की पढ़ाई छठी कक्षा से ही शुरू होती थी। मेरा अंग्रेजी-ज्ञान बड़ी प्रारम्भिक अवस्था में था। मैंने छोटे-छोटे कामचलाऊ वाक्य जोड़ना तो शुरू कर दिया था—स्कूल में बोलना भी—लेकिन कभी आश्वस्त नहीं हो पाता था कि जो बोल रहा हूँ, ठीक बोल रहा हूँ। हिंदी और संस्कृत के पीरियड में जो आत्मविश्वास रहता था, अंग्रेजी के पीरियड में उसका आधा-चौथाई भी नहीं रह जाता था। अंग्रेजी के अध्यापक शंकरलाल शर्मा, जिन्हें पी० सी० रैन की ग्रामर शायद पूरी कंठस्थ थी, मेरे बनाये हर वाक्य में कोई न कोई गलती निकाल देते थे। फिर भी वे आदमी मजेदार थे। नाराज नहीं होते थे, बल्कि अंग्रेजी व्याकरण के नियम समझाते समय कभी-कभी स्वयं ही मुस्करा कर कहने लगते थे :

इंग्लिश लैंग्वेज हैज नो रूल्स
स्टूडेंट्स आर ईडियट्स एंड टीचर्स आर फूल्स

सो मैं अंग्रेजी बोलते डरता था और दादा के सामने बोलते तो बहुत ही डरता था। दादा आयुर्वेदाचार्य थे और संस्कृत तथा हिन्दी के मर्मज्ञ होकर भी अंग्रेजी नहीं जानते थे। हालांकि एक छोटे शहर के वैद्य के लिए अंग्रेजी का जानकार होना कोई शर्म की बात नहीं थी, फिर भी इस चीज को लेकर उनके मन में हीनभाव रहा करता था। एलोपैथिक चिकित्सा और चिकित्सकों को अंग्रेजी की गुलामी के अवशेष मानने के कारण वे उनसे जुड़ी अंग्रेजी से, एक सच्चे देशभक्त के रूप में, हार्दिक घृणा किया करते थे। पूरा वाक्य तो क्या, अंग्रेजी का एक शब्द भी कोई उनके सामने बोल देता तो क्रुद्ध होकर कहने लगते, "अंग्रेज चले गये, पर अपने मानसपुत्रों को यहीं छोड़ गये। स्वाधीनता आ गयी, लेकिन पराधीनता की मानसिकता नहीं गयी। अरे, अपनी मातृभाषा से प्रेम नहीं करोगे तो मातृभूमि की सेवा क्या करोगे!" आदि-आदि।

मैं समझ नहीं पाता था कि उनकी मातृभाषा हिन्दी—जिसमें मैं यह किस्सा आपको सुना रहा हूँ—कैसे हो गयी! उनकी माता, अर्थात् मेरी ताई, शुद्ध ब्रजभाषी थीं और वे स्वयं भी सत्तर-अस्सी प्रतिशत ब्रज ही बोलते थे। मैं पूछता तो वे मुझे भारत माता के बारे में बताने लगते थे, जो उनके हिसाब से उनकी ही नहीं मेरी भी माता थी, और जिसकी भाषा हिन्दी थी। मैं फिर नहीं समझ पाता था कि बीस-तीस प्रतिशत हिन्दी बोलने से ही भारत माता की सेवा कैसे हो जाती थी!

खैर, जो भी हो, शुरू में दादा को अंग्रेजी से नफरत थी। लेकिन विडम्बना : औषधालय के साथ-साथ जब से उन्होंने घरेलू उद्योग के रूप में अपनी फार्मेसी चालू की और तरह-तरह के आसव, अरिष्ट, भस्म, पिष्टी, वटिका, गुटिका, चूर्ण, अर्क, तेल आदि बनाकर बेचने लगे थे, उन्हें स्वयं अंग्रेजी का व्यवहार करने की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। मातृभाषा हिन्दी से उनका प्रेम कम नहीं हुआ था—और देववाणी संस्कृत के तो वे उपासक ही थे—फिर भी जिस दिन उन्होंने अपने भारतीय भेषज सदन के साइनबोर्ड पर 'औषधालय एवं फार्मेसी' लिखवाया, उसी दिन वे भार्गव का अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश और के० एस० पंत की 'अंग्रेजी स्वयंशिक्षक' ले आये थे और अंग्रेजी पढ़ने-लिखने का अभ्यास करने लगे थे।

मैंने जब छठी में आकर अंग्रेजी पढ़ना शुरू किया, तब तक दो काम हो चुके थे : एक तो उनकी फार्मेसी में निर्मित हिंग्वाष्टक वटी बाजार में चल निकली थी और दूसरे शहरों से भी

उसके आर्डर आने लगे थे, और दूसरा यह कि वे देख-देखकर अंग्रेजी में पते और बिना देखे 'ग्लास हैंडल विद केयर' लिखना सीख गये थे । उन्हें इतना सीखने में एक साल लग गया था और मैं पाँच-छह महीनों में ही उनसे ज्यादा अंग्रेजी जानने लगा था, यह चीज उनकी समझ या पसन्द से परे थी । वे अक्सर मेरे अंग्रेजी-ज्ञान की परीक्षाएँ लिया करते, जिनका तरीका यह था कि वे शब्दकोश में से अंग्रेजी का कोई बड़ा-सा शब्द याद कर लेते और मुझसे उसका अर्थ पूछा करते। मैं न बता पाता तो उनकी आँखों में विजेता की-सी चमक आ जाती और वे मुस्कराते हुए कहा करते, "देख लो, हमने किसी स्कूल में गये बिना ही कितनी अंग्रेजी सीख ली !"

मुझे यह अच्छा तो नहीं लगता था, लेकिन मैं उन्हें अपना प्रतिद्वन्द्वी मान कर उनका तरीका उन पर ही आजमाने को अच्छी बात नहीं समझता था । अन्यथा मुझे पूरा विश्वास था कि मैं उन्हें एक ही दाव में पटकनी देकर चित्त कर देता । दरअसल, प्रेमचन्द की कहानी 'बड़े भाई साहब' मेरे कोर्स में थी, जिसे मैं कई बार पढ़ चुका था, और जिसे पढ़कर मुझे कहानी वाले भाई साहब पर ही नहीं, अपने भाई साहब पर भी हँसी आती थी । कहानी वाले भाई साहब की तरह दादा भी यह समझते थे कि मुझसे बीस साल पहले पैदा हो जाने के कारण जिस तरह उम्र में मुझसे हमेशा बड़े रहेंगे, उसी तरह एक साल पहले अंग्रेजी सीखना शुरू कर देने के कारण अंग्रेजी में भी हमेशा मुझसे आगे रहेंगे ।

एक दिन पार्सलों पर 'ग्लास, हैंडल विद केयर' लिखते समय उन्होंने मुझसे पूछा, "तुम यह बिना देखे लिख सकते हो ?" और मेरी असमर्थता पर हँसते हुए बोले, "तब क्या स्कूल में अंग्रेजी पढ़ते हो !"

मैंने उसी दिन उन शब्दों को स्पेलिंग-सहित रट लिया, ताकि भविष्य में फिर कभी इस तरह नीचा न देखना पड़े । लेकिन मुझे नीचा देखना पड़ा और मुर्गा बनकर देखना पड़ा !

वह रविवार का दिन था और नवम्बर या दिसम्बर का महीना । सर्दियों का मौसम था, फिर भी छोटे भैया छोटी भाभी के साथ सवेरे-सवेरे गंगा-स्नान करने कछला चले गये थे । घर पर रहते तो बड़े भैया की फार्मेसी का उबाऊ काम करना पड़ता । मैं भी 'गणित वाले माट्साब से कुछ पूछने जाना है' कहकर अपने मित्र और सहपाठी रतन के साथ खेलने के लिए खिसकना चाहता था, लेकिन दादा ने 'दोपहर बाद चले जाना' कह कर रोक लिया । मुझे ही नहीं, ताई और बड़ी भाभी को भी उन्होंने अपने काम में लगा लिया । ताई को हिंग्वाष्टक वटी की गोलियाँ गिन-गिनकर शीशियों में भरने का काम मिला, मुझे लेबल काट-काट कर शीशियों पर चिपकाने का, और भाभी को पार्सल बनाने का । भाभी का काम थोड़ा था और आसान भी था, क्योंकि आधा काम दादा स्वयं कर रहे थे : वे आर्डरों के अनुसार शीशियाँ गिन-गिनकर गत्ते के छोटे-बड़े डिब्बों में घास-फूस और कागज की कतरनों के साथ भरते जाते थे और भाभी उन डिब्बों को मार्कीन के कपड़े में सीं-सीं कर पार्सल बनाती जाती थीं । सारे पार्सल बन गये तो भैया उन पर लाख-चपड़े की सीलें लगाने लगे और भाभी खाली होकर अपनी 'स्त्री-सुबोधिनी' पढ़ने और चिड़ियों को आटा चुगाने बैठ गयीं । मेरा और ताई का काम जारी था, क्योंकि हम जो शीशियाँ तैयार कर रहे थे, उनकी संख्या गोलियों की संख्या पर निर्भर करती थी और गोलियाँ अभी बाकी थीं ।

कुछ रोचक और ज्ञानवर्द्धक सामग्री पढ़ना और चिड़ियों को आटा चुगाना भाभी का दैनन्दिन अनुष्ठान था । दोपहर को काम-काज से फुर्सत पाकर वे 'सती नारी' या 'स्त्री-सुबोधिनी'

जैसी कोई पुस्तक, 'कल्याण' या 'मनोहर कहानियाँ' जैसी कोई पत्रिका या दादा के औषधालय से आया हुआ एक दिन पुराना, कई लोगों का पढ़ा हुआ, और अक्सर फटा हुआ, 'दैनिक हिन्दुस्तान' लेकर पढ़ने बैठ जाती थीं। रोटियों के लिए गूंधे गये आटे में से थोड़ा-सा बचा कर वे अलग रख लेती थीं और दोपहर को पढ़ते समय उसकी छोटी-छोटी गोलियाँ बनाकर आँगन में डालती जाती थीं। देखते-देखते छोटी-छोटी सफेद-कत्थई-रंग की बहुत-सी चिड़ियाँ आँगन में उतर आतीं और चूँ-चूँ करतीं, फुर्र-फुर्र उड़तीं, आटे की उन गोलियों को चुगने लगतीं। भाभी तल्लीन होकर पढ़ती रहतीं और मशीन की-सी तेजी से हाथ चला कर चिड़ियों को चुगाती रहतीं। वे चिड़ियों की तरफ तभी देखतीं, जब चिड़ियों का हिस्सा हड़पने आ पहुंचे किसी धूर्त कौए को उड़ाना होता या उनके हाथ में आटा खत्म हो जाता। तब वे चिड़ियों से कहती, "बस, अब जाओ।" और चिड़ियाँ कुछ देर कुछ और पाने की आशा में अटकी रहने के बाद फुर्र-फुर्र उड़ जातीं।

मुझे यह दृश्य बड़ा प्रिय था। उसे देखकर पता नहीं कैसी एक करुणापूर्ण स्वच्छन्दता का अनुभव होता था कि मुझे कभी-कभी रोना आ जाता। लेकिन वह विषाद का नहीं, एक अजीब तरह के हर्ष का रोना हुआ करता था। हो सकता है, मुझे अपना जीवन जेल जैसा लगता हो और चिड़ियों को देखकर मेरा मन मुक्ति के लिए छटपटाता हो। लेकिन ऐसा रहा हो, तब भी बात इतनी ही नहीं थी। उस दृश्य में कुछ ऐसी अद्भुत् सुन्दरता होती थी कि मैं सब कुछ भूल-कर चुपचाप उसे देखता रह जाता था।

उस दिन भी ऐसा ही हुआ। उस समय आँगन में सर्दियों की सुहावनी धूप फैली हुई थी। भाभी 'स्त्री-सुबोधिनी' पढ़ती हुई धूप में पीढ़े पर बैठी थीं और चिड़ियों को चुगा रही थीं। ताई गोलियाँ भर-भर कर शीशियाँ मेरे सामने रखती जा रही थीं, लेकिन मैं शीशियों पर लेबल चिपकाना भूलकर उस दृश्य में खोया हुआ था।

अचानक बड़े भैया की करारी आवाज सुनायी पड़ी, "रवि! क्या सोच रहे हो?"

"कुछ नहीं, दादा!" मैंने इस तरह हड़बड़ा कर कहा, जैसे मेरी कोई चोरी पकड़ी गयी हो। उसी हड़बड़ी में मैंने कहा, "दादा, मैं पार्सलों पर ग्लास हैंडल विद केयर लिखूं?"

दादा ने कुछ चौंककर, कुछ अविश्वासपूर्वक मेरी ओर देखा, "तुम लिखोगे?" ऐसा लगा जैसे पूछ रहे हों, "तुम्हें इतनी अंग्रेजी आ गयी?" लेकिन यह उन्होंने कहा नहीं। सींक पर हल्की-सी रुई लपेट कर बनायी गयी फुरफुती मेरी ओर बढ़ा दी, जिससे पार्सलों पर पते लिख रहे थे। कहा, "लो, लिखो।"

मैंने फुरफुती बैंगनी रोशनाई में डुबोयी और सबसे बड़े पार्सल पर बड़े-बड़े सुन्दर अक्षरों में, साफ-साफ और बिलकुल सही-सही लिखा :

ग्लास

हैंडलविदकेयर

दादा ने बीच में नहीं टोका, लेकिन ज्यों ही मैंने लिखना पूरा करके शाबाशी पाने की आशा में उनकी ओर देखा, उन्होंने मुझे आश्चर्य का धक्का-सा देते हुए फुरफुती मेरे हाथ से छीन ली और कहा, "सब गलत करके रख दिया न!"

"बिलकुल ठीक तो लिखा है, दादा!" मैंने अपमान से आहत होकर अपने लिखे हुए को जाँचा, 'कोई स्पेलिंग मिस्टेक नहीं है।'

"तीनों शब्द मिलाकर एक कर दिये और कहते हो कि ठीक लिखा है? तुम्हारा वह शंकरलाल तुम्हें यही अंग्रेजी पढ़ाता है? कल जाकर उससे पूछना, यह शब्द, जो तुमने लिखा है, इसका क्या अर्थ होता है।"

अब मुझे अपनी गलती दिखायी दी: नीचे के तीनों शब्द मिलकर एक अजनबी शब्द बन गये थे। मैं रुआँसा हो आया, लेकिन रोषपूर्वक बोला, पोस्ट ऑफिस वाले तो समझ ही जायेंगे कि क्या लिखा है!"

"कैसे समझ जायेंगे?" दादा भी उत्तेजित हो गये, "यह क्या संस्कृत है कि शब्दों को संधियों से जोड़-जोड़ कर लिखते जाओ? एक तो गलती करते हो, ऊपर से जबान लड़ाते हो? हमने किसी से अंग्रेजी नहीं पढ़ी, फिर भी ऐसी गलती हमसे कभी नहीं हुई। तुम ठीक-ठीक नहीं लिखोगे तो दूसरों से कैसे आशा कर सकते हो कि वे उसे ठीक-ठीक पढ़ लेंगे? क्या जरूरी है कि इसे 'हैंडल विद केयर' ही पढ़ा जाये? इसे···" एक क्षण रुक कर मेरे अक्षरों को ध्यान से देखते हुए वे मजाक बनाने लगे, "हैंड लेविद केयर···हैंडल्यू इथकेयर···हैंडलेविदका रे···कुछ भी पढ़ा जा सकता है।"

"और वह क्यों नहीं पढ़ा जा सकता, जो यह सचमुच है?" मैंने तर्क दिया।

"बहस करता है?" दादा का चेहरा क्रोध से आरक्त हो उठा, "एक तो गलती करता है, ऊपर से बहस करता है।" उन्होंने फिर वही बात दोहरायी और मुझे बोलने का अवसर दिये बिना जोर से चिल्लाने लगे, "आजकल तू बहस बहुत करने लगा है। छोटे-बड़ों का कोई लिहाज ही नहीं। उस दिन गीता-प्रवचन में भी तू मदन मोहन जी से बहस कर रहा था।"

"दादा, मदन मोहन जी गलत बात कर रहे थे।"

"चोप्प।" दादा दहाड़े, "आगे बोला तो तेरी जबान खेंच लूंगा।" लेकिन यह कहते ही शायद उनकी समझ में आ गया कि यह तो हिंसा हो जायेगी। तुरंत अहिंसक दंड दिया, "चल, तू मुर्गा बन जा।"

मैं दादा की दहाड़ सुनकर काँप गया। भाभी 'स्त्री-सुबोधिनी' पढ़ना भूल गयीं। आटा चुगती चिड़ियाँ एक साथ फुर्र से उड़ गयीं। ताई गोलियाँ गिनना छोड़ मुझे समझाने लगीं, "बड़ों से बहस नहीं करते, रविन्नया।"

ताई मामले को समझे बिना ही मुझे उपदेश देने लगी थीं, इसलिए मुझे लगा कि वे मुझे नहीं बचा पायेंगी। मैंने भाभी की तरफ देखा, लेकिन देखा कि वे कह रही हैं, "अंग्रेजी पढ़ने वाले बड़े-छोटे का लिहाज कहाँ करते हैं!"

जनमत अपने पक्ष में देख दादा फिर दहाड़े, "सुना नहीं तूने? चल, वहाँ जाकर मुर्गा बन जा!"

मैं दीवार के पास उस निर्दिष्ट स्थान की ओर चला तो भाभी खिलखिला कर हँसीं, "बाँग भी देना, लला, कुकड़ूँ कूँ!"

मेरी आँखें तो पहले ही भर आयी थीं, अब आँसू भी निकल पड़े। मैंने कमीज की आस्तीन से आँखें पोंछीं और मुर्गा बन गया।

और अब भाभी खिलखिलाकर हँस रही थीं और ताई मुझ पर तरस खाकर उन्हें और दादा को डाँट रही थीं, "हँस रही है, बेहया! अपने बालक होते तो पराये बालक का दर्द समझती! सास और खसम के आगे मुंह फाड़ कर हँस रही है। तुझे यही शऊर सिखा कर भेजा था तेरे

महतारी-बाप ने ? और तू सुन रे बड़ेला ! इतना बड़ा वैद-हकीम होकर भी तुझे अपने क्रोध पर काबू नहीं है ? बालकों से भूल-चूक हो ही जाती है । चचेरा ही सही, पर है तो यह तेरा छोटा भाई ही । तू खुद भी कोई कसाई नहीं कि तूने तनिक-सी बात पर इसे मुर्गा बना दिया !"

भाभी सुंदर थीं । काम-काज में कुशल और स्वभाव की भली थीं । खुश रहती थीं और दूसरों को भी खुश रखती थीं । लेकिन बच्चे पैदा नहीं करती थीं, इसलिए मेरे सिवा घर में किसी को भी उनका हँसना अच्छा नहीं लगता था । दादा भी, जब वे हँसतीं, गंभीर और गमगीन-से होकर चुप हो जाते थे । क्या पता, उस समय वे क्या सोचते होंगे ! हो सकता है, आयुर्वेद में भाभी के बाँझपन या अपनी नपुंसकता को दूर करने की किसी रामबाण औषधि के न होने पर उदास हो जाते हों, या दूसरी शादी की संभावनाओं और जोखिमों पर विचार करने लगते हों। लेकिन ताई चुप नहीं होती थीं, या तभी चुप होतीं जब भाभी उनसे जोर-जोर से लड़ने लगतीं और दादा उन दोनों को डाँट कर मुँह बंद रखने के लिए कह देते ।

मगर आज सब बातें उलटी हो रही थीं : भाभी रोने या लड़ने के बजाय हँसे जा रही थीं, मुझे उनकी हँसी अच्छी लगने के बजाय बुरी लग रही थी, और दादा उन दोनों को मुँह बंद रखने के लिए कहकर स्वयं भी चुप हो जाने के बजाय मुझे उपदेश दे रहे थे :

"जिस तरह दुनिया में हर आदमी और हर चीज की अपनी जगह होती है, उसी तरह पंक्ति में प्रत्येक शब्द की अपनी जगह होती है । लेकिन शब्द की अपनी जगह पंक्ति में कैसे बनती है ? शब्द और शब्द के बीच छोड़ी गयी खाली जगह से । शून्य से । और शून्य क्या है ? जबसे यह सृष्टि बनी है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और चिंतक-विचारक इस पर चिंतन-मनन करते आ रहे हैं । कोई नहीं समझ सका । कोई उसे ब्रह्म कहता है, कोई उसे रहस्य कहता है । लिखना भी एक तरह से उसी रहस्य को जानना है । प्रकृति में देख लो चाहे समाज में देख लो, चीजों को तुम कैसे पहचानते हो ? सब चीजें अपने बीच के अंतर से पहचानी जाती हैं । नहीं तो नीम और पीपल, हाथी और घोड़ा, सूर्य और चंद्रमा सब मिल कर एक हो जायें । अमीर और गरीब, ब्राह्मण और शूद्र, हिंदू और मुसलमान में कोई भेद ही न रहे । दो चीजों को मिला देने से या तो दोनों निरर्थक हो जाती हैं, या दोनों मिल कर कोई तीसरी ही चीज बन जाती हैं। व्याकरण में बहुव्रीहि समास पढ़ा है ? एक शब्द है चंद्र, दूसरा शब्द है मौलि । दोनों को मिला कर बनाया चंद्रमौलि । पर उसका अर्थ चंद्रमा रहा न जटा । अर्थ हो गया शिव । एक शब्द गज, दूसरा आनन । दोनों को मिलाकर बना दिया गजानन, तो अर्थ हो गया गणेश । इसी तरह हाथी और पाँव को मिला दोगे तो हाथी रहेगा न पाँव, हाथीपाँव नामक रोग बन जायेगा, जिसे फीलपाँव भी कहते हैं । शब्दों को सही-सही लिख लेना कोई हँसी-खेल नहीं है । लिपि को यथावत सीखना पूरी नदी की यात्रा के समान होता है । इस नदी के मुहाने पर पहुँच कर ही मनुष्य शास्त्र और साहित्य के समुद्र में प्रवेश कर पाता है । 'रघुवंश' में कालिदास ने लिखा है—लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् । अर्थात्..."

दादा वैद्य थे, पर उन्हें उपदेश देने का असाध्य रोग था । उसका दौरा पड़ने पर उनकी दशा सन्निपात के रोगी की-सी हो जाती थी । घंटों बड़बड़ाते रहते थे और कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा लाकर भानमती का कुनबा जोड़ते रहते थे ।

सो दादा बड़बड़ा रहे थे और भाभी पुनः अपनी 'स्त्री-सुबोधिनी' में खो गयी थीं, और ताई मुझसे कह रही थीं, "चल रे, रब्बिया, उठ जा । माफी माँग ले दादा से । आइंदा जैसा

बतायें, ठीक-ठीक लिख दिया कर, बेटा ! आखिर तेरी पढ़ाई पर इतना खर्च हो रहा है, लिखना ही न आया तो क्या फायदा ? हमारी तरह लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर !

मैं ताई को अपने पक्ष में और सदय देख कर प्रसन्न था, लेकिन उनकी आज्ञा से मुर्गावतार त्याग कर पुनः मनुष्य-रूप धारण कर लेता तो निश्चित था कि दादा हिंसक हो उठते। पीटते और फिर से मुर्गा बना देते। माँ की महिमा का उपदेश देते समय वे अतिशयोक्ति की छत से एक सीढ़ी भी नीचे नहीं उतरते थे : कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति। 'गंगा-लहरी' की इस सूक्ति से किसी अमूर्त माँ का गुणगान करते समय वे शायद यह भूल जाते थे कि उनकी एक सचमुच की माँ भी है, जिसे अपनी किसी व्यवस्था में दखल देते देख, "तुम चुप रहो, अम्मा !" कह कर वे तुरंत अपनी हैसियत और उसकी औकात जता देते हैं।

इसलिए ताई के आदेश के बावजूद मैं मुर्गा बना रहा और उस क्षण की प्रतीक्षा करता रहा, जब दादा का पारा स्वतः ही नीचे उतरेगा और वे कहेंगे : चल छोड़, उठ जा।

लेकिन वह क्षण आ नहीं रहा था और मैं 'स्पेस' संबंधी भूल के कारण कष्ट पाते हुए 'टाइम' की समस्या से जूझ रहा था : कब तक ? आखिर कब तक मैं मुर्गा बना रहूँगा ?

गनीमत थी कि स्कूल के मास्टरों की तरह दादा का ध्यान मेरी हरकतों पर नहीं था। मैंने सहपाठियों से सीखे हुए तरीके के अनुसार दर्द करते कानों का हाथों की पकड़ से मुक्त कर दिया था और उस मुर्गा-मुद्रा में भी अपने शरीर को थोड़ी-सी राहत दे दी थी। शेष कष्ट को भुलाने के लिए मैं कोई मनोरंजक चीज याद करने लगा था कि अचानक कल ही स्कूल में सुना हुआ यह चुटकुला याद आ गया :

कुछ लोग एक आदमी को पीट रहे थे। वह आदमी पिट रहा था और हँस रहा था। पीटने वाले पीटते रहे और वह हँसता रहा। आखिर उन्होंने उसे पागल समझ कर छोड़ दिया। उनसे छूट कर जब वह कपड़ों की धूल झाड़ता, बालों को सँवारता और मुँह पर लगे खून को पोंछता वहाँ से चला तो आसपास खड़े तमाशाइयों ने उससे पूछा, "अरे भई, तुम जब पिट रहे थे, हँस क्यों रहे थे ?" उस आदमी ने जवाब दिया, "वे मुझे रामलाल समझ कर पीट रहे थे, पर मैं तो श्यामलाल हूँ। कैसा बुद्धू बनाया सालों को !

लेकिन कष्ट अधिक हो रहा था, पीठ बुरी तरह दुख रही थी और पैर काँप रहे थे, इसलिए मैं अपने आपको यह चुटकुला सुना कर भी हँसा नहीं सका। मगर कुछ न कुछ तो करते ही रहना था, सो मैं गंभीर दार्शनिक चिंतन करने लगा :

जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में भटकता है। जन्म लेता है और मरता है; पुनः जन्म लेता है, पुनः मरता है। कभी पशु-पक्षी बनता है, कभी पेड़-पौधा। कभी साँप-बिच्छू, कभी कीड़ा-मकोड़ा। निश्चय ही किसी जन्म में मुर्गा भी बनता होगा। मैं भी शायद किसी जन्म में मुर्गा रहा होऊँ, या आगे कभी बनूँ···

नहीं, आगे कभी नहीं। मनुष्य का जन्म बड़ी मुश्किल से मिलता है। तुलसीदास कह गये हैं—बड़े भाग मानुस तन पावा। जन्म-मरण के चक्कर से छुट्टी पाने का उपाय इसी जन्म में किया जा सकता है, और मैं वही करने वाला हूँ···

लेकिन ये लोग समझते क्यों नहीं कि मैंने भव-बंधन से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान की साधना शुरू कर दी है ? उम्र में छोटा हूँ तो क्या बुद्धि में भी छोटा हूँ ? दादा गीता-प्रवचन वाले मदन मोहन शास्त्री का पक्ष लेते हैं, लेकिन उस दिन गलती मेरी थी या मदन मोहन शास्त्री

की ? बड़े मजे से रट्टू तोते की तरह गीता के 'यथा दीपो निवातस्थो' वाले श्लोक का अर्थ बता रहे थे—"जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित की कही गयी है ।" मैंने पूछ लिया तो क्या बुरा किया कि "वायुरहित स्थान में दीपक कैसे जलेगा, पंडितजी ? ऑक्सीजन न मिलने से बुझ नहीं जायेगा ?" तर्क करते तो मैं जलती हुई मोमबती पर काँच का गिलास औंधा कर उसे निवात में बुझते दिखा देता । पर ये लोग तर्क कहाँ करते हैं । पंडितजी मेरी शंका का निवारण यह कह कर भी कर सकते थे कि यहाँ वैकुअम और ऑक्सीजन का सवाल नहीं, निवात से अभिप्राय ऐसी जगह से है जहाँ हवा के झोंके न आ रहे हों । मगर नहीं । वे तो बिगड़ कर गालियाँ बकने लगे—मूर्ख, म्लेच्छ, नास्तिक ! यानी इन लोगों से कुछ कहो मत, पूछो मत । चुपचाप इनका प्रवचन सुनते रहो और ये जो कहें, उस पर विश्वास कर लो !···

खैर, ठीक है, अभी मैं छोटा हूँ, इसलिए गालियाँ बक लो चाहे मुर्गा बना लो । आगे चल कर खुद ही पछताओगे, जब याद करोगे कि एक ज्ञानयोगी को तुमने कैसे-कैसे कष्ट दिये थे ! दादा उपदेश तो खूब देते हैं—"व्यर्थ ही तुमने मदन मोहन जैसे विद्वान आदमी से बहस करके गालियाँ खायीं । अरे, तुम्हें तो गीता के इस श्लोक से प्रेरणा लेनी चाहिए । तुम विद्यार्थी हो । तुम्हें अपना चित्त पढ़ाई में लगाना चाहिए । चित्त को चलायमान नहीं होने देना चाहिए । हमेशा याद रखो कि तुम कितने विद्वान पिता के पुत्र हो । क्या तुम इसी तरह विद्वानों से लड़-झगड़ कर हमारे चाचा का नाम रोशन करोगे ? तुम्हें तो कुलदीपक की भाँति···" वगैरह-वगैरह । लेकिन यह नहीं देखते कि दीपक को जलने के लिए जरूरी ऑक्सीजन भी मिल रही है या नहीं । स्कूल जाने से पहले, स्कूल से आने के बाद, और छुट्टी के दिन भी, बराबर नौकर की तरह काम में लगाये रखते हैं । थोड़ी बहानेबाजी न करूँ तो खेलने भी न जाने दें । आज के लिए स्कूल से इतना सारा होम वर्क मिला है, लेकिन कैसे करूँ ? सुबह से अपना काम करवा रहे हैं । ऊपर से यह कि चल, मुर्गा बन जा !···

खैर, कोई बात नहीं, मेरे पास भी आपको उल्लू बनाने के तरीके हैं । आपको पता ही नहीं कि मैं कितने आराम से कान छोड़े खड़ा हूँ । और आपको यह भी कहाँ मालूम है कि मैं कौन हूँ ! यह छठी कक्षा में पढ़ने वाला, पितृहीन विवश बालक, जिसे आपने मुर्गा बना रखा है, मैं हूँ ही नहीं । मैं तो···

अचानक मेरा दार्शनिक चिंतन थम गया और मुझे हँसी आने लगी । स्कूल में सुना हुआ चुटकुला मुझे फिर से याद आ गया था और मैं अपनी हंसी को बड़ी मुश्किल से रोक पा रहा था ।

"चल, अब उठ जा ।" उसी समय दादा ने मेरी सजा रद्द करते हुए कहा, "इधर आ । इस पार्सल पर ठीक-ठीक लिख कर दिखा । अबकी बार शब्दों के बीच जगह छोड़ कर लिखना ।

मैं मुस्कराता हुआ उनकी ओर दौड़ पड़ा । उनके हाथ से फुरफुती ली, बैंगनी रोशनाई में डुबोयी और उस एकमात्र बचे हुए छोटे-से पार्सल पर "ग्लास, हैंडल विद केयर" बिलकुल ठीक-ठीक लिख दिया । पूछ भी लिया, "अब तो ठीक है न, दादा ?"

दादा ने मेरी पीठ ठोक कर शाबाशी दी और भाभी से कुछ खाने-पीने को लाने के लिए कहा । भाभी अंदर गयीं और पड़ोस के सक्सेना साहब के घर से बायने में आये हुए चार लड्डू लाकर दादा के सामने रखते हुए मुझसे हँस कर बोलीं, "मुर्गा बने-बने भी हँस रहे थे, लला !"

बतायें, ठीक-ठीक लिख दिया कर, बेटा ! आखिर तेरी पढ़ाई पर इतना खर्च हो रहा है, लिखना ही न आया तो क्या फायदा ? हमारी तरह लिख लोढ़ा पढ़ पत्थर !

मैं ताई को अपने पक्ष में और सदय देख कर प्रसन्न था, लेकिन उनकी आज्ञा से मुर्गा-वतार त्याग कर पुनः मनुष्य-रूप धारण कर लेता तो निश्चित था कि दादा हिंसक हो उठते। पीटते और फिर से मुर्गा बना देते। माँ की महिमा का उपदेश देते समय वे अतिशयोक्ति की छत से एक सीढ़ी भी नीचे नहीं उतरते थे : कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति। 'गंगा-लहरी' की इस सूक्ति से किसी अमूर्त माँ का गुणगान करते समय वे शायद यह भूल जाते थे कि उनकी एक सचमुच की माँ भी है, जिसे अपनी किसी व्यवस्था में दखल देते देख, "तुम चुप रहो, अम्मा !" कह कर वे तुरंत अपनी हैसियत और उसकी औकात जता देते हैं।

इसलिए ताई के आदेश के बावजूद मैं मुर्गा बना रहा और उस क्षण की प्रतीक्षा करता रहा, जब दादा का पारा स्वतः ही नीचे उतरेगा और वे कहेंगे : चल छोड़, उठ जा।

लेकिन वह क्षण आ नहीं रहा था और मैं 'स्पेस' संबंधी भूल के कारण कष्ट पाते हुए 'टाइम' की समस्या से जूझ रहा था : कब तक ? आखिर कब तक मैं मुर्गा बना रहूँगा ?

गनीमत थी कि स्कूल के मास्टरों की तरह दादा का ध्यान मेरी हरकतों पर नहीं था। मैंने सहपाठियों से सीखे हुए तरीके के अनुसार दर्द करते कानों का हाथों की पकड़ से मुक्त कर दिया था और उस मुर्गा-मुद्रा में भी अपने शरीर को थोड़ी-सी राहत दे दी थी। शेष कष्ट को भुलाने के लिए मैं कोई मनोरंजक चीज याद करने लगा था कि अचानक कल ही स्कूल में सुना हुआ यह चुटकुला याद आ गया :

कुछ लोग एक आदमी को पीट रहे थे। वह आदमी पिट रहा था और हँस रहा था। पीटने वाले पीटते रहे और वह हँसता रहा। आखिर उन्होंने उसे पागल समझ कर छोड़ दिया। उनसे छूट कर जब वह कपड़ों की धूल झाड़ता, बालों को संवारता और मुँह पर लगे खून को पोंछता वहाँ से चला तो आसपास खड़े तमाशाइयों ने उससे पूछा, "अरे भई, तुम जब पिट रहे थे, हँस क्यों रहे थे ?" उस आदमी ने जवाब दिया, "वे मुझे रामलाल समझ कर पीट रहे थे, पर मैं तो श्यामलाल हूँ। कैसा बुद्धू बनाया सालों को !

लेकिन कष्ट अधिक हो रहा था, पीठ बुरी तरह दुख रही थी और पैर काँप रहे थे, इसलिए मैं अपने आपको यह चुटकुला सुना कर भी हँसा नहीं सका। मगर कुछ न कुछ तो करते ही रहना था, सो मैं गंभीर दार्शनिक चिंतन करने लगा :

जीवात्मा चौरासी लाख योनियों में भटकता है। जन्म लेता है और मरता है; पुनः जन्म लेता है, पुनः मरता है। कभी पशु-पक्षी बनता है, कभी पेड़-पौधा। कभी साँप-बिच्छू, कभी कीड़ा-मकोड़ा। निश्चय ही किसी जन्म में मुर्गा भी बनता होगा। मैं भी शायद किसी जन्म में मुर्गा रहा होऊँ, या आगे कभी बनूँ···

नहीं, आगे कभी नहीं। मनुष्य का जन्म बड़ी मुश्किल से मिलता है। तुलसीदास कह गये हैं—बड़े भाग मानुस तन पावा। जन्म-मरण के चक्कर से छुट्टी पाने का उपाय इसी जन्म में किया जा सकता है, और मैं वही करने वाला हूँ···

लेकिन ये लोग समझते क्यों नहीं कि मैंने भव-बंधन से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान की साधना शुरू कर दी है ? उम्र में छोटा हूँ तो क्या बुद्धि में भी छोटा हूँ ? दादा गीता-प्रवचन वाले मदन मोहन शास्त्री का पक्ष लेते हैं, लेकिन उस दिन गलती मेरी थी या मदन मोहन शास्त्री

की ? बड़े मजे से रट्टू तोते की तरह गीता के 'यथा दीपो निवातस्थो' वाले श्लोक का अर्थ बता रहे थे—"जिस प्रकार वायुरहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित की कही गयी है।" मैंने पूछ लिया तो क्या बुरा किया कि "वायुरहित स्थान में दीपक कैसे जलेगा, पंडितजी ? ऑक्सीजन न मिलने से बुझ नहीं जायेगा ?" तर्क करते तो मैं जलती हुई मोमबती पर काँच का गिलास औंधा कर उसे निवात में बुझते दिखा देता। पर ये लोग तर्क कहाँ करते हैं। पंडितजी मेरी शंका का निवारण यह कह कर भी कर सकते थे कि यहाँ वैकुअम और ऑक्सीजन का सवाल नहीं, निवात से अभिप्राय ऐसी जगह से है जहाँ हवा के झोंके न आ रहे हों। मगर नहीं। वे तो बिगड़ कर गालियाँ बकने लगे—मूर्ख, म्लेच्छ, नास्तिक ! यानी इन लोगों से कुछ कहो मत, पूछो मत। चुपचाप इनका प्रवचन सुनते रहो और ये जो कहें, उस पर विश्वास कर लो !···

खैर, ठीक है, अभी मैं छोटा हूँ, इसलिए गालियाँ बक लो चाहे मुर्गा बना लो। आगे चल कर खुद ही पछताओगे, जब याद करोगे कि एक ज्ञानयोगी को तुमने कैसे-कैसे कष्ट दिये थे ! दादा उपदेश तो खूब देते हैं—"व्यर्थ ही तुमने मदन मोहन जैसे विद्वान आदमी से बहस करके गालियाँ खायीं। अरे, तुम्हें तो गीता के इस श्लोक से प्रेरणा लेनी चाहिए। तुम विद्यार्थी हो। तुम्हें अपना चित्त पढ़ाई में लगाना चाहिए। चित्त को चलायमान नहीं होने देना चाहिए। हमेशा याद रखो कि तुम कितने विद्वान पिता के पुत्र हो। क्या तुम इसी तरह विद्वानों से लड़-झगड़ कर हमारे चाचा का नाम रोशन करोगे? तुम्हें तो कुलदीपक की भाँति···"वगैरह-वगैरह। लेकिन यह नहीं देखते कि दीपक को जलने के लिए जरूरी ऑक्सीजन भी मिल रही है या नहीं। स्कूल जाने से पहले, स्कूल से आने के बाद, और छुट्टी के दिन भी, बराबर नौकर की तरह काम में लगाये रखते हैं। थोड़ी बहानेबाजी न करूँ तो खेलने भी न जाने दें। आज के लिए स्कूल से इतना सारा होम वर्क मिला है, लेकिन कैसे करूँ ? सुबह से अपना काम करवा रहे हैं। ऊपर से यह कि चल, मुर्गा बन जा !···

खैर, कोई बात नहीं, मेरे पास भी आपको उल्लू बनाने के तरीके हैं। आपको पता ही नहीं कि मैं कितने आराम से कान छोड़े खड़ा हूँ। और आपको यह भी कहाँ मालूम है कि मैं कौन हूँ ! यह छठी कक्षा में पढ़ने वाला, पितृहीन विवश बालक, जिसे आपने मुर्गा बना रखा है, मैं हूँ ही नहीं। मैं तो···

अचानक मेरा दार्शनिक चिंतन थम गया और मुझे हँसी आने लगी। स्कूल में सुना हुआ चुटकुला मुझे फिर से याद आ गया था और मैं अपनी हंसी को बड़ी मुश्किल से रोक पा रहा था।

"चल, अब उठ जा।" उसी समय दादा ने मेरी सजा रद्द करते हुए कहा, "इधर आ। इस पार्सल पर ठीक-ठीक लिख कर दिखा। अबकी बार शब्दों के बीच जगह छोड़ कर लिखना।

मैं मुस्कराता हुआ उनकी ओर दौड़ पड़ा। उनके हाथ से फुरफुती ली, बैंगनी रोशनाई में डुबोयी और उस एकमात्र बचे हुए छोटे-से पार्सल पर "ग्लास, हैंडल विद केयर" बिलकुल ठीक-ठीक लिख दिया। पूछ भी लिया, "अब तो ठीक है न, दादा ?"

दादा ने मेरी पीठ ठोक कर शाबाशी दी और भाभी से कुछ खाने-पीने को लाने के लिए कहा। भाभी अंदर गयीं और पड़ोस के सक्सेना साहब के घर से बायने में आये हुए चार लड्डू लाकर दादा के सामने रखते हुए मुझसे हँस कर बोलीं, "मुर्गा बने-बने भी हँस रहे थे, लला !"

ताई ने भी मुस्कराते हुए मेरी पोल खोली, "कान भी कहाँ पकड़ रखे थे ! ऐसे ही कन-पटी पर हाथ धरे खड़ा था !"

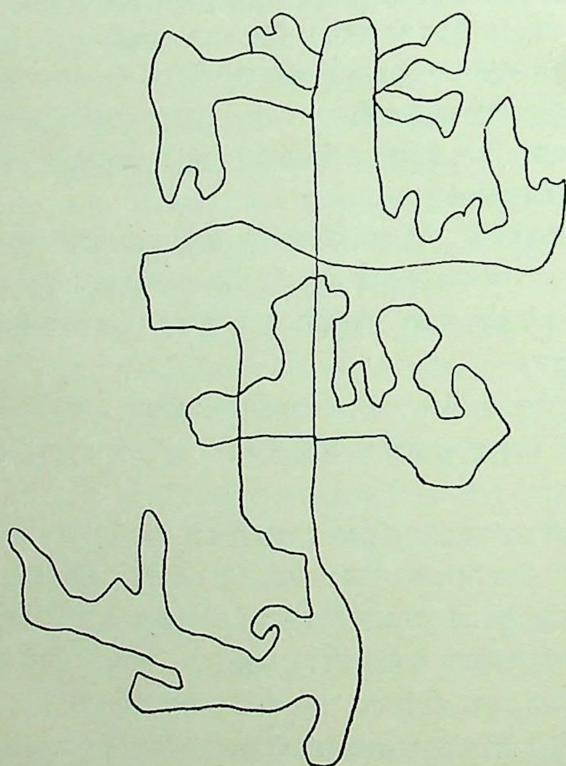
मैंने घबरा कर दादा की तरफ देखा। उन्हें झूठ और धोखाधड़ी से सख्त नफरत थी। लेकिन वे अब बड़े ही क्षमाशील दिखायी दे रहे थे। एक लड्डू उठाकर मुझे देते हुए बोले, "ले, खा ले और इन पार्सलों को दुकान पर पहुँचा दे। कल वहीं से डाकखाने में दे आना।"

लड्डू मेरे मुँह में कसैला हो गया। अभी काम से छुट्टी नहीं थी। अपनी उम्र से भारी बोझ उठा-उठा कर दादा की दुकान के कम से कम तीन चक्कर लगाने थे और अभी कम से कम डेढ़ घंटे तक होम वर्क करने की फुरसत नहीं मिलने वाली थी।

दादा ने भाभी और ताई को भी एक-एक लड्डू दिया और बचा हुआ एक खुद खाते हुए बोले, "अब सुनो, तुम्हें अच्छी लिखाई का एक गुर बताते हैं : घने-घने आँक बेगरी पाँती, सो जानै लिखिबे की भाँती।"

यह गुर मैंने स्कूल में सुन रखा था और इसकी एक पैरोडी भी बना रखी थी, लेकिन उनमें कुछ ऐसे शब्द थे कि उसे मैं घर में नहीं सुना सकता था।

(रचनाधीन उपन्यास **बीते को विदा** का अंश)



महानगर की जेब

□ प्रेमपाल शर्मा

मुझे इस बात का पता तब चला जब मैं दफ्तर के लिए भागने वाला था ।

मैंने पीछे की जेब देखी साइड की देखी, अन्दर की जेब में पाँचों अँगलियाँ डालकर देखा । पेंट को हिलाया, उल्टा लटकाया । कुछ नहीं । सिर्फ कंघा निकलकर खट से फर्श पर गिर गया ।

ऐसी कड़कड़ाती सर्दी में भी मेरे माथे पर पसीना छिटक आया । क्षण भर सोचा फिर झपटकर सारी पेंटों की तलाशी ली । कहीं दूसरी पेंट में तो रखकर नहीं भूल गया । क्या पता कहीं और ने रख दिया हो । एक बार, दो बार तीन बार । बेकार । वहीं कुछ नहीं सिवाय सभी जेबों की तह में कपास की गोलियों और कूड़े के चुरकट के ।

मेरी साँस बीच में ही अटक गई । मिनट-भर पहले मैं उछलकूद करता दफ्तर के लिए तैयार हो रहा था । "मम्मी खाना लगाओ, मोजे कहाँ हैं । जल्दी करो । देर हो जाएगी । रोजाना देर करा देती हो । रहने दो अब नहीं ले जाता खाना बस निकल जाएगी ।"

अब मैं दरवाजे के बीचोबीच खामोश खड़ा था । मैंने इधर उधर नजर दौड़ाई । मम्मी पूजा में व्यस्त थीं ।

उनसे पूछकर देखूं ? कहीं वे मुझसे ही पूछ बैठीं तो ? क्या बताऊँ—कह दूं जेब कट गयी आज तो । नहीं, यह तो कभी नहीं कहूँगा । सुबह-सुबह उनका भी मूड खराब हो जाएगा । छूटते ही पूछेंगी कितने पैसे थे और फिर उपदेश "कितनी बार कहा है कि थोड़े पैसे रखा कर लेकिन मानता ही नहीं किसी की । ठीक हुआ अब अक्ल तो आ गयी । इतनी भीड़ में कोई किसी का कान भी काट ले तो घर जाकर ही पता लगे । हमने लाख बार समझाया कि ···ये··· और वो···श्रृंखला शुरू । लेकिन क्या पता इन्होंने किसी काम से जेब में हाथ डाला हो या पेंट नीचे गिर गयी हो और इन्होंने सारा सामान उठाकर कहीं रख दिया हो । पूछ लेता हूँ "मम्मी जी ! मेरी एक डायरी तो नहीं देखी आपने ? नीली सी है ।"

मम्मी पूजा पर थीं तुरंत खत्म करके आयीं । "हमने तो नहीं देखी । कहाँ रखी थी ?"

"यहीं थीं । मिल नहीं रही ।" मैंने धीरे से गोल-मोल जबाव दिया ।

"पेंट की जेब में ? और भी कुछ था ?"

"कुछ कागज होंगे और थोड़े बहुत पैसे ।"

मम्मी ने इधर-उधर देखना शुरू कर दिया । "कहीं दफ्तर में तो नहीं छोड़ आया ?"

"हो सकता है । वहीं होगी । ठीक है मिल जाएगी । छोड़ो तुम अपना काम करो । मैं

चलता हूँ। कुछ पैसे दे दो। मेरे पास खुले नहीं हैं। आज तो बहुत देर हो गयी।"

दरवाजा पार करते ही मेरे पैर मंदे पड़ गये। गयी कहाँ आखिर? दफ्तर में तो होने का सवाल ही नहीं है। फिर? कट ही गयी। मैंने फिर से जेब को टटोला। बस का पास भी उसी में है।

कितने पैसे होंगे। परसों तक तो पचास का नोट साबुत था। कल सुबह टूटा था। गया था सुबह अन्डर सेक्रेटरी के पास 'प्लीज स्पीक' की फाइलें डिस्कस करने। उस बुढ़उ ने पन्द्रह रुपये की रसीद ही काट दी 'भगवती जागरण' के नाम पर। वो तो दो और दे रहा था दोस्तों के नाम से। जैसे-तैसे बला टली। अच्छा धंधा बनाया है लोगों ने। हर मुहल्ले में जहाँ देखो वहीं 'प्रथम विशाल भगवती जागरण' इनकी भगवती जैसे इन्हीं के चीखने से जागती हो। मुहूर्त ही खराब हो गया।

उसके बाद हम केंटीन गये थे। पांच रुपये केन्टीन वाले को दिये होंगे। वहाँ भी पैसे मुझे देने पड़े। अजीब हैं ये लोग भी—मुँह से तो कहते रहेंगे 'नहीं नहीं, रहने दो मैं दे देता हूँ लेकिन पैसे बाहर नहीं निकालेंगे या फिर यदि पैसे पेंट की अन्दर की जेब में हों तो कमीज की जेब पर हाथ मारेंगे या पीछे की जेब में टटोलेंगे और फिर कंघा निकालकर बालों में चलाना शुरू कर देंगे या व्यस्तता जताने के लिए किसी अधूरी रही बात की जुगाली करते रहेंगे। शुक्ला जी बस हमें गुस्सा आ गया। हमने कहा कि कल ९ बजे तक तुम्हारा आदमी नहीं आया तो बात केंसिल मानी जाएगी।

"अच्छा।" मेरे मुँह से हूँ हाँ के अंदाज में निकला।

और क्या भई। आदमी की बात होती है। वह आदमी ही क्या जिसकी बात न हो कहते हुए वे किनारे की तरफ पीक मारने बढ़ गये।

एक से एक बड़े उस्ताद हैं ये लोग। पेमेंट देने के बाद लगभग तीस रुपये होंगे।

दफ्तर से निकलकर मैं सप्रू हाउस गया था। बेकार ही गया वहाँ। गया था कि दफ्तर की गर्द दिमाग से हल्की हो जाएगी। वहाँ मूड और खराब हो गया। कोई मिला न मिलाया सिवाय उस सनकी अवधेश को छोड़कर। उसने दूर से ही आवाज लगा दी "शुक्ला"

मैं चौंककर खड़ा हो गया और उसकी तरफ बढ आया। धीरे-धीरे उसको पास आता देखता रहा

"हलो मिस्टर आई०ए०एस०भूल गए क्या?" कहते हुए उसने सिगरेट का कश लगाया।

"नहीं यार। भला ऐसा हो सकता है?"

"हो सकने की बात तो छोड़। हिन्दुस्तान में सब कुछ संभव है।" उसने आकाश की ओर होंठ गोल करके धुआँ छोड़ दिया।

इसकी आदत नहीं सुधरी। मिस्टर आई० ए० एस० का अर्थ उसकी भाषा में मिस्टर नटवर लाल से कम नहीं था। पहले भी वह यही कहा करता था। "अबे कुछ क्रियेटिव काम करो। बैंक, बजट, बीमा रट कर बड़ा बाबू बनने से देश का उद्धार नहीं होगा। तुम इसे पढ़-पढ़ कर घोड़े बनोगे, घोड़े और मक्खियाँ उड़ाओगे मालिक के मुँह से। वह तुम्हारी पीठ पर लचक कर बैठ जाएगा और कोड़े बरसायेगा दनादन। फिर पुराने पड़से ही रिटायर कर देगा। और क्या चल रहा है आजकल। मजे में हो?" मैं अपने मुँह के कसैलेपन को कम कर रहा था।

उसने कोई जवाब नहीं दिया। वह बैठा-बैठा सिगरेट पीता रहा।

"कौन-कौन आता है इधर अब" मैंने पूछा।

"इधर कौन आएगा अब। सब अपने अपने कबूतर खानों में जाकर बैठ गये।"

"रफीक तो आता होगा।"

"हाँ, वही दीख जाता है कभी-कभी पुलिस की वर्दी में, इधर-उधर डंडा घुमाता हुआ। उस दिन कुछ चर्चा हो रही थी तुम सब लोगों के बारे में, तो पता है वह क्या कह रहा था—

मैंने खिसियासट मिश्रित दाँत निपोरकर उसकी ओर देखा। "क्या कह रहा था?"

"कह रहा था कि इट इज बैटर टू बी इयर ऑफ ए डॉग दैन टू बी टेल ऑफ ए लाइन। हिंदी में बताऊँ आई० ए० एस० एलाईड, आई० ए० एस० नहीं उसकी दुम होता है जैसे पर्वतारोहियों के साथ सामान ढोने वाले पिट्ठू।" कहकर उसने कंधा झकझोरा। "अच्छा चलता हूँ। नाटक देखना है तो बोल?" और मेरे उत्तर का इंतजार किये बिना ही चला गया।

सिर फिरा कहीं का। समझता है कि बाल बढ़ाकर कुर्ता लटकाने से क्रान्ति हो आयेगी। बड़ा आया दुम कहने वाला। मैंने चाय का आर्डर दिया और चाय सुड़कने लगा।

क्या शहर है? भागम भाग। कहीं अफसर तो कहीं उसकी दुम। महीने को पहली तरीख को बादशाह तो बीस के बाद घाटे का बजट। निरन्तर बूढ़े होते चेहरे। प्रमोशन के चक्कर में उलझे दिमाग। तीन साल बाद अन्डर सेक्रेटरी हो जाऊँगा उसके पांच साल बाद डिप्टी सेक्रेटरी। सी० आर०, प्रमोशन, पेंशन। फिर क्या खत्म। बड़े-बड़े इस महानगर में अपने को बेचकर खा गये।

वहाँ से करीब ७ बजे मैंने घर के लिए बस पकड़ी थी। कितनी भीड़ थी बस में। एक दूसरे से चिपकते स्त्री-पुरुष। वैसे किसी औरत की परछाई पर भी पैर पड़ जाए तो फाड़ खाये लेकिन इन बसों में सब माफ। पलक झपकते ही लाइन टुकड़े-टुकड़े हो गयी। मैं पीछे खड़ा था। मेरा नम्बर तो बैठने में कभी नहीं आ सकता था। मैं भी शोर मचाता हुआ लोगों को इधर-उधर धकियाता जोर आजमाइस करने लगा। साथ ही यह कहता जा रहा था कि कमाल हो गया हम इतनी देर से लाइन में खड़े हैं। अरे भाई! अरे भाई! बिना लाइन के कोई नहीं आये। और इधर-उधर कोहनियाँ जमाता हुआ पिछली सीट पर पेट रखकर आगे जा बैठा। "इसलिए तो इस देश की तरक्की नहीं होती" मैंने निष्कर्ष निकाला। मेरी साँस तो चल रही थी लेकिन चेहरे पर विजय का उल्लास था।

तभी कटी होगी। मुझे अपनी गलती पर अब अफसोस हो रहा था। जरा से बैठने के चक्कर में इतना नुकसान हो गया। कैसी अच्छी व्यूह रचना होती है इनकी। बैठने के चक्कर में आदमी आपा ही भूल जाता है।

अगर देख लेता तो भुर्ता बना देता फिर चाहे कुछ भी होता। उसे यह सबक सिखा देता कि जेब काटने का क्या अन्जाम होता है। मेरी मुट्ठियाँ कसने लगीं। मुझे लगा जेब कतरे की चोटी मेरे हाथों में है और मैं उसपर लातें जमा रहा हूँ। और काटेगा। ले काट, धूं तेरी तो ऐसी की तेसी धाँय। मैं उसमें लात घूंसे जमाये जा रहा था। मगर वे दो चार होते तो मुश्किल हो जाती। यहाँ के शहरी बाबू खड़े-खड़े तमाशा देखते रहेंगे या फिर बाद में घुसर पुसर किस्सागोई करेंगे। डरपोक स्वार्थी कहीं के।

कंडक्टर से जाकर पूछता हूं। सुनते हैं कि वे पैसे निकालकर रख लेते हैं और डायरी पर्स आदि कंडक्टर को दे जाते हैं। डायरी भी मिल जाए तो बहुत है। पते फोन नं० सब उसी

में है उस दिन सोच रहा था कि इनको दूसरी डायरी में उतार लूँगा पर नहीं कर पाया—फुरसत मिले तब न हर समय एक भागमभाग लेकिन पहुँचना कहीं नहीं। छवि की भी बन जाएगी—बस देख लिया डायरी का भरोसा। "बच्चू किसी दिन घर का पता भी भूल जाओगे।"

सच ही तो है उसका कहना। डायरी खोने का मतलब है सारे संबंध सारे परिचय सारी तिकड़म का खो जाना यानि कि शहर का खो जाना। एक जेब ही तो महानगर की पूँजी है। मगर डायरी का कोई क्या करेगा। मेरे मन से आवाज आयी कि डायरी तो मिल ही जाएगी। मैंने चेहरे पर मासूमियत और मुश्किल का भाव बनाकर पूछा, "जनाब कल किसी ने कोई सामान तो जमा नहीं कराया।" कंडक्टर चुप रहा। मैंने फिर दोहराया। वह गुर्रा उठा, "यहाँ तेरे सामान की ही नौकरी करते हैं न?" मेरा चेहरा उतर गया। ये क्यों बतायेंगे इनकी तो साठ-गाँठ रहती है। अब दफ्तर चलता हूँ बारह बज गये।

दफ्तर में यह बात बिजली की तरह फैल गयी कि शुक्ला की जेब कट गयी।

"सुना है आपकी जेब कट गयी शुक्ला जी? कितने पैसे थे?"

"पैसे क्या यार बस पूछो मत। परसों एक सौ पचास रुपये थे। उसमें से मुश्किल से बीस रुपये खर्च हुए होंगे। और साथ में तीन महीने का पास गया।"

"रखे कहाँ थे?"

"यहाँ।" मैंने जेब पर हाथ रखकर बताया। "पता ही नहीं चला कि कब ले गया। आज सुबह जब चलने लगा तब देखा तो जेब खाली। पता चल जाता तो बता ही देता बच्चू को।"

"अरे नहीं शुक्ला कुछ भी नहीं कर पाते। ऐसा भूल के भी मत करना। उनका पूरा गिरोह होता है। मैं अपनी आप बीती बताता हूँ। मेरी पेंट में से उसने पर्स खींचा और मुझे पता चल गया। जैसे ही मैंने उसका हाथ पकड़ा उसके दूसरे साथी ने चाकू की नोक मेरी पेट पर लगा दी, बोला, शोर मचाया तो अंतड़ी निकाल लूँगा। शुक्ला सच मानो मैं पसीने-पसीने हो गया और सवारी भी खड़ी-खड़ी देखती रहीं। किसी ने चूँ तक नहीं की।"

"इसमें सवारी क्या करती जब तू ही नहीं बोला।" दूसरे बाबू ने प्रश्न किया।

"बोल के क्या मरना था? पूरा गिरोह था।"

"अबे रहने दे बनिये की औलाद। आजा चल अब, काम करने दे शुक्ला जी को।"

शाम तक कोई न कोई आकर हर कोण से पूछता रहता।

"शुक्ला जी आप इतने पैसे रखते क्यों हैं?"

"मुझे क्या पता था कि जेब कट जाएगी। सोचा पता नहीं कब कौन-सा काम पड़ जाये।"

"नहीं-नहीं इतने पैसे नहीं रखने चाहिए। अपनी बीवी तो पाँच का नोट देती है, दो रुपये चाय सिगरेट और तीन इमरजेंसी। जेब कतरा भी अपना सिर धुन ले।"

"मेरी तो पहली बार कटी है। मैं सोचता था कैसे काट लेते हैं।"

"कटने के बाद पता चलता है शुक्ला जी! मेरे मामा का लड़का बम्बई से आया था दिल्ली घूमने के लिए। अपने को बड़ा देवानन्द समझता था। कुतुबमीनार के लिए हमने बस पकड़ी। अभी आई० टी० ओ० भी नहीं आया कि कोई मार ले गया। सब उस्तादी रखी रह गयी। शुक्ला जी के तो एक सौ पचास रुपये थे उसके तो पूरे छह सौ रुपये थे और साथ में स्कूटर के कागज।"

"रिपोर्ट नहीं कराई।" तनेजा भी फाइलें एक तरफ समेट कर बातों में शामिल हो गया।

"रिपोर्ट तो कराई पर पुलिस की मक्कारी देखो, मैं लिखा रहा था कि जेब कटी है उसने उर्दू हिंदी में जाने क्या उलबिलाऊ से एक कागज पर मार दिये, "कहीं गिर गये।"

"कमाल है।"

"जेब कटने का लिखेंगे तनेजा जी तो क्राइम रेट भी बढ़ेगा। फिर राष्ट्रपति मैडल भी तो लेना है।"

"ठीक कह रहा है चन्दन। यदि तुम जेब कतरों को थाने में भी कर आओ मारपीट कर तो तुमसे पहले ही फिर अपने अड्डे पर पहुँच जाएगा पुलिस की मेहरबानी से। अच्छा छोड़ो ये सब तो चलता ही रहता है। चाय पिलाते हैं शुक्ला जी को। आओ शुक्ला जी।"

"शुक्ला जी कोई काट 'ले गया' या ले गयी।" कैंटीन में पहुँचते ही किसी ने धीरे से कहा।

सभी लोग मंद मंद मुस्कराने लगे।

"शुक्ला जी का दो सौ का नुकसान हो गया और तुझे मजाक सूझ रहा है।" दूसरे ने प्रतिवाद किया।

"अरे तुम हँस रहे हो। मैं तुम्हें अखबार दिखा दूँगा इस धंधे में अब आधे से ज्यादा लड़कियाँ हैं।"

"लड़की ले जाती तो शुक्लाजी को कोई गम नहीं होता।" कहकर सभी ठहाके लगाने लगे।

शाम तक कम-से-कम पचास लोगों ने अपने-अपने मोहल्ले-रिश्तेदारों के किस्से सुनाये।

"जो हो गया सो हो गया अब क्या करना सोचकर। मैं दार्शनिक-सा बनकर अब ऐसे मुस्कराकर बता रहा था जैसे कोई बात ही न हुई हो। बैठे बैठाये तीस रुपये की जेब से दो सौ रुपये की सहानुभूति मिल गयी थी।

शाम को दफ्तर से निकलते हुए मुझे अहसास हुआ कि सचमुच ही दो सौ रुपये कटते तो क्या होता। कितना अच्छा हुआ कि तीस रुपये ही थे। नेट एक सौ सत्तर का फायदा समझो।

रास्ते में उतरकर मैंने रसगुल्ले खाये। यूँ समझूँगा कि तीस की बजाय चालीस रुपये कटे थे। सांध्य समाचार में राशिफल देखा, लिखा था, 'सुबह कुछ मानसिक अशांति के बावजूद शाम को धन प्राप्ति का संतोष।'

देखो कितना सही लिखता है। आज ऐसा ही तो हुआ है।

कविताएँ

☐ शम्भुनाथ सिंह

गाँव का चित्रहार

सोफे पर बैठ
दूरदर्शन के परदे पर
देख रहा चित्रहार मैं रावतपार[1] का ।
धमाचौकड़ी छोटे बच्चों की
बरखा में भीगना नहाना,
गाँगी-जमुनी[2] के गँदले जल में
तैर-तैर आर-पार जाना,
फूल बीनना मठ की फुलवारी में घुसकर
कनइल का और हरसिंगार का ।
शोर-शराबा पूरी बस्ती में
झगड़े छानी-छपरी-पेड़ के,
लाठी-बरछी से बातें होतीं
झगड़े हों खेत या कि मेंड़ के,
नाद और खूंटे के झगड़े उत्सव बनते
जब सवाल उठता अधिकार का !
ब्याह और पूजा की भीड़भाड़
ढोल और मांदर का पूजना,
आँगन में नलुआ का नाच[3]
और बाहर दर्दीला स्वर गूंजना,
लाठी लेकर दरवाजे पर पहरा देता
चित्र का सिपाही दीवार का ।
चित्रहार यह रावतपार का ।

---

१. कवि के जन्म ग्राम का नाम २. गाँव की दो तलैयों के नाम
३. भोजपुरी भाषी क्षेत्रों में स्त्रियों के एक नृत्य का नाम।

□ अवधेश कुमार

पेड़ों की पंचायत

पेड़ों की पंचायत में
हाज़िर नहीं हुई चिड़ियाँ
नहीं पहुँचे बादल

हाथ बाँधे खड़े रहे हम
जलती रही खुश्बूएँ
धीरे-धीरे लोप होता रहा दृश्य

हमने अपने कानों में देखा
एक सामूहिक हत्याकांड
आँखों से सुनी चीत्कारें
स्वाद से पहचानी दुर्गन्ध

इन्द्रधनुष कंधों पर ढोते हुए
नंगे पैरों पार किए
अनन्त तपते रेगिस्तान

हमारे पीछे थीं कुछ आत्माएँ
हमारे आगे थी उनकी परछाईयाँ
और पदचाप

हम ठिठक कर वहीं थम गए
हमारे भीतर उतर गए थे कुछ पेड़

पेड़ों की पंचायत फिर लगी
हमारे विपक्ष में
चिल्ला रही थीं चिड़ियाँ
गरज रहे थे बादल

टूट रही थीं बिजलियाँ
जली हुई खुश्बुओं की
हथकड़ियों में बँधे
छटपटा रहे थे हमारे हाथ

स्मृति ने हमारा साथ छोड़ दिया था
और समय ने भी
सिर्फ़ पेड़ थे जो सरसरा रहे थे
सिर्फ़ हवा थी जो उनके और
हमारे बीच फिर से पुल बन गई थी।

नींद में दिखे किसी बुरे सपने के बाहर
हम फिर से पेड़ों की पंचायत में आ बैठे थे

हाज़िर हुई चिड़ियाँ
लौट आए बादल
तैरने लगी खुश्बूएँ
लेकिन हमारे जो हाथ थे
बँधे रहे वैसे के वैसे ही।

आदमी

आदमी की उदास हरकतों का
मतलब आइने नहीं पकड़ते

आदमी का चेहरा बदलने की हिम्मत
सबसे ज्यादा ताज़ा हवा
के पास भी नहीं

वह आदमी इतना कठिन है
इस मौसम के लिए
कि किताब की दुनिया ने
भी घबरा कर
बन्द कर लिए अपने सारे रास्ते

चाय से लबालब भरे एक
बहुत सफेद प्याले की
पवित्र गरमाहट ने

थोड़ी सी हलचल पैदा की
उसके ललाट पर

उस आदमी ने पाया कि
गरदन या तो झुक सकती है
या तन सकती है

पसीने का क्षेत्र नहीं है उसका चेहरा
और उसकी हथेलियों को
बिना किसी कोशिश के
गुलाबी होना चाहिए

उसके ख़ून ने आगे बढ़कर
चाय के प्याले के साथ
गर्मजोशी से हाथ मिलाया
और उसने देखते-ही-देखते
खींचकर उस प्याले को
आईने की छाती पर दे मारा

कुछ नहीं हुआ सिर्फ़ थोड़ी-सी
हिंसा हुई
चीज़ों को ख़त्म होने के सिवा
और कुछ नुकसान नहीं हुआ

आदमी ने पाया कि
वह अभी तक मौजूद है
और कुछ कर सकता है

उसे कुछ करना चाहिए
उसने सोचा
और सीटी बजाते हुए
अपने कंधे उचकाने लगा

फिर उसने कहा कि मैं
कुछ करूँगा
फिर उसने सोचा कि हाँ
उसे कुछ न कुछ करना चाहिए

वह उठा और
बिखरे हुए काँच के टुकड़ों को
बटोरने लगा

समय

पहाड़ से उतर कर आती हैं ऋतुएँ
या फिर वे उस पर चढ़ कर
किसी सफेद दुनिया तक जाती हैं ।

ठंडे और गर्म रंगों से
ठिठुरता या पसीजता है आदमी

वक़्त पर भरोसा मत करो
एक उम्र बाद चीजें अपने आप
कहने लगती हैं उस आदमी से

ऋतुएँ बहुत ज्यादा पके हुए
फलों की तरह गदराई हुई
कीड़ों की कामना करती हैं
और उनकी ये इच्छा पूरी करती है धूप

आदमी सोचता है कि मैं एक बार
यह पूरा दृश्य पौंछ दूं और
फिर साफ-साफ दोबारा लिखूं
ये हवा
ये पेड़ ये पहाड़ ये रास्ता
ये घर ये लोग और यह समय

समय तक पहुँचते-पहुँचते
वह दृश्य फिर पुराना पड़ने लगता है
और ऋतुएँ उसे लगभग
सभी रंगों से भर देती हैं

उस आदमी का भरोसा साफ-साफ
लिखी हुई चीजों के ऊपर से
उठने लगता है और वह
समय के साथ चिपकना
शुरू कर देता है

समय चुपचाप उतर कर
आता है पहाड़ से
और उस आदमी के भीतर
अपने लिए
जगह बनाने लगता है

पके हुए आदमी के भीतर
समय एक इच्छित कीड़े की तरह
अपना आकार गढ़ता है

वह आदमी चढ़ नहीं सकता
पहाड़ पर
मगर उसकी इच्छा बनी रहती है
कि वह एक बार उस सफेद
बसन्त को जरूर देखे
जो पहाड़ से नीचे नहीं उतरता

ऋतुओं जैसी इच्छाओं से लदा
वह आदमी एक पके हुए पेड़ की तरह
पहाड़ से अपनी पीठ टिकाए
फिर कोशिश करता है
उस दृश्य को पोंछने की

मगर इस बार उसने शुरू किया है
समय से
और उसके बाद इस बार
लिखने को उसके पास
उससे आगे
नहीं है कोई शब्द

□ इन्दु जैन

रंग

रंग के बिना भी
फूल होते हैं

झांक रहा है आसमान
मटमैले जल में
रंग बदल रहा है
मटमैला हमेशा
गँदला ही नहीं
खासकर जब
खेत में है
खुले में
बारिश से भीगता
खुशबू से नहाता
हवा से बजता
बजाता

खुशबू

बारिश की खुशबू
साल दर साल को
पनीले धागों से बाँधती है

हर बार कुछ अलग हुआ था
ये बारिश भी वही नहीं
लेकिन
जो मच गया मेरे खून में
जिस तरह पगलाई चेतना

बूंद के लिए पसरती अँगलियाँ—
वही असल है

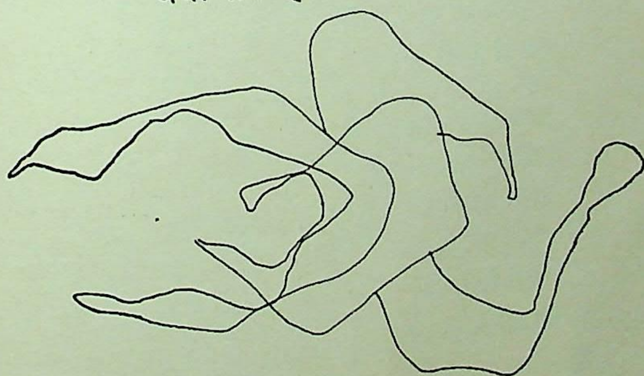
वही मैं मेघ हूँ
वही हवा
वही झड़ी
घटनाएँ भंगुर हैं
यही याद सच्ची है
खुशबू के घोड़े की
बेलगाम गति है

और पहचान

एक खुशबू ने छुआ
और फिर दूसरी लहर—
अटक कर खड़ी रह गई मैं
जैसे सपने के
जागते मोड़ पर।

एक कौंध तैर आई—
ये हरसिंगार है
वो रात की रानी
—जैसे साँस लौट आई

शुक्र है
मेरी खुशबू की पहचान
अभी बाकी है



□ विजय गौड़

एक स्त्री

मरकरी बल्ब की
अधपकी रोशनी में
होंसला एक पस्त हुआ
आत्म-संघर्ष त्रस्त हुआ ।

हल्की-सी रात में
आँतों की भींच थी
बातों ही बातों में
शब्दों की लीद थी ।

कविता की जमात में
ढेरों पन्ने थे
काली चाय सुड़कते
लक्कड़ गन्ने थे ।

घाघरा था, चोली थी
जीवन की आँख मिचौली थी
भोली थी, बस एक ही बात
कि कभी न बोली थी
विरोध-शब्द ।

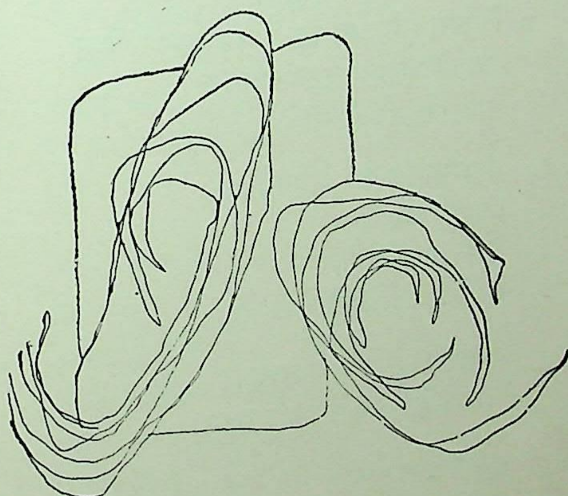
भावना की गोद में
या कि क्रोध में
उठाती थी बच्चों को
अपनी ओक में ।

भट्टी-सी धोंकती थी
हथौड़ा ठोकती थी
ढोती थी कन्धों पर
हाथों पर
पानी के गगरे
जीवन के झगड़े ।

ऐसा क्यों होता है

ऐसा क्यों होता है
कि शब्दों की रस्सी
हमेशा अर्थों के घेरे से
लम्बी होती जाती है,
और मैं
ताकता रहता हूँ तुम्हें
अधपके जामुन-सा

बाँध क्यों नहीं लेना चाहता
भले ही उसके मायने
अर्थों के घेरे से चिपटे रहें
और एक ही
सिमटा हुआ
घिसा पिटा अर्थ
शब्द बनकर निकल आये
या कि
ताश के हर खेल को
सिर्फ जुआ ही समझा जाये



□ राकेश रेणु

पिता के लिए

जानता हूँ
जला दिया होगा तुमने
ताबड़तोड़ उसे
और फिर
दबा दी होगी
उसकी राख
माटी के ढूह के नीचे
उसके सीने पर रोपते हुए
तुलसी का एक बिड़वा
सच करते हुए यह कथन
कि अब वह
जियेगा तुलसी में।

लेकिन सच-सच बताना
कितना मुश्किल रहा होगा तुम्हारे लिए
उसको जला पाना/दबा पाना
माटी के ढूह के नीचे।

बड़ा जीवट का आदमी था
जिंदगी भर जला
दैन्य की आग में
लेकिन जली नहीं कभी वह

लड़ा/गिरा/फिर उठा-लड़ा
लेकिन हारा नहीं कभी वह।

तुम देखना
जल जाएगी तुलसी ही

उसके भीतर की आग से
तुलसी में नहीं जिएगा वह।

लेकिन दबा नहीं रहने दूँगा मैं
उसकी आग
माटी के ढूह के नीचे
धीरे-धीरे बुझ जाने के लिए
निकाल लाऊँगा
अपनी हथेलियों पर
दबे अँगारे/उसकी आग
और समेट लूँगा सब
अपने सीने में
मरने/बुझने नहीं दूँगा उसे
मेरे साथ-साथ जिएगा वह।

मेरा गाँव

तुमने देखी है
मोतियों की लड़ियाँ
चुटकियों से झड़ती
छर्र-छर्र करती
दूध की धार ?
क्या तुम सुनना चाहोगे
बाल्टी में बजती
प्रकृति-संगीत ?
तो आओ मेरे साथ
मेरे गाँव

छेदी काका के लाठी की खट्-खट
खाँसी-भरे सीताराम के साथ
जगता है गाँव
धान कूटती कारो काकी,
बकरी चराती सीतिया,
खेत जोत कर लौटते
बैलों के साथ

पसिनाए लाल बाबू भैया
और
झूम-झूम कर/कूद-कूद कर/गा-गाकर
भूत उतारते
बहिरू भगत के साथ
गुजारता है दिन
मेरा गाँव।

मेरा गाँव
मिट्टी तेल के अभाव में
दिन ढलने से पहले ही
सिझा लेता है रात का खाना
जमा होता है थोड़ी देर के लिए
झा जी के दालान में
सुनता है देश की/दुनिया की बातें
नाथजी के मंदिर में
ढोल बजाता है
कीर्तन गाता हुआ गाँव
खाने के बाद सूखी रोटियाँ
राम-राम करता हुआ
सो जाता है
सुबह जल्दी उठने के लिए
यह गाँव।

राजधानी नहीं है मेरा गाँव
राजधानी से दूर है
कोई एक नहीं
देश में
हर कहीं है
मेरा गाँव।

□ अरुण कुमार

रोटी की शक्ल में

अक्सर/मैं सोचता हूँ
कविता को शब्दों की सीमा
से निकाल कर
फेंक दूँ सरजमीन पर
जो पसर जाये पूरे परिवेश में

और उसके अंदरूनी हिस्से में
कुछ ऐसी चीजें भर दूँ
जिसका हर टुकड़ा
रोटी की शक्ल में हो

लेकिन मैं यह नहीं चाहता हूँ
कविताओं में बारूद भरकर
आदमी और कविता के रिश्तों को
अपवित्र कर दूँ

कविता को/अब बहस या मशविरा का
मुद्दा न मानकर/इतिहास के ऐसे दौर में
शामिल हो जाना चाहता हूँ

जहाँ कविता ऐसे बंधनों से
मुक्त होने की भूमिका तैयार करती है
कि सही सोच-विचार की
कोई जात-बिरादरी नहीं होती

सही मायने में/सही कविता
सही आदमी के लिए लिखी जाती
जहाँ कीड़े और कूड़े नहीं होते
सिर्फ कविताएँ होती हैं

ऋतुगंध

नीम की टहनियों पर
टहकी हुई चाँदनी
अगोरे बैठा है कौन ?
मैं इसका निर्णय नहीं कर पाता

फिर भी झील सी
उमड़ी आँखों में
दीखती हैं परछाइयाँ मौन

सोनापाखी सुबह
जब लेती है अँगड़ाइयाँ
अड़हुल की टटाती टहनियों पर
ऋतुगंध-सी

तब गुलमोहर सा खिल उठता है
मेरा मन/आँगन की मुँडेरों की
ऊँचाईयों पर

सोचता हूँ
उसकी हथेली पर
रच दूँ ढेर सारी मेंहदी
और चम्पई चरणों पर
बिखेर दूँ अंजुरी भर फूल

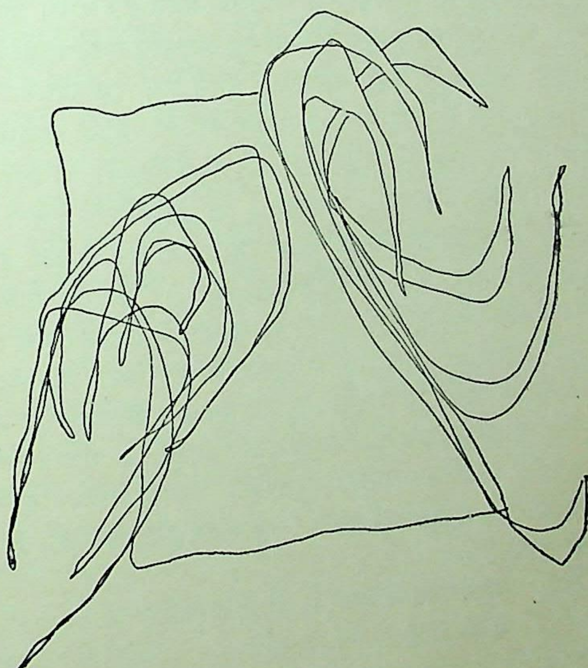
कितनी पवित्र होगी यह पूजा
कितनी सार्थक होगी यह रचना

वह कौन है ?

वह कौन है ?
जो मेरी रक्त नलियों में
अनथके बटोही की तरह
यात्रा कर रहा है/कई शताब्दियों से

किसके लिए
फेंक रहा है/शब्दों का बारूद गोला
मुक्ति के मोर्चे पर,
जहाँ सिर्फ मैं हूँ/और मेरा आकाश

शायद/वह फँस गया है,
मेरी नसों के जाल में इस कदर
कि अब बुनकर की तरह उसे
रोज जिन्दा और ताजा कविता बुननी होगी



पुस्तकें

'सबद मिलावा' का सच

□ महेश दर्पण

डोगरी की कविता-प्रतिभा को अन्य भाषाओं के साहित्य-प्रेमी पद्मा सचदेव के माध्यम से जानते हों···तो यह अकारण नहीं है। कविता के संसार शुरुआती जीवन में ही जिस कवयित्री में गहरे पैठ गये हों, वह यदि आज 'सबद मिलावा' सरीखी कृति हिंदी-जगत को समर्पित करती है तो यह उसके भीतर विस्तार लेती और निरंतर गहरी होती काव्य-संवेदना का एक ऐसा उदाहरण है जिसे कविता-प्रेमी संजोकर रखना चाहेंगे·· वो भी इसलिए कि उनके काव्य-संसार में जहाँ अपनी जमीन के प्रति गहन आत्मीयता दिखाई देती है वहीं वे जिंदगी के मतलब को पूरी तल्लीनता से तलाश करने की कोशिश में भी नज़र आती हैं। औरत की जिंदगी के दर्द को वे छू कर निकल भर जाना नहीं चाहतीं···उनमें वह टीस साफ़ नजर आती है जो जगत-अनुभव को 'शब्द' देना ही कविता रचना नहीं समझती। इनके यहाँ स्मृतियों का एक विराट और ऐसा आत्मीय जगत है जो हरदम साये की तरह साथ चलता है। संबंधों की ऐसी संलग्नता है जो कभी टूटना नहीं चाहती। परिवेश और प्रकृति की प्रस्तुति की ऐसी प्रभावी शक्ति है·· जो पकड़-पकड़ लेती है। और इन सबसे ऊपर ऐसा भोलापन है जो मोहाविष्ट कर लेता है। यहाँ फिर 'राजा के महल' हो या 'देस-निकाला', 'गुनाह' हो या 'जाल' 'आषाढ़ की हार' हो या 'चेहरा'·· अपने संसार से बाहर निकलकर रचना सार्वदेशिक हो जाती है। पर इन सबसे ऊपर, रचनाकार में अपनी जमीन से जो अटूट लगाव मौजूद है, वह कविता में बार-बार जैसे स्वतः उतर आता है। वह भी हर बार एक अनूठी आत्मीयता का संस्पर्श लिए। 'मिट्टी का मोह' कविता में जहाँ यही आत्मीयता उभरकर आयी है वहीं मनुष्य के जीवन-यथार्थ को प्रकृति के जरिये स्पष्ट भी बखूबी किया गया है। रचना-स्रोत ठीक ही कहता है कि मिट्टी का मोह हर मोह से तगड़ा है। हम सब किसी न किसी तरह से उन दरख्तों की तरह हैं, जिनकी जड़ें ज़मीन में मिट्टी के साथ बँधी हुई हैं। जीते जी यह मोह टूट नहीं सकता। यही वजह है कि 'पहाड़' जैसी रचना में सीधा-सरल सब उभरकर आता है कि :

अपने पर्वत मैं किसी के संग न बाँटूंगी,
ये मेरे मित्तर हैं मेरे संग रहेंगे।

पर यह सच अपना आकार बड़ा और प्रभावित करने वाला रूप तभी लेता है जब इन पहाड़ों के रंगों से इंसान अपने ख्वाब रंगने की कल्पना करता दीखता है। 'मेरा शहर', 'करधनी'

और 'मेरे देश का सौंदर्य' जैसी रचनाएँ अपने आपमें मिलकर मिट्टी के मोह को ही अभिव्यक्त करते हुए मन की व्यथा और आशा को जाहिर करने से पहले अपनी आँखों से पूरे जहान को उस मिट्टी की छटा दिखा देना चाहती हैं···ताकि मूल व्यथा के सही ताप तक पहुँचा जा सके।

'देस-निकाला' और 'अंधेरी गलियाँ' जैसी रचनाएँ यही काम भावुक अंदाज़ में आवाज़ को सतह से उठाकर लाती हुई करती हैं। आज़ादी के बाद का यह एक बड़ा सच है कि हमारा नागरिक मूलतः जहाँ से जुड़ा है। वहाँ उसे करने को काम मिल ही जायेगा इसकी कोई गारंटी नहीं है। पेट की खातिर या फिर और तमाम कारणों से जमीन से अलग हो जाने का यह एक ऐसा दुख है जो स्मृतियों के हरे होते ही टीसने लगता है·· क्या आज हम सब प्रवासी का-सा जीवन जीने को विवश नहीं हैं ?

औरत की जिंदगी के दर्द को पद्मा जी अपने ही अंदाज़ में उकेरती चीखती हैं। यह दर्द उनकी रचनाओं में बार-बार सामने हो आता है। 'जाल' में हो या 'लड़कियों का जीवन' में 'ये क्षण' हो या 'लंबे बाल'···वे जैसे अलग-अलग कोणों से इसकी धड़कती तस्वीर को दूसरों तक, खींचकर, ले जाना चाहती हैं। यह दीगर बात है उनके यहाँ कि दर्द सहते-सहते औरत उस जिंदगी की आदी ही हो गयी है जिससे बाहर निकलना कहीं उसकी एक बड़ी चाहत भी है। 'उगलत निगलत पीर घनेरी' वाले अंदाज़ में यहाँ औरत अपनी उम्र की कठिन वेला इसी जाल के भीतर दबकर काट लेना चाहती है जो उसके आस-पास बँधा हुआ है, यह सच रचना का है ···पर इस संग्रह की विशेषता यह है कि काव्यमय गद्यांशों के जरिए अपनी एक-एक रचना की ज़मीन का खुलासा भी रचनाकार ने किया है। और उसके लिहाज़ से यहाँ मौजूदा परिस्थितियों के बरक्स एक सवाल खड़ा किया गया है कि इस जाल से रिहाई मिलने पर क्या आदमी आस-मान में एक चिड़िया की तरह उड़ सकता है, अपने मन में बादलों के हिंडोले पर बैठकर आस-मान से आँख-मिचौनी खेल सकता है ? यदि हाँ, तो मुझे भी मुक्ति चाहिए·· भले ही मैं टूटे हुए काँटों का दर्द झेलती रहूँ। औरत जिस दोहरेपन में जीने को अभिशप्त है—'अर्थो हि कन्या पटकीय एव' का सच ·· दो मन लेकर जीने का दूभर रास्ता कितना लंबा हो जाता है···यह ज़िदगी की टेढ़ी सीवन और उघड़े बखिये को समझ सकने वाली ही जान सकता है। ठीक इसी तरह की जिंदगी के एक कोण का खुलासा करती है रचना—'ये क्षण', यह वह क्षण है जहाँ से औरत की ज़िंदगी का अर्थ और मकसद ही बदल जाता है। ज़मीन की गंध से सराबोर ये कविताएँ कहीं-कहीं एकदम लोकगीतों की-सी शक्ति समेटे रू-ब-रू होती हैं। 'लंबे बाल' ऐसी ही रचना है—जहाँ बालों के जरिए इस संसार की एक नयी ही तस्वीर खुलती है।

प्रकृति के जरिए, और उसके साथ इंसानी रिश्तों का-सा आभास लिए तो यहाँ रचना-कार मानव-मनोभावों को पूरी गहराई के साथ प्रस्तुत करता-दीखता ही है···पर प्रकृति के दृश्यों को भी शब्द चित्रों की-सी शैली में खूब बाँधता है :

सुबह की बढ़ती हुई रोशनी
जैसे
फौज में गये सिपाही की पत्नी के
ससुराल की तरफ
बढ़ते कदम
धीरे-धीरे

होले-हवालों के साथ
ये रोशनी देखने के लिए
बादलों के झुण्ड रुक गये हैं
कुँआरी बेटी के बाबुल की तरह
सरनिगू हैं

रोशनी की नज़र
सबसे पहले
पारिजात के धूल में सिर दिये
फूलों पर पड़ी है
कुछ देर टिकी रही है

सारी रात टहनियों ने
अपनी बाँहों में
इन्हें भींचकर रखा
सुबह होते ही बाहें खोल दीं
फूल गिर गये
सिर लहूलुहान हो गया
मिट्टी में मिल गये
पानी की तरह धुल गये
पर अभी भी इनमें से
टहनियों के पसीने की
खुशबू आ रही है

ऐसी रचनाएँ किसी तरह की शास्त्रीय व्याख्या की मुहताज़ नहीं होतीं। क्योंकि यहाँ एक-एक चीज़ ज़िंदगी से ऐसे जुड़ी है जैसे इन्सान। यही 'सबद मिलावा' का सच-सार है, ठीक यही अंदाज़ 'आषाढ़ की हार' का भी है। यहाँ मानवीकृत प्रकृति का ऐसा सजीव चित्रण है जो अपने समूचेपन में मोह लेता है। सावन की पहली बदली या बरखा का पहला आँसू, रातरानी का पहला गुच्छा हो या सावन का पहला कीचड़, पेंग का पहला झूटा हो या आषाढ़ की पहली हार ...एक-एक चित्र ऐसी मोहनी छटा लिए है कि बरबस जम्मू की पहाड़ियाँ आँखों में उतर आती हैं जहाँ बकौल कवयित्री कोई चरवाहा गा उठता होगा—

छाई घटा घनघोर ठंडियाँ बूँदा पैइयाँ !

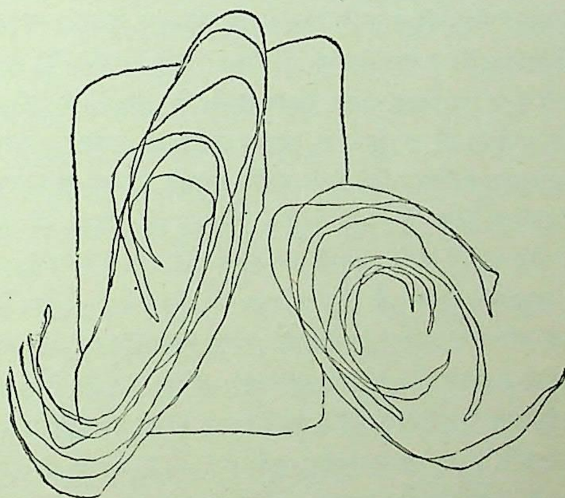
स्मृतियों के बंध और आतमीय संबंधों की स्मृतियाँ अटूट होती हैं। विभाजन के दानवी दौर में जब अनगिनत लोगों को असह्य दुख झेलना पड़ा था...तब लाखों लोग यतीम हो गये थे और अनेकों स्मृतियों की शक्ल में तब्दील हो चले थे। ऐसी ही एक आतमीय स्मृति है—'चेहरा' रचना की पूरी सादगी के बावजूद रचनाकार यहाँ वह प्रभावान्विति नहीं ला सका है जो 'बूंद' और 'गुनाह' सरीखी कविताओं में मौजूद है। यह रचनाएँ जहाँ ज़िंदगी के सही मतलब का खुलासा करती हैं वहीं जीने की कला की ओर भी इशारा करती हैं। पानी की बूंद से लहू बन

जाने तक की प्रक्रिया यहाँ किसी गूढ़ दार्शनिक मुद्रा में नहीं, सहज-सरल रूप में मुखरित हुई है।

पद्मा सचदेव का रचनाकार प्राय: व्यक्ति से जगत की ओर प्रस्थान करता दीखता है, उसका मन व्यक्ति के जीवन में पूरी संलग्नता से रमता है। उसके सुख-दुख, आशा-निराशा, चिंताएँ और संकट, प्रेम और पीड़ा, लगाव और अलगाव···सभी को पद्मा जी भोक्ता के रूप में रचती, प्रस्तुत करती नज़र आती हैं। मानव-मूल्यों के प्रति उनमें जहाँ गहरी आस्था है वहीं वे मनुष्य-मनुष्य के बीच उपस्थित अंतर को भी महसूस करती हैं, उनका यह अनुभव ही 'राजा के महल' सरीखी महत्त्वपूर्ण रचना दे सका है, विभाजन की विभीषिका और अपना सब कुछ लुटा चुके असंख्य लोगों में एक वह वृद्धा जिसे देख-सुनकर चौदह-पंद्रह साल की लड़की इतनी प्रभावित हुई कि उसके प्रज्ञा-चक्षु ही खुल गये। यह रचना सर्वहारा के आक्रोश का ताप और उसकी आँखों में समायी घृणा को इस तरह प्रस्तुत करती हैं कि इंसान और इंसान के बीच दीवार खड़ी करने वाले के प्रति मन वितृष्णा से भर उठता है।

यह कहा जा सकता है कि सचमुच पद्मा जी डोगरी-कविता की पहचान बनाकर उपस्थित हुई हैं। और यह उपस्थिति जिस रूप में प्रकाशित हुई है वह एक ऐसी आदर्श स्थिति है जहाँ रचना और पाठक के बीच किसी तीसरे की उपस्थिति बेमानी हो जाती है।

'सबद मिलावा' : **पद्मा सचदेव**, प्रकाशक : **राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०**, १ बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२, मूल्य : ४० रुपये।



अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भों में नेहरू का मूल्यांकन

□ अशोक जैन

स्वतन्त्र भारत के पहले प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने भारत में ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी जितनी लोकप्रियता अर्जित की, वह दुर्लभ है। निसंदेह वे बीसवीं शताब्दी के महानतम व्यक्तियों में से थे। विश्व के चोटी के नेताओं ने उन्हें सम्पूर्ण मानव जाति का नेता स्वीकार किया है। विश्व नागरिक के रूप में उनकी ख्याति लिंकन, चर्चिल, लेनिन तथा माओ के समान हुई।

विलक्षण बुद्धि के धनी जवाहर लाल नेहरू के चमत्कारी व्यक्तित्व ने समूची मानव जाति पर अपने आदर्शों, विचारों एवं कार्यों की ऐसी अमिट छाप छोड़ी है कि भारतीय एवं विदेशी विद्वानों, नेताओं, चिन्तकों ने उनके प्रति अपार श्रद्धामय विचार व्यक्त किए हैं। डॉ० भक्तराम शर्मा की पुस्तक 'नेहरू अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य' इसी शृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्रस्तुत पुस्तक में नेहरू को विश्व मानव, विश्व शान्ति के अग्रदूत, भारतीय समाजवाद के जनक, लोकतांत्रिक परम्पराओं के निर्माता, महान स्वतंत्रता सेनानी, विश्वव्यापी शाश्वत साहित्य के रचयिता भारत-सोवियत मित्रता के प्रधान प्रवर्तक के रूप में पहचाना और उनकी उपलब्धियों को रेखांकित किया है। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में नेहरू की सफल भूमिका का मूल्यांकन किया है और अन्त में उनके बहुमुखी व्यक्तित्व पर विस्तार से प्रकाशडाला है।

लेखक के अनुसार— नेहरू पूर्व और पश्चिम के बीच एक प्रकार के दुभाषिए थे। पाश्चात्य उदारवाद, गाँधीवाद और मार्क्सवाद के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का अपनी विचार धारा में पूर्ण सामंजस्य करके उन्होंने ऐसी लोकप्रियता अर्जित की थी, जिसका उदाहरण देश और विदेश के अन्य किसी राजनीतिक व्यक्तित्व में शायद ही मिले। यही कारण था कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनकी सलाह सम्मानपूर्वक सुनी एवं मानी जाती थी। युद्धविहीन संसार की कल्पना करने वाले, पंचशील के प्रचारक, धर्म निरपेक्षता के समर्थक, निःशस्त्रीकरण के प्रस्तोता के रूप में आने वाली पीढ़ियां नेहरू को सदा याद करेंगी।

विश्व के निर्धन, पिछड़े, असहाय और अविकसित राष्ट्रों को नेहरू ने मिस्र के राष्ट्रपति नासिर और युगोस्लाविया के मार्शल टीटो के साथ मिलकर एक मंच पर एकत्र किया तथा एक शक्तिशाली गुट निरपेक्ष आन्दोलन खड़ा किया। इस तरह नेहरू की पहल से ही तीसरी

दुनिया के देश संगठित हुए। इतिहास के आधुनिक काल में विश्व के रंगमंच पर साम्राज्य-वाद के उन्मूलनार्थ प्रयासों के लिये नेहरू सदैव स्मरणीय रहेंगे। विश्वमानवतावादी होने के नाते तथा गरीबी दूर करने, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुधारने एवं विश्वशांति के लिए तत्पर रहते थे। पूर्व और पश्चिम के बीच संघर्ष के कई अवसर आये जब महायुद्ध की विभीषिका फैल सकती थी, नेहरू के विवेक ने संसार को महाविनाश से बचा लिया।

अठारह वर्ष तक भारत के करोड़ों लोगों के लिए प्रकाश स्तम्भ बने रहे। बच्चों के प्रति असीम प्यार से भरे 'चाचा नेहरू' की राजनीतिक दूरदर्शिता का परिणाम ही 'आज का औद्योगिक भारत' है।

पुस्तक में लेखक ने नेहरू जी के आदर्शों एवं विचारों को उनके ही भाषणों के अंशों के माध्यम से रेखांकित किया है जो उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की झलक प्रस्तुत करते हैं।

उन्होंने 'समाजवाद' पर अपने सुचिन्तित विचार इस प्रकार व्यक्त किए थे—

"मैं उस प्रकार के कट्टर राज्य-समाजवाद का समर्थन नहीं करता, जिसमें सरकार सर्व-शक्तिमान होती है और प्रायः सब कुछ उसकी इच्छा पर निर्भर करता है। मैं आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण चाहता हूँ—निः संदेह, हम लोहे, इस्पात और इसी प्रकार के बड़े उद्योगों का विकेन्द्रीकरण नहीं कर सकते लेकिन अन्य छोटे-छोटे कारखाने रखे जा सकते हैं। जहाँ तक संभव हो, उन्हें सहकारिता के आधार पर रखा जाए और उन पर सरकार का नियंत्रण रहे। इस विषय में मैं रूढ़िवादी बिलकुल नहीं हूँ। हमें व्यावहारिक अनुभव से सीखना और अपने तरीके से 'आगे बढ़ना' है। (पृष्ठ ५२-५३)

भारतीय जनता के हृदय-सम्राट नेहरू निर्धनों, मजदूरों एवं किसानों के प्रति न केवल सहानुभूति रखते थे बल्कि उनके महत्व को समझते थे। उनके उत्थान के लिए दृढ़संकल्पी श्री जवाहर लाल नेहरू के विचार दृष्टव्य हैं—"मैंने देशाटन बहुत किया है और दुःख के साथ दूसरे देशों के किसानों की दशा से अपने किसानों की तुलना की है। दूसरे देशों में मैंने देखा है कि वहाँ के किसानों को आराम की और भोग विलास की भी वस्तुएँ सुलभ हैं जबकि हमारे यहाँ घोर तंगी और गरीबी का निवास है और उन बुरे रिवाजों के कारण जिन्हें हम अब भी मानते चले आते हैं, परिस्थिति और भी बदतर बन जाती है। इस गरीबी के कारणों से हमें भिड़ना चाहिए और इन रिवाजों को जो कि हमारी उन्नति के मार्ग में रोड़े अटकाती है, दुत्कार देना चाहिए।

क्या आपने कभी समझा है कि सारे कलपुर्जे जिस रुपये से चलते हैं वह रुपया देहातों से ही आता है। सारा रुपया जो कि फौज पर और वायसराय, गर्वनरों और दूसरे अफसरों की लम्बी-चौड़ी तनख्वाहों में व्यय किया जाता है। वह गरीबी से सताये हुए भारत के गाँवों के सिवाय और ज्यादातर कहाँ से आता है? हमारे नगर भी हमारे गाँवों के मत्थे ही गुजारा करते हैं। लेकिन इस सबके बदले में हमारे गाँवों को मिलता ही क्या है? आपका सारा रुपया ले लिया जाता है और जब आप धन की याचना करते हैं तो कृपा के रूप में कुछ कौड़ियाँ आपको थमा दी जाती हैं। दूसरे देशों में राज्य का यह पहला और लाजिमी कर्त्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को निःशुल्क शिक्षा दें, इलाज और सफाई की सुविधाएँ निःशुल्क जुटायें और गरीबों के रहने के लिये अच्छे मकान बनाएँ। लेकिन हमारे यहाँ अफसरों को लम्बी-चौड़ी तनख्वाहें देना ही आवश्यक समझा जाता है।"

सन् १९५१ ई० में राष्ट्रसंघ में बोलते हुए उन्होंने कहा था—"मैं केवल प्रधानमंत्री नहीं हूँ, उससे कुछ ज्यादा हूँ। मैं आदमी हूँ, इन्सान हूँ। अक्सर मैं थोड़ी-सी रोशनी पाने के लिए मन ही मन संघर्ष किया करता हूँ। मेरी बेचैनी का सबब यह है कि मैं समझना चाहता हूँ कि इंसान को, दरअसल, होना कैसा चाहिए। मैं उस सत्य का रास्ता पाना चाहता हूँ। (पृष्ठ २७)

२१ जून १९५५ को मास्को के डायनेमो स्टेडियम में नेहरू जी ने जो भाषण दिया था वह न केवल भारत-सोवियत इतिहास में वरन् विश्व के इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखता है। उस भाषण का एक अंश—"हमारा विश्वास रहा है कि एक देश द्वारा दूसरे देश पर अधिपत्य स्थापित करना बुरी बात है, और जब हम अपनी स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करते थे उस समय भी हम उन देशों के साथ सहानुभूति दिखाते थे जो विदेशी अथवा निरंकुश शासन से अपने को मुक्त करने के लिये प्रयत्नशील थे। हर देश और राष्ट्र अपने अतीत द्वारा तथा अनुभवों द्वारा, जिनसे वे गुजरे हैं, प्रभावित एवं निर्धारित हुए हैं और उन्होंने एक हद तक अपने व्यक्तित्व का विकास किया है। वे विदेशी शासन के अन्दर अथवा बाहर से अपने ऊपर कोई चीज लादे जाने की हालत में प्रगति नहीं कर सकते। वे तभी बढ़ सकते हैं, जब वे आत्मनिर्भरता तथा अपनी शक्ति का विकास करें और अखंडता कायम रखें। हम सबों को दूसरों से सीखना है और हम अपने को एक-दूसरे से अलग नहीं रख सकते, लेकिन उस तरह से सीखना उपयोगी नहीं हो सकता, यदि वह बाहर से लादा जाता है। (पृष्ठ ४१)

साहित्य के विषय में उनका कहना था—"किसी देश की असल जागृति उनके नए साहित्य से मालूम होती है, क्योंकि उसमें जनता के नए-नए विचार और उमंगें निकलती हैं—इसलिए हमारे लिए यह जरूरी है कि हम अपने साहित्य की तरफ ध्यान दें, और उसको एक नया रूप दें, जिससे वह नए हिन्दुस्तान के हुलिये का एक आश्ना हो। बुनियादी बात यह है कि हमारे साहित्यकार इस बात को याद रखें कि उनको थोड़े से आदमियों के लिए नहीं लिखना है, बल्कि आम जनता के लिए लिखना है जब उनकी भाषा सरल होगी और देश की असली संस्कृति की ताकत उसमें आ जायेगी। (पृष्ठ ८५)

नेहरू जी अमीर और गरीब के अन्तर को खत्म करना चाहते थे। वे आर्थिक समानता चाहते थे। उसी को वे असली प्रजातंत्र समझते थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा था—"जो लोग ऊपरी चोटी पर हैं और जो लोग नीचे जमीन पर हैं—उनके बीच बहुत बड़ी खाई है। अगर हम प्रजातंत्र लाना चाहते हैं तो यह जरूरी और अनिवार्य हो जाता है कि न केवल इस खाई को पार किया जाए, बल्कि इसकी गहराई को भी पाटा जाए। वास्तव में, जहाँ तक अवसरों का सम्बन्ध है, जहाँ तक रहन-सहन की स्थिति का सम्बन्ध है और जहाँ तक जीवन की आवश्यकताओं का सम्बन्ध है—उन्हें अधिक से अधिक नजदीक लाया जाए।" (पृष्ठ ६५)

जवाहर लाल नेहरू लोकप्रियता के जिस ऊँचे शिखर पर पहुँचे वहाँ उनके विषय में परस्पर विरोधी मतों का पैदा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कुल मिलाकर यह पुस्तक नेहरू के बहुआयामी व्यक्तित्व की अन्तर्राष्ट्रीय कार्य शैली, सोच पर जो प्रकाश डालती है और विभिन्न संदर्भों को जितनी गहराई से छूती है वह न केवल महत्त्वपूर्ण है बल्कि पुस्तक को पठनीय भी बनाता है।

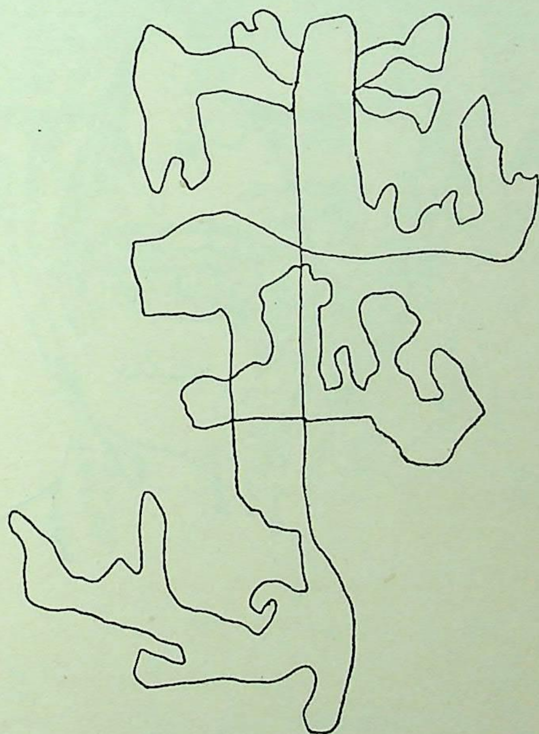
अन्त में, पुस्तक के उस महत्त्वपूर्ण संदर्भ को अवश्य रेखांकित करना चाहूँगा जिसके बारे

में शायद ही किसी को कोई असहमति हो।

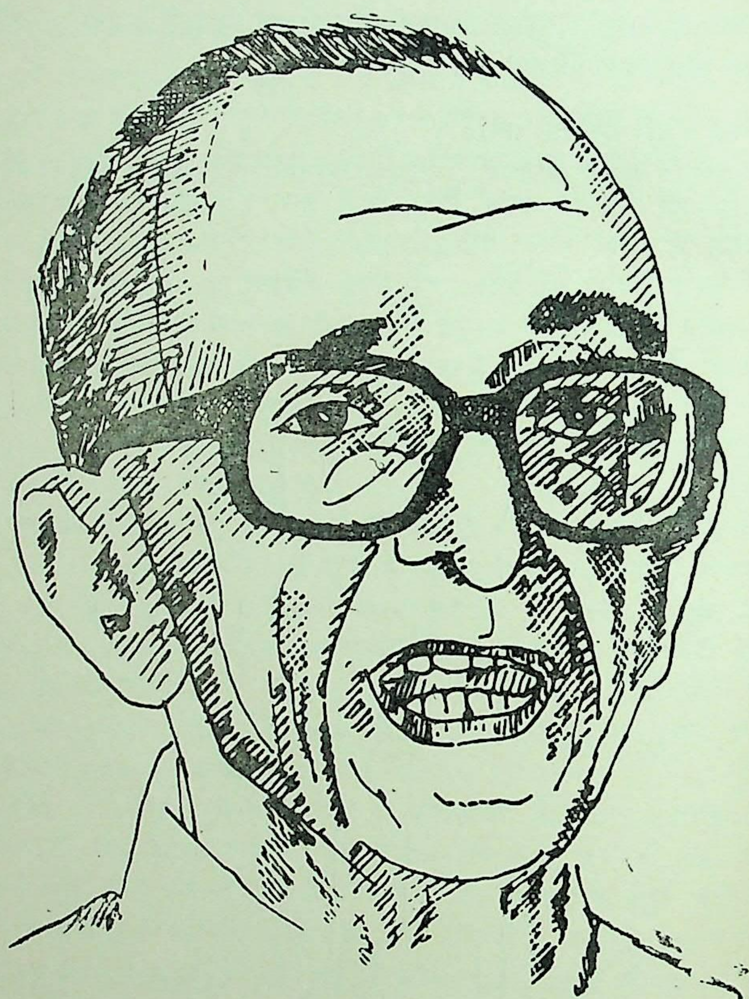
"परिस्थितियों ने उन्हें लोकनायक बना दिया, अन्यथा प्रकृति ने तो उन्हें एक कलाकार ही बनाया था। ऐसा कहा जाता है कि यदि भारत १९४७ में स्वतंत्र न होकर १९०५ में स्वतंत्र हो गया होता, तो जवाहर लाल एक महान साहित्यिक होते। उनकी रचनाओं को विश्व में उच्च स्थान प्राप्त हुआ। इसका कारण है उनकी अन्तर्दृष्टि और कल्पना शक्ति। उनकी छोटी से छोटी पुस्तक हो या बड़ी से बड़ी पुस्तक सभी को पढ़ते हुए लगता है कि हमारे सामने किसी विशाल लोक की सृष्टि हो गई हो।"

लेखक : **डॉ० भक्तराम शर्मा**

प्रकाशक : जयश्री प्रकाशन, ४/११५ विश्वास नगर, दिल्ली ११००३२, मूल्य : चालीस रुपये।

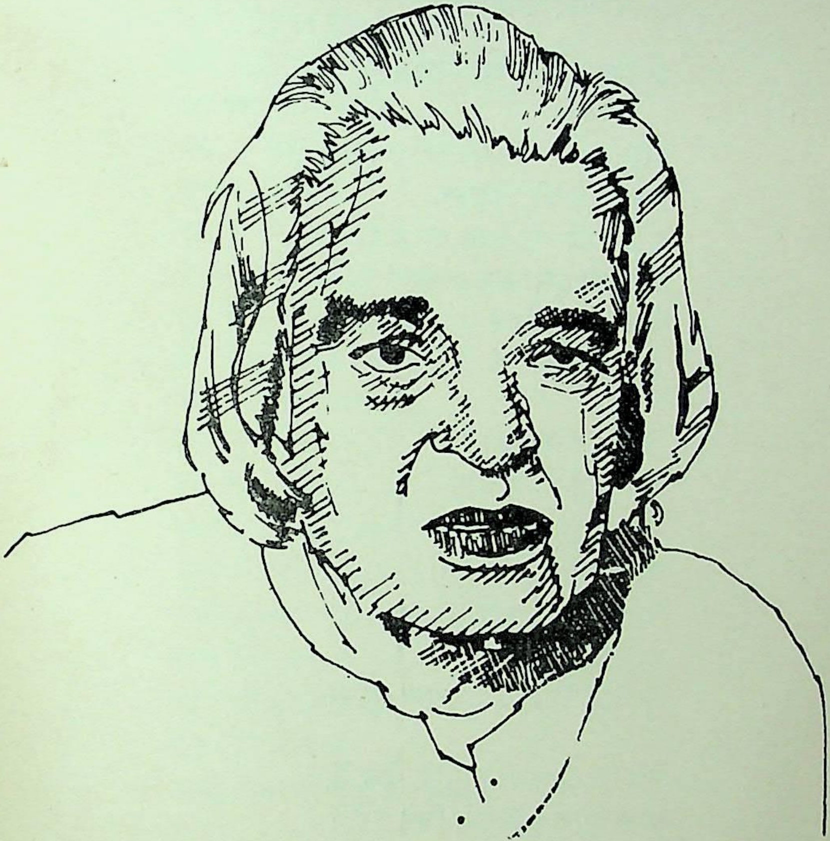


श्रद्धांजलि



उमाशंकर जोशी

जन्म : २७ जुलाई, १९११
निधन : १९ दिसम्बर, १९८८



का० ना० सुब्रह्मण्यम्

जन्म : ३१ जनवरी, १९१२
निधन : १५ दिसम्बर, १९८८

☐ नेदनूरि गंगाधरम्

मौत से मुकाबला

दोस्त :
इस भाँड़े को फोड़कर
इस सफ़र को खत्म कर,
दिए को बुझा कर
देश को छोड़कर
जाओगे कहाँ

लेकिन याद रखो !
तुम जहाँ भी जाओगे
उधार तुम्हारा न छूटेंगा
फ़बतियाँ खत्म न होंगी
यातनाएँ दूर न होंगी
आँसू न सूखेंगे
तुम्हारी परछाईं तुमसे न छूटेगी।

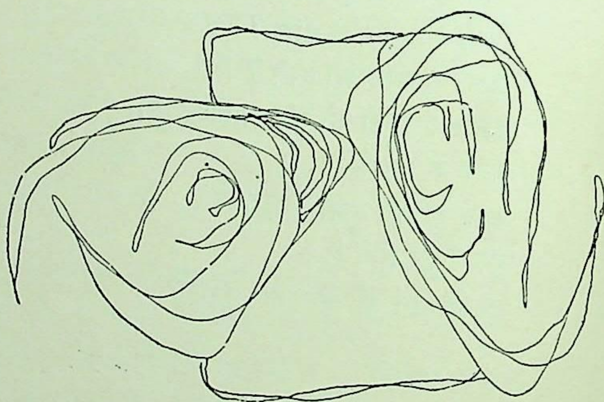
जब तक है नमी तुम्हारे दिल में,
चारों ओर उधार से घिरे रहोगे।
जब तक है ताक़त पेशियों में,
फ़बतियाँ कसती रहेंगी।
जब तक है तुम्हारी दिल में कोई चाह
यातनाएँ सताती रहेंगी।
जब तक है आँखों में करुणा छिपी
आँसू बहते ही रहेंगे।
जब तक है तुम में रोशनी
साथ तुम्हारी रहेगी परछाईं।

माटी से ही पैदा होती है मोति
दल-दल से ही विकसित होता है कमल
माटी से जन्मे हम और तुम
मोती सा चमकना है
दल दल से विकसित होना है तुम्हें
कमल के समान खुशबू विखेरनी है।
हताश होकर बैठ जाओगे
फिर सफ़र करोगे जहन्नुम का
इस पथ को नकारोगे
बस, हो गया तुम्हारा कल्याण।
जरा ख्याल करो,
तुम से भी गए बीते हैं
उनको तुम्हें रास्ता दिखाना है।
तुम से भी जो बेहतर हैं,
तुम्हें उनका मुकाबला करना है।
क्या किरकरी गिरने से
आँख फोड़ डालोगे ?
दाँत तले कंकड़ के आने से
खाने को ही फेंक दोगे ?
फूलों में कीड़े भी होते हैं
इसलिए फूलों को सूँघना छोड़ दोगे ?
हाथ के जलने से
चूल्हे को ही बुझा दोगे ?
कुआँ दूर होने से
पानी पीना ही बन्द कर दोगे ?

जरा परखो,
जहाँ अच्छाई है, है वहीं बुराई
जहाँ दुख है, है वहाँ सुख
जहाँ फसल है, है वहाँ खलिहान
यह अमावस शाश्वत नहीं है
शिला को उकेरोगे छैनी से
शिल्प बनकर खड़ा होगा।
जमीन को जोतोगे उठ आने पर
फसल उगेगी भरपूर

फूलों को गूँथोगे धागों से
हार बनकर तैयार होगा।
आग में तपाकर
सोने की ठोक-पीट करोगे,
तो वह गहना बन जाएगा।
मेहनत की क्यारियों में से ही
सुख के बीज अंकुरित होंगे
कल के सुख के लिए
आज की मेहनत जरूरी है
कल के जीने के लिए
आज मौत से ही मुकाबला करना है।

अनुवाद : **विजय राघव रेड्डी**



तेलुगु कहानी

गुलाम

☐ **श्री वल्लूरू शिवप्रसाद**

महीने के आखिरी दिनों में पैसे की तंगी से परेशान होना रामाराव के लिए आम बात थी। फिर भी इस तरह की कठिनाई हाल में उसके सामने कभी नहीं आई थी। अगले ही दिन उस महीने का वेतन मिलने वाला था। लेकिन फिलहाल उसके हाथ में फूटी कौड़ी भी नहीं बची थी।

छह बजे ही वह दफ्तर से निकल गया था। यार-दोस्तों के साथ बाजार में गपशप और चहलकदमी करके रात के नौ बजे तक घर पहुँचना उसकी आदत थी। ऐसे में उस दिन जेब एकदम खाली हो गई तो उसका मन बिलकुल अशान्त हो उठा था।

दफ्तर और घर के बीच लगभग चार-पाँच किलोमीटर की ही दूरी थी। सिटी बस से तो पन्द्रह मिनट का रास्ता था। लेकिन बस का टिकट लेने के लिए पचास पैसे उसके पास नहीं थे। उसके सामने अब पैदल चलने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं था।

जेब में जो थोड़े-बहुत फुटकर पैसे बचे थे, उन्हें बटोरकर उसने साढ़े तीन बजे चपरासी से तीन सिगरेट मँगा ली थीं और एक घंटे के ही अन्दर वे फूंक भी डाली थीं। तब से लेकर अब तक उसे फिर पीने के लिए सिगरेट नहीं मिली थी।

रामाराव बाजार में चल तो रहा था, मगर उसका दिमाग बिलकुल काम नहीं कर रहा था। आखिरी बार सिगरेट पीये उसे पूरे तीन घंटे हो रहे थे। सबकुछ ठीक-ठाक रहता तो वह अब तक और दस सिगरेट फूंक चुका होता।

उसके दिल के भीतर कुलबुलाहट थी।

"कमबख्त ! उसने किस तरह धोखा दिया था।" राजू को उसने अब तक सौ बार कोसा होगा।

जीवन में कई अन्य बातों में जो दूर दृष्टि नहीं होती, वह उसके लिए सिगरेटों के मामले में तो हमेशा रहा करती। रोजमर्रा के खर्च में वह सबसे पहले केवल सिगरेटों के लिए ही सतर्क रहता। उसके चिंतन में उसके बाद ही किसी दूसरी चीज की बारी आती।

दोपहर को लंच अवर में राजू से उसने कहा था—"राजू ! दस रुपये देना यार। कल लौटा दूंगा।"

"मेरे पास तो खुले रुपये नहीं हैं भाई ! पचास का नोट है। शाम को जाते समय तोड़कर दूंगा।" राजू ने कहा।

रामाराव ने इतमीनान की साँस ली कि उस दिन के लिए काम निकल गया और बला टल गई। पाँच बजे तक वह निश्चित होकर फाइलों में अपना सिर खपाता रहा था। पाँच बजते-बजते जब वह सिगरेट के लिए जेब टटोलने लगा तो उसे राजू की बात याद आई।

अगर राजू भूलकर चला जाए तो फिर उसके लिए यह दुनिया ही उलट जाएगी। इसलिए चपरासी से उसने बगल वाले अनुभाग में राजू को संदेश भेजा कि जब तक मैं तुमसे न मिलूँ तब तक चले न जाना।

चपरासी ने लौटकर उसके लिए वज्रपात-जैसी खबर सुनाई। "घर से कोई रिश्तेदार आए तो खबर पाकर अभी-अभी वे जल्दी में साब चले गए।"

रामाराव की मानो जान ही निकल गई थी। चंद मिनट के लिए उसके हाथ-पैर सुन्न हो गए थे। उसे लगा कि जैसे वह अपनी सीट पर नहीं, बल्कि काँटों पर बैठा है। उठकर जाने की इच्छा हुई, पर सामने यमराज की तरह अधीक्षक महोदय बैठे दिखाई दे रहे थे।

"यह फाइल सवेरे ही प्रस्तुत करनी होगी। बहुत आवश्यक है।" यह कहकर अधीक्षक ने आधा घण्टा पहले ही उसके गले बाँध दिया था।

एक घण्टे के अन्दर ही काम पूरा करके उसने अधीक्षक के सामने रख दिया। उसके जी में आया कि उन्हीं से उधार माँगे।

'उधार दोस्ती के लिए खतरा है'—यह उनका आदर्श-वाक्य था। चाहे कुछ भी हो, वे एक पैसा भी हाथ से निकलने नहीं देते थे। उसने सोचा कि उनसे माँगकर भी कोई फायदा नहीं होगा।

जो लोग चले गये, सो चले गए थे। अब सेक्शन में कौन-कौन बचे थे? ले-देकर कागजों को हिलाते-डुलाते हुए एकाउटेंट वरदैया और शरत—बस दो ही व्यक्ति वहाँ पर मौजूद थे। वरदैया से माँगने पर वह दे तो देगा, पर लोगों के सामने उसकी इज्जत नहीं रखेगा।

"क्यों जी! रामाराव हमेशा पैसे उधार लेने की ताक में रहता है। कहीं किन्हीं बुरी आदतों में तो नहीं फँस गया है?" सामने आए हर व्यक्ति से यूँ कहकर वह उसकी खिल्ली उड़ायेगा।

इसीलिए उसने तय कर दिया कि इस व्यक्ति से भी नहीं माँगा जाए। पास में पैसा हो तो शरत दस रुपये तो दे ही सकेगा। उसने मन ही मन सोचा और कह भी दिया।

"शरत! मुझे दस रुपये देना। कल दे दूँगा। सिगरेट के लिए बिलकुल नहीं बचा है।"

शरत ने एक मिनट के लिए उसे गौर से देखा। उसकी पतली शर्ट की जेब से दस का नोट रामाराव को दिख ही रहा था। इसीलिए उसकी आशा बँधी कि शायद दे देगा।

"मुझे अफसोस है भैया! तुम्हारी कोई दूसरी जरूरत होती तो मैं इनकार नहीं कर पाता।" बिना किसी संकोच के उसने कह दिया।

रामाराव तिलमिला उठा। "मैं चाहे कुछ भी करूँ, तुम्हें दान तो नहीं देना है?" उसने कहना चाहा। उसका मिजाज जानकर भी झूठ बोलकर काम निकालने के बजाय वह अपनी बेवकूफी से असली बात कह बैठा था।

हाल ही में शरत ने सिगरेट पीना छोड़ दिया था। एक दिन उसने अपने प्रिय मित्रों को चाय पार्टी दी थी और किसी महान कार्य को संपन्न करने के अंदाज में भाषण भी दिया था—

"प्यारे दोस्तो! आपको शायद यूँ लग सकता है कि आज यह पार्टी देने का कारण

बहुत छोटा है। आप भले ही मेरा मजाक उड़ाएँ कि इतनी-सी बात के लिए यह आयोजन किया गया है, फिर भी मैं अपने संतोष के लिए यह कर रहा हूँ, इसलिए मैं आपके इस तरह सोचने से बुरा नहीं मानूँगा।

मैंने सिगरेट पीना छोड़ दिया है। यह कमजोरी बहुत अर्से से मेरे अंदर जड़ें जमाए बैठी थी जिससे अब छुटकारा पाना मैं अपने जीवन में एक बड़ी उपलब्धि मान रहा हूँ। धूम्रपान आज एक आम फैशन बन गया है। इसे बुरी आदत के रूप में नहीं माना जाता, और इस रूप में यह मध्यवर्गीय जीवन में उथल-पुथल मचा रही है।

इसे एक न्यूनतम आवश्यकता मानकर अभी तक मैंने इस व्यसन के आगे एक गुलाम की तरह घुटने टेक दिये थे। मानसिक आनन्द पाने के भ्रम में मेरे द्वारा लिये जानेवाले हर एक कश से मेरे परिवार का सुख किस कदर जलकर राख हो रहा है, यह जानने के लिए, महसूस करने के लिए मुझे इतना समय लग गया है।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि इन सिगरेटों की खातिर हर महीने में बरबाद होनेवाले दो सौ रुपये अगर किसी बैंक में बचाकर रख लेता तो बीस साल में एक लाख तिरेसठ हजार रुपये हो जाते। इसी से यह अंदाजा लग सकता है कि यह आदत मध्यवर्ग के परिवारों को आर्थिक तौर पर कैसे आहत कर रही है। यह चाय-पार्टी देने का मेरा उद्देश्य यही है कि मेरी तरह और भी कोई साथी अगर इस आदत से बाज आ सके तो मैं एक दोस्त की तरह खुश हो सकूँगा।"

भावना के उद्वेग में ही शरत ने कहना समाप्त कर दिया था।

उस दिन कुछ सिगरेट-प्रेमियों ने उसका मजाक उड़ाया था, तो कुछ ऐसे लोगों ने, जो इस आदत से मुक्त थे, उसकी प्रसंसा की थी।

ऐसा आदमी सिगरेट के लिए पैसा उधार क्यों देता? दिल छोटा करके रामाराव वहाँ से चला आया था। बाजार में कोई न कोई परिचित चेहरा मिल ही जाएगा, इस उम्मीद में वह ऑफिस छोड़कर बाहर निकल पड़ा।

आठ बजनेवाले थे, तो भी कोई जाना-पहचाना व्यक्ति उसको नहीं मिला था। "ये सारे के सारे कमबख्त कहाँ चले गए हैं? जब जरूरत है, तब एक भी नहीं दिखता।" कई बार वह झुंझला उठा।

सिगरेट पीने को तीन घण्टे से ज्यादा समय बीत चुका था। उसकी जीभ खिंचती जा रही थी। मजे में सिगरेट पीकर धुआँ छोड़ते हुए बाज़ार में कोई भी नज़र आ रहा था तो उसकी जान पर जैसे आफत आ रही थी।

सड़क की बगल में बैठकर भीख माँगते हुए बीड़ी का दम मारनेवाले भिखारी को देखते ही रामाराव के दिल पर साँप लोट गया।

चार अंकों का वेतन पाने पर भी आखिर वह सिगरेट के टुकड़ों के लिए जाने कब से बेताब हो रहा था। रामाराव को अपने आप पर गुस्सा आ रहा था।

उसे आकर्षक रंगों में एक कीमती सिगरेट पैकेट सड़क पर पड़ा मिला। "किसी का भरा हुआ पैकेट भूल से सड़क पर गिरा तो नहीं?" उसने बिना विचारे ही उसे पार करते हुए लालच से उसको लात मारी।

खाली पैकेट उछल पड़ा मानो खिलखिलाकर हँस रहा हो, और वह सामने जानेवाली

रामाराव ने इतमीनान की साँस ली कि उस दिन के लिए काम निकल गया और बला टल गई। पाँच बजे तक वह निश्चिन्त होकर फाइलों में अपना सिर खपाता रहा था। पाँच बजते-बजते जब वह सिगरेट के लिए जेब टटोलने लगा तो उसे राजू की बात याद आई।

अगर राजू भूलकर चला जाए तो फिर उसके लिए यह दुनिया ही उलट जाएगी। इसलिए चपरासी से उसने बगल वाले अनुभाग में राजू को संदेश भेजा कि जब तक मैं तुमसे न मिलूँ तब तक चले न जाना।

चपरासी ने लौटकर उसके लिए वज्रपात-जैसी खबर सुनाई। "घर से कोई रिश्तेदार आए तो खबर पाकर अभी-अभी वे जल्दी में साब चले गए।"

रामाराव की मानो जान ही निकल गई थी। चंद मिनट के लिए उसके हाथ-पैर सुन्न हो गए थे। उसे लगा कि जैसे वह अपनी सीट पर नहीं, बल्कि काँटों पर बैठा है। उठकर जाने की इच्छा हुई, पर सामने यमराज की तरह अधीक्षक महोदय बैठे दिखाई दे रहे थे।

"यह फाइल सवेरे ही प्रस्तुत करनी होगी। बहुत आवश्यक है।" यह कहकर अधीक्षक ने आधा घण्टा पहले ही उसके गले बाँध दिया था।

एक घण्टे के अन्दर ही काम पूरा करके उसने अधीक्षक के सामने रख दिया। उसके जी में आया कि उन्हीं से उधार माँगे।

'उधार दोस्ती के लिए खतरा है'—यह उनका आदर्श-वाक्य था। चाहे कुछ भी हो, वे एक पैसा भी हाथ से निकलने नहीं देते थे। उसने सोचा कि उनसे माँगकर भी कोई फायदा नहीं होगा।

जो लोग चले गये, सो चले गए थे। अब सेक्शन में कौन-कौन बचे थे ? ले-देकर कागजों को हिलाते-डुलाते हुए एकाउटेंट वरदैया और शरत—बस दो ही व्यक्ति वहाँ पर मौजूद थे। वरदैया से माँगने पर वह दे तो देगा, पर लोगों के सामने उसकी इज्जत नहीं रखेगा।

"क्यों जी ! रामाराव हमेशा पैसे उधार लेने की ताक में रहता है। कहीं किन्हीं बुरी आदतों में तो नहीं फँस गया है ?" सामने आए हर व्यक्ति से यूँ कहकर वह उसकी खिल्ली उड़ायेगा।

इसीलिए उसने तय कर दिया कि इस व्यक्ति से भी नहीं माँगा जाए। पास में पैसा हो तो शरत दस रुपये तो दे ही सकेगा। उसने मन ही मन सोचा और कह भी दिया।

"शरत ! मुझे दस रुपये देना। कल दे दूँगा। सिगरेट के लिए बिलकुल नहीं बचा है।"

शरत ने एक मिनट के लिए उसे गौर से देखा। उसकी पतली शर्ट की जेब से दस का नोट रामाराव को दिख ही रहा था। इसीलिए उसकी आशा बँधी कि शायद दे देगा।

"मुझे अफसोस है भैया ! तुम्हारी कोई दूसरी जरूरत होती तो मैं इनकार नहीं कर पाता।" बिना किसी संकोच के उसने कह दिया।

रामाराव तिलमिला उठा। "मैं चाहे कुछ भी करूँ, तुम्हें दान तो नहीं देना है ?" उसने कहना चाहा। उसका मिजाज जानकर भी झूठ बोलकर काम निकालने के बजाय वह अपनी बेवकूफी से असली बात कह बैठा था।

हाल ही में शरत ने सिगरेट पीना छोड़ दिया था। एक दिन उसने अपने प्रिय मित्रों को चाय पार्टी दी थी और किसी महान कार्य को संपन्न करने के अंदाज में भाषण भी दिया था—

"प्यारे दोस्तो ! आपको शायद यूँ लग सकता है कि आज यह पार्टी देने का कारण

बहुत छोटा है। आप भले ही मेरा मजाक उड़ाएँ कि इतनी-सी बात के लिए यह आयोजन किया गया है, फिर भी मैं अपने संतोष के लिए यह कर रहा हूँ, इसलिए मैं आपके इस तरह सोचने से बुरा नहीं मानूँगा।

मैंने सिगरेट पीना छोड़ दिया है। यह कमजोरी बहुत अर्से से मेरे अंदर जड़ें जमाए बैठी थी जिससे अब छुटकारा पाना मैं अपने जीवन में एक बड़ी उपलब्धि मान रहा हूँ। धूम्रपान आज एक आम फैशन बन गया है। इसे बुरी आदत के रूप में नहीं माना जाता, और इस रूप में यह मध्यवर्गीय जीवन में उथल-पुथल मचा रही है।

इसे एक न्यूनतम आवश्यकता मानकर अभी तक मैंने इस व्यसन के आगे एक गुलाम की तरह घुटने टेक दिये थे। मानसिक आनन्द पाने के भ्रम में मेरे द्वारा लिये जानेवाले हर एक कश से मेरे परिवार का सुख किस कदर जलकर राख हो रहा है, यह जानने के लिए, महसूस करने के लिए मुझे इतना समय लग गया है।

आपको यह सुनकर आश्चर्य होगा कि इन सिगरेटों की खातिर हर महीने में बरबाद होनेवाले दो सौ रुपये अगर किसी बैंक में बचाकर रख लेता तो बीस साल में एक लाख तिरेसठ हजार रुपये हो जाते। इसी से यह अंदाजा लग सकता है कि यह आदत मध्यवर्ग के परिवारों को आर्थिक तौर पर कैसे आहत कर रही है। यह चाय-पार्टी देने का मेरा उद्देश्य यही है कि मेरी तरह और भी कोई साथी अगर इस आदत से बाज आ सके तो मैं एक दोस्त की तरह खुश हो सकूँगा।"

भावना के उद्वेग में ही शरत ने कहना समाप्त कर दिया था।

उस दिन कुछ सिगरेट-प्रेमियों ने उसका मजाक उड़ाया था, तो कुछ ऐसे लोगों ने, जो इस आदत से मुक्त थे, उसकी प्रसंसा की थी।

ऐसा आदमी सिगरेट के लिए पैसा उधार क्यों देता ? दिल छोटा करके रामाराव वहाँ से चला आया था। बाजार में कोई न कोई परिचित चेहरा मिल ही जाएगा, इस उम्मीद में वह ऑफिस छोड़कर बाहर निकल पड़ा।

आठ बजनेवाले थे, तो भी कोई जाना-पहचाना व्यक्ति उसको नहीं मिला था। "ये सारे के सारे कमबख्त कहाँ चले गए हैं ? जब जरूरत है, तब एक भी नहीं दिखता।" कई बार वह झुँझला उठा।

सिगरेट पीने को तीन घण्टे से ज्यादा समय बीत चुका था। उसकी जीभ खिंचती जा रही थी। मजे में सिगरेट पीकर धुआँ छोड़ते हुए बाज़ार में कोई भी नज़र आ रहा था तो उसकी जान पर जैसे आफत आ रही थी।

सड़क की बगल में बैठकर भीख माँगते हुए बीड़ी का दम मारनेवाले भिखारी को देखते ही रामाराव के दिल पर साँप लोट गया।

चार अंकों का वेतन पाने पर भी आखिर वह सिगरेट के टुकड़ों के लिए जाने कब से बेताब हो रहा था। रामाराव को अपने आप पर गुस्सा आ रहा था।

उसे आकर्षक रंगों में एक कीमती सिगरेट पैकेट सड़क पर पड़ा मिला। "किसी का भरा हुआ पैकेट भूल से सड़क पर गिरा तो नहीं ?" उसने बिना विचारे ही उसे पार करते हुए लालच से उसको लात मारी।

खाली पैकेट उछल पड़ा मानो खिलखिलाकर हँस रहा हो, और वह सामने जानेवाली

एक महिला को जा लगा। वह महिला फौरन पीछे मुड़ी और उसको तेज-तर्रार दृष्टि से देखा। अगल-बगल चलनेवाले लोगों ने उसकी ओर यूँ देखा मानो कह रहे हों—"कैसी गंदी हरकत करते हो भाई !"

रामाराव को काटो खून नहीं। एक मिनट के लिए वह दूसरी ओर मुड़कर खड़ा रहा जैसे वह किसी दिशा में ध्यानपूर्वक देख रहा हो और किसी भी अन्य विषय से उसका कोई संबंध नहीं हो।

"माफ कीजिए जनाव ! एक बार माचिस देंगे ?" विनम्रता से एक आदमी ने उससे पूछा।

उसकी उँगलियों के बीच हिलते-डुलते सिगरेट को देखकर रामाराव को ईर्ष्या हुई। मन ही मन वह गुस्से में उसे कोसने लगा—"यह भी एक तरह की भीख है अब। ओ उल्लू के पट्ठे ! माचिस नहीं तो सिगरेट क्यों पीता है ?" मगर उसने उसे उत्तर दिया—"सॉरी ! मेरे पास नहीं है···" फिर वह आगे बढ़ा।

ज्यों-ज्यों समय दौड़ रहा था, रामाराव की स्थिति असहनीय होती जा रही थी। वेसब्री से जैसे वह पागल-सा होता जा रहा था। मन में विचार उथल-पुथल मचाने लगे थे।

उसकी इच्छा हो रही थी कि मजे में सिगरेट पीते हुए सड़क पर जानेवाले हर व्यक्ति को चाँटा मारे। रास्ते भर पान की जितनी भी दुकानें थीं, उन्हें ध्वस्त कर दे। साइन बोर्डों पर कीचड़ उछाले···और भी न जाने कैसे-कैसे उन्मत्त विचार उसके मन में उठने लगे।

वह चाह रहा था कि जी-भर गाली गलौज करते हुए बाजार में दौड़े। गुस्सा···गुस्सा ···गुस्सा···अपने आप पर, इस दुनिया पर,···और इतनी-सी आवश्यकता पूरी न हो पानेवाले अपने दुर्भाग्य पर उसका द्वेष धधकने लगा था।

"हलो रामाराव जी !" किसी की आवाज सुनाई पड़ी तो मानो उसकी जान में जान आई। उसे अभूतपूर्व रोमांच हो आया। उसने बाजू में देखा।

अपने मैले दाँत दिखाते हुए संजीवराव खीसें निपोर रहा था। उसको देखते ही रामाराव का सारा रोमांच रफूचक्कर हो गया। वह उन थोड़े-से व्यक्तियों में से था जिनसे रामाराव को नफरत थी। वह अपने सहयोगियों से पैसा उधार लेकर जरूरतमंद लोगों को दस प्रतिशत ब्याज पर उधार दिया करता था।

"क्यों साहब ! आप तो बिलकुल ईद के चाँद हो गए हैं। आपके दर्शन ही दुर्लभ हो गये हैं। क्या बात है ?" बातचीत शुरू करने के अंदाज में मुस्कराकर उसने जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला और एक सिगरेट सुलगा लिया।

पहली कश के धुएँ की भीनी-भीनी महक ने रामाराव को अपनी गिरफ्त में लिया और उसे विभोर करने लगा।

"बदतमीज कहीं का !" सिगरेट ऑफर न करने के लिए ताव में आकर रामाराव ने मन ही मन उसको कोसा। उसे इतना क्रोध आया कि उस व्यक्ति को जमीन पर गिराकर उसकी जेब से सिगरेट का पैकेट छीन ले और उसे तमीज सीखने की नसीहत दे।

लेकिन रामाराव ने अपने आपको नियन्त्रित कर लिया। "सॉरी। मुझे जरूरी काम है।" यह कहकर वह आगे बढ़ गया।

तब तक साढ़े आठ बजे थे। काफी दूर पैदल चलने से रामाराव के पैर दुख रहे थे।

उसकी नसों की ताकत जवाब दे रही थी और वे सुन्न हो रही थीं। परिचित व्यक्तियों के मिलने की आशा छोड़कर मजबूरन पैर घसीटते हुए रामाराव ने घर की राह ली।

सुबह दफ्तर के लिए निकलते वक्त घर में उसने बहुत ढूँढा था, मगर एक पैसा भी उसे नहीं मिला था। सो, अब घर में कुछ मिलने की कोई आशा नहीं रह गई थी। लेकिन चाह उसकी रग-रग को खाये जा रही थी।

घर के पास में एक पान की दुकान थी जिसे देखते ही उसके मन में आशा की किरण फूटी कि कल ही चुकाने की स्थिति में उधार क्यों नहीं मिलेगा?

वह कभी-कभी वहाँ पर सिगरेट खरीद लिया करता था। उसे तो यही आशा थी कि कभी उसने वहाँ से उधार नहीं लिया था, इस लिहाज से दुकानदार संकोचवश इनकार नहीं करेगा। उत्साह बटोरते हुए वह उस दुकान की तरफ बढ़ने लगा। तभी दुकानदार का जोरदार और कर्कश स्वर सुनकर वह ठिठक गया।

"क्यों जी! यह संकोच कैसा? पैसा नहीं है तो सिगरेट पीना क्यों नहीं छोड़ देते? एक पैकेट बेचने से हमको दस पैसे भी नहीं बचते। दस-दस, बीस-बीस रुपये उधार देने के बाद तो फिर हमें दुकान बढ़ाकर भीख ही माँगनी पड़ेगी। जाओ···जाओ···"वह किसी शख्स पर झल्ला रहा था।

"रहम करो भैया! इनकार मत करो। तुम्हारा पैसा में दो दिन में पाई-पाई चुका दूँगा। एक घण्टे से बीड़ी का टुकड़ा भी नसीब न होकर तरस रहा हूँ।" वह आदमी गिड़गिड़ा रहा था।

"तुम और तुम्हारा पैसा जाएँ भाड़ में। तुम जैसे लोगों को उधार देकर अब तक जो नुकसान उठाया, वह काफी है। जाओ···चलो बाहर।" वह दुतकार रहा था।

रामाराव एक पल के लिए भी वहाँ खड़ा न रह सका। उसे लगा कि वे बातें उसी को लक्ष्य करके कही जा रही हैं। उसने जल्दी-जल्दी घर की तरफ कदम बढ़ाये।

सामने के कमरे में उसके दोनों बच्चे पढ़ रहे थे। पत्नी रसोई घर में होगी, इस विचार से वह सीधे रसोई घर में चला गया।

"नहाने के लिए पानी गरम करूँ?" सुशीला ने पूछा।

रामाराव ने मना किया। "दूध हो तो एक कप चाय बना देना।" उसने कहा।

"अभी बनाती हूँ। तुम कपड़े बदल लो।" सुशीला चाय बनाने में लग गई।

रामाराव ने शयन-कक्ष में आकर कपड़े बदले। शर्ट की जेबों में भी उसने इस आशा में एक बार फिर टटोलकर देखा कि कहीं गलती से कुछ खुले पैसे रह गए हों। किन्तु कोई फायदा नहीं रहा।

उदासी में वह बिस्तर पर निढाल होकर पसर गया। इस बीच सुशीला भी चाय बनाकर ले आई।

"सुशीला! घर में कुछ फुटकर पैसे हैं क्या?" उसने पूछा।

"कहाँ हैं? पैसे नहीं थे, इसीलिए सबेरे सब्जीवाले से उधार लेना पड़ा। जो दस रुपये थे भी, वह तुमने इन चार दिनों में निगोड़े सिगरेटों के लिए फूंक डाले।" सुशीला ने कहा।

रामाराव ने आह भरी।

गरम चाय पेट में पहुँची तो फिर सिगरेट की ललक से उसका मन बेचैन होने लगा।

इच्छापूर्ति का उपाय न पाकर उसने अपने बाल नोच लिये मानो पागल हो गया हो। उससे वहाँ पर बैठा न गया और वह उठकर सामनेवाले कमरे में आकर धम्म से बैठ गया।

पुस्तकों के शेल्फ में रखी हुई किड्डी बैंक की दो छोटी गुड़ियों पर जैसे ही नज़र पड़ी, रामाराव की चाहत के पर निकल आये। उसने सोचा कि उनमें थोड़े-बहुत पैसे जरूर मिल जाएँगे।

वह उठकर उनके पास गया। एक गुड़िया हाथ में लेकर उसने हिलाकर देखा। शायद उसमें कुछ नहीं था। चिढ़कर उसने उसे परे फेंक दिया और दूसरी गुड़िया उठाई।

दोनों बच्चों ने पुस्तकों में से सिर उठाकर रामाराव को देखा। दूसरी गुड़िया उसके पिता ने जैसे ही हाथ में ली, छोटा बच्चा विश्वम् एकदम घबड़ा उठा। पापा का इरादा उसको मालूम था।

रामाराव ने दूसरी गुड़िया हिलाकर देखी। उसके भीतर खुले पैसों की खनक सुनाई दी। जीतने की खुशी में उसका मन नाच उठा। गुड़िया का ढक्कन खोलने के लिए वह नंबर घुमाने लगा। अचानक विश्वम् उछलकर अपने पिता के पास पहुँचा और उसके हाथ से गुड़िया छीन ली।

इस अप्रत्याशित अड़चन से रामाराव चौंक उठा। अपनी चिढ़ को दबाते हुए वह विश्वम् के पास आया।

"विशू ! उधार देना बेटे ! ब्याज के साथ कल लौटा दूंगा न !" वह अनुनय करने लगा।

"नहीं। मैं नहीं दूँगा।"

"कल वेतन मिल जाएगा। बहुत पैसे आएँगे। मैं वादा कर रहा हूँ न !" उसने पुचकारा।

"नहीं ! पहले भी कितनी बार तुमने ऐसा ही किया पापा ! भैया के सारे पैसे तुमने चुरा लिये थे।"

"अब की बार सच में दूँगा। तू मेरा राजा बेटा है न !"

"हाँ, लौटाने के बाद भी तुमने कितनी बार फिर से पैसे नहीं छीन लिये थे ? मैं तो बिलकुल नहीं दूँगा।" गुड़िया उसने दोनों पैरों के बीच दबाकर रखी और पहले से अधिक अड़ गया।

रामाराव का धैर्य समाप्त हो रहा था। फिर भी वह स्वयं को नियंत्रित कर रहा था।

"विशू बेटे ! कल हम तुझे फ़िल्म भी ले जाएँगे। और भी जो तू चाहेगा, खरीदकर देंगे।" वह अपने पुत्र से अनुरोध करने लगा।

उसकी बातें विश्वम् के कानों में प्रविष्ट नहीं हो रही थीं।

"मुझे और भैया को क्रिकेट का बैट खरीदकर देने का वादा करके धोखे से हमारे सारे पैसे तुमने छीन लिये थे। बाद में बैट खरीदकर दिया क्या ?"

इसका जवाब रामाराव तुरन्त नहीं दे सका। "कल ही खरीदकर दूँगा।···ये भी तो मेरे ही दिये पैसे हैं न ?"

"नहीं ! मामा, चाचा और मौसी जब आये थे तब उन्होंने हमको दिये थे और हमने बचाकर रखे हैं क्रिकेट का बैट खरीदने के लिए। हमारी नजर बचाकर माँ ने भी पैसे निकाल लिये थे।" विश्वम् ने आक्रोश के साथ कहा।

"कम से कम सिगरेट के लिए तो देना रे ! जल्दी नहीं देगा तो दुकान बंद हो जाएगी।" झुंझलाहट के साथ रामाराव ने कहा।

"बंद हो जाएगी तो मुझे क्या ?···फालतू सिगरेट···ये पैसे तुम्हारे नहीं हैं। मेरे हैं, मेरी मर्ज़ी···जाओ···चले जाओ···" झिझोड़कर विश्वम् ने अपना मुँह दूसरी ओर कर लिया।

रामाराव का 'अहं' आहत हो उठा। उसे लगा कि इतने छोटे बच्चे से क्या अनुनय करना है। क्रोध से उसका मन उसके वश में नहीं रहा।

"क्यों ? इसे अपने दादा का माल समझ रखा है क्या ? कमबख्त कहीं का ! नहीं देगा तो मार डालूँगा। ला इधर।" रामाराव ने गुड़िया छीननी चाही।

गुड़िया को बचाकर विश्वम् ने रामाराव के हाथों को अपने पैरों से जोर से लात मारी।

उस अड़ियलपन से रामाराव गुस्से में आपे से बाहर हो गया। मानो हैवानियत उस पर सवार हो गई हो, उसने दीवार पर टँगी हुई बेल्ट हाथ में ली।

"कितनी अकड़ है रे कमबख्त तेरी !" चिल्लाते हुए वह बेल्ट से उसे बेरहमी से मारने लगा।

बड़ा लड़का रवि डर के मारे भीतर की ओर दौड़ा। बेल्ट की मार खाते हुए विश्वम् रोता जा रहा था, परंतु वह गुड़िया नहीं छोड़ रहा था। यह सारा हंगामा सुनकर सुशीला रसोई घर से दौड़कर आई। उसने बीच-बचाव करने की कोशिश की।

रामाराव ने अपनी पत्नी को परे धकेल दिया और अपनी धुन में आगे बढ़ता गया, इस बात को नजरअंदाज करते हुए कि वह महज सात साल का छोटा बच्चा है।

सुशीला जोर से रो पड़ी। उसने विश्वम् को गले से लगा लिया और इस तरह उसे मार से बचाने का प्रयास किया। उसके शरीर पर भी मार पड़ी थी।

"कमीने ! छोटा समझकर लाड़ करने से इतना सिर चढ़ता है ? मार डालना चाहिए ऐसों को।" क्रोध में वह हाँफने लगा।

सुशीला ने विश्वम् के हाथ से गुड़िया जोर से छीनकर पटक दी। "छिः-छिः तुम आदमी हो या जानवर ? तुम्हें खुले पैसे ही तो चाहिए न ? ले जाओ और भाड़ में झोंक दो।" रोते हुए ही उसने विश्वम् को सीने से लगा लिया।

"पापा ! छोटू को मत मारना। ये लेना पैसे !" अंदर से रवि दौड़कर आया और पिता को कुछ पैसे देने लगा।

"ये तुझे कहाँ से मिले रे ?" रामाराव ने डाँटा।

"दादा जी जब आये थे उन्होंने दिये थे। जो पैसे बचे थे उन्हें संभालकर रख लिये हैं।" रुआँसा होकर उसने बताया।

रामाराव ने अपनी 'बेल्ट' दूर फेंक दी और रवि के हाथ से खुले पैसे ले लिये। "मर जा ! हरामजादे ! आइन्दा कभी नखरे किये तो तेरी खाल उधेड़ दूँगा और गला दबा दूँगा। रख ले अपने भीख के पैसे।" यह कहकर उसने गुड़िया अपने पाँव से उसकी ओर ढकेल दी और बाहर चला गया।

विश्वम् हिचकियाँ लेते हुए रो रहा था। उसके शरीर पर जगह-जगह बेल्ट की मार के लाल-लाल निशान उभर आये थे।

रामाराव दस मिनट के अंदर दुकान के पास पहुँच गया। उसने अपने पास में जितने

पैसे थे, उसके बराबर के साधारण किस्म के सिगरेट ले लिये। बेताबी से एक सिगरेट सुलगाकर आहिस्ता-आहिस्ता धुआँ छोड़ते हुए उसको इतना संतोष मिला कि उसे बाकी दुनिया की कोई खबर नहीं रही।

तब तक जो तपन और उतावलापन उसके मन में हिलोरें मार रहा था, उसमें कुछ कमी आई। उसके गुस्से का उफान भी आहिस्ता-आहिस्ता शांत होने लगा। तुरन्त उसने दूसरा सिगरेट सुलगा लिया। एक-एक कश खींचते हुए धुआँ अपने दिल में और फेफड़ों में भरते जाने पर तो जैसे उसका मन हल्का होकर हवा में तैरने लगा। इधर-उधर टहलते हुए वह धीरे-धीरे धूम्रपान करता रहा। तब जाकर कहीं उसका मन उसके वश में आ गया।

केवल कुछ खुदरे पैसों के लिए अपनी संतान के प्रति उसने कैसा अमानुष व्यवहार किया था, यह तभी उसे याद आने लगा। तुरन्त घर लौटने का उसका मन नहीं हुआ। थोड़ी देर इधर-उधर मटरगश्ती करने के बाद आखिर वह घर पहुँच ही गया।

रवि सो रहा था। सुशीला, विश्वम् के बदन पर जहाँ-जहाँ सूजन थी, उस पर तेल में सने कपड़े से आहिस्ता-आहिस्ता सहला रही थी। उसके गालों पर सूखे हुए आँसूओं के निशान दिख रहे थे।

वह अपने जंगलीपन की छाप को उस नन्हें और कोमल शरीर पर स्पष्ट देख सका। उसके दिल में टीस-सी उठी। उधर न देख पाने से उसने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

"सिगरेट पीना ही तुम्हें सबसे ज्यादा जरूरी था। क्या इसी के लिए मुन्ने को इस तरह पीटा था?" आँखों को आँचल से पोंछते हुए सुशीला ने पूछा।

रामाराव कुछ जवाब नहीं दे सका। सीधे जाकर वह बिस्तर पर पसर गया और आँखें मूँदकर लेटा रहा। उसे लगा कि वह विवेकशून्य होकर बेरहम हो उठा था, वरना थोड़ी देर और अनुनय करता तो वह शायद दे ही देता।

पढ़ाई के जमाने में केवल खेल-खेल में जो सिगरेट पीना उसने सीख लिया था, फिर उस आदत को साम-दाम से किसी के भी समझाने पर वह छोड़ नहीं पाया था।

"यह काहे की गंदी आदत है? न अपने को फायदा, न दूसरों को। इस तरह तबीयत को क्यों बिगाड़ लेते हो? इसे बंद कर दो तो हर महीने की यह तंगी तो न रहेगी।" सुशीला ने जाने कितनी ही बार उससे मिन्नत की थी, लेकिन उसके कानों पर कोई जूँ नहीं रेंगी।

"चलो, नहाकर आना। खाना परोसती हूँ।" सुशीला ने आकर उससे कहा।

रामाराव जो अपनी सोच में डूबा हुआ था, सामान्य हो गया, और उठकर नहाने के लिए चला।

खाने के लिए बैठकर उसने पूछा, "मुझे ही दे रही हो। तुम क्यों नहीं खातीं?"

"मुझे भूख नहीं है। तुम खाओ।" मुँह फेरकर उसने कहा।

उसको भूख क्यों नहीं थी, इसका कारण रामाराव को पता था। उसे लगा कि अब अपनी बेसब्री के लिए माफी माँगकर हार मानना उसका स्वयं का ही अपमान होगा।

खाना खाने की औपचारिकता थी, इसलिए वह दो-चार कौर कुतरकर उठा, और चला गया।

वह आँखें मूँदकर लेटा रहा, किन्तु ठीक से सो नहीं पाया।

विश्वम् चौंककर नींद से उठ गया और कुछ अस्पष्ट बुदबुदाने लगा और उस बच्चे को गोद में लेकर प्यार करने के लिए रामाराव का 'अहं' आड़े आ रहा था ।

सुबह होते-होते विश्वम् को ज्वर चढ़ गया था । उसके शरीर पर बने जख्मों के दर्द से वह रह-रहकर कराह रहा था । रामाराव कार्यालय जाने की तैयारी में था, किंतु मन ही मन मूक वेदना अनुभव कर रहा था ।

"ऑफिस जा रहे हो तो फिर शाम को ही लौटोगे न ! विशू को बुखार है ।" सुशीला ने रामाराव को बताया ।

पत्नी की आँखों में सीधे देखने का साहस नहीं था, इसलिए रामाराव ने एक अपराधी की तरह मुँह छिपा लिया । वह तुरन्त तय नहीं कर पाया कि क्या किया जाए । अस्पताल जाने के लिए पैसा चाहिए । वेतन शाम को ही मिलने वाला था । "पिछली बार जब बुखार आया, तब दवा की एक-आध टिकिया बची थी न ? अभी वही खिला दो । मैं दोपहर लंच के टाइम में आ जाऊँगा ।" दवा की टिकिया भी उसने ढूँढ़कर पत्नी को दी । सुशीला ने वह चुपचाप ले ली और विश्वम् को खिला दी ।

रामाराव ने बाहर जाते हुए विश्वम् की ओर देखा । उस नन्हें बच्चे के शरीर पर जगह-जगह लाल सूजन को देखकर उसका दिल दुःखी हो उठा । उस बच्चे की पीड़ा उसके चेहरे पर स्पष्ट झलक रही थी ।

"दोपहर को जरूर आओगे या वेतन पाने की खुशी में घर भूल जाओगे ?" सुशीला ने व्यंग्य किया । उसकी बातें सीधे रामाराव के हृदय में जाकर चुभ गयीं । पिता की ममता ने उसके अहंकार के परदों को हटा दिया । पलंग पर विश्वम् की बगल में बैठकर उसने उसके माथे पर हाथ रखकर देखा । माथा गरम था ।

पिता के हाथ के स्पर्श से विश्वम् कुछ हिला ।

"जैसे भी हो, मैं बीच में एक बार देखने के लिए आऊँगा । लगता है, उतना तेज बुखार नहीं है । घबड़ाना नहीं ।" यह कहकर वह बाहर जाने के लिए चंद कदम आगे बढ़ा ।

उसकी बातें सुनकर विश्वम् की आँखें खुल गईं । उसने अपने पिता को देखा जो बाहर जा रहा था ।

"पापा !" सारी ताकत बटोरकर उसने आवाज़ दी ।

उसकी पुकार सुनकर रामाराव वापस चला आया । "क्यों बेटे ! क्या चाहिए ?" प्रेम के साथ उसका स्पर्श करते हुए उसने पूछा ।

विश्वम् के हाथ तकिये के नीचे पहुँच गये । इधर-उधर टटोलकर सावधानी से छिपाई हुई किड्डी बैंक की गुड़िया उसने बाहर निकाली ।

"पापा ! इसमें जितने पैसे हैं, सभी ले लेना ।···फिर मुझे वापस नहीं चाहिए !···ले लो न !" अपना हाथ आगे बढ़ाते हुए उसने कहा ।

उस बच्चे की मासूमियत, प्रेम और क्षमाशीलता ने रामाराव के हृदय को झकझोर दिया । आवेग में उसने विश्वम् के चेहरे पर झुककर बेतरह चुम्बन लिये । उसके आँसूओं की गर्म बूँदें विश्वम् के चेहरे पर गिरने लगीं ।

"विशू !···मेरे बेटे !···तू ही रख ले !" दुःख से उसका गला रूँध गया था । वह वहाँ ठहर नहीं पाया और अपने आँसुओं को उँगलियों की पोरों से पोंछते हुए बाहर निकल पड़ा ।

रामाराव को स्पष्ट आभास हुआ कि केवल प्रेमपूर्ण हृदय के सिवा किसी दुर्भावना से रहित उस शिशु की महानता के सामने वह सिर्फ एक तिनके के समान है। उसकी ऊँचाई के आगे तो वह केवल एक बौना है···महज बौना।

उसकी समझ में आया कि एक बुरी आदत का गुलाम होकर अपने दानवीय व्यवहार से किस सीमा तक वह गिर गया था। कभी किसी दिन शरत की कही हुई बातों के पीछे निहित व्यथा और वास्तविकता उस वक्त रामाराव के मन को प्रभावित कर रही थीं।

आत्मविश्वास और आदत की कमजोरी के बीच उसका मन डोलने लगा था।

कार्यालय पहुँचते ही उसने राजू से मिलकर पचास रुपये उधार लिये तथा एक घण्टे की अनुमति लेकर घर चला आया। तब तक बच्चे का बुखार कुछ उतरने लगा था।

"सुशीला ! विशू को अस्पताल ले जाकर दिखाना। शाम को मैं जल्दी आ जाऊँगा।" पैसे सुशीला के हाथ में थमाकर वह दफ्तर चला गया।

शाम के साढ़े पाँच बजते-बजते रामाराव घर पहुँच गया।

पिता को देखते ही दोनों बच्चे खुशी से चहक उठे—"पापा आ गये।···पापा आ गये !"

विश्वम् के उत्साह को देखकर रामाराव के मन को शान्ति मिली। "बेटे ! बुखार उतर गया है न !" उसने बच्चे को हाथों में लेकर देखा।

विश्वम् का शरीर सामान्य था। उसका चेहरा भी स्वस्थ नजर आ रहा था। रामाराव ने निश्चिन्त होकर चैन की साँस ली।

"डॉक्टर साहब ने दवा दी है पापा ! इसलिए बुखार फुर्र से उड़ गया।" अजीब-सी शक्ल बनाकर उसने कहा।

रामाराव के आगमन को रसोई से ही भाँपकर सुशीला चाय का प्याला लेकर आई।

ऑफिस से आते हुए वह ब्रेड और बिस्कुट ले आया। वे उसने बच्चों को दिये। शेल्फ के पास जाकर वह किड्डी बैंक की दोनों गुड़ियाँ हाथ में लेकर आने लगा तो सुशीला और बच्चे जिज्ञासावश उसकी ओर ताकते रह गए।

"अरे विशू बेटे ! ये तेरी गुड़िया के लिए···और रवि बेटे ! ये तेरी गुड़िया के लिए···" वेतन के पैसों में से थोड़े-थोड़े पैसे निकालकर उसने उनमें डाल दिये।

वे तीनों रामाराव की ओर चकित होकर देख रहे थे।

"अब देखो···यह तुम्हारी मम्मी के लिए···" अपनी बात पूरी करते हुए उसने चाय का प्याला ले लिया और बाकी पैसे सुशीला के हाथ में रख दिये।

दोनों बच्चे खिलखिलाकर हँस पड़े। "तो फिर तुम्हारे लिए पापा···?" विश्वम् ने पिता का अनुकरण करते हुए पूछा।

"दैनिक खर्च के लिए तुम्हारी मम्मी ही मुझे देगी न ?" मुक्त हृदय से हँसते हुए उसने कहा, सुशीला की आँखों में खुशी के आँसू छलक उठे।

उसके बाद रामाराव ने अपने जीवन में फिर कभी सिगरेट को हाथ नहीं लगाया।

अनुवाद : **के० वी० नरसिंह राव**

आकाश और धरती के बीच

□ **विक्तोरिया तोकारेवा**

नताशा एयरपोर्ट पर बैठी अपनी उड़ान की प्रतीक्षा कर रही थी, किन्तु उड़ान में देर ही होती जा रही थी। पहले तीन घण्टे स्थगित की गई और दुबारा चार घण्टे और। इसी हवाई जहाज़ से एक बुलगारियन सर्कस का काफिला भी जा रहा था। सर्कस के लोग बंजारों की तरह अपने मन मुताबिक इधर-उधर फैले हुए थे— कोई ज़मीन पर तो कोई कुर्सी पर। आसपास एक सी उम्र और कद के बहुत से छोटे-छोटे कुत्ते दौड़ रहे थे। ये कुत्ते साफ सुथरे और सजे सँवरे हुए थे। सर्कस में शायद इन कुत्तों का आर्केस्ट्रा का प्रोग्राम होगा।

नताशा के पास से एक आदमी निकलकर गया जिसकी शक्ल उसके पहले पति से हल्की-सी मिलती थी। समय काफी था और करने के लिए कुछ था नहीं—खाली दिमाग। अतः नताशा को अपने पहिले पति की याद आ गई, वरना वह उसके बारे में कभी न सोचती।

जब उनकी शादी हुई थी तब वह अठारह साल की थी और उसका पति बीस साल का और तभी वे अलग भी हो गए थे। एकदम नहीं, तकरीबन आठ महीने वो साथ रहे थे। बात कुछ बन नहीं पाई थी। शुरू का जोश खत्म होते ही उनके प्यार की नदी सूखने लगी, उसका तल और उस पर पड़ा हुआ कूड़ा करकट नजर आने लगा। बात बिना बात उन्होंने आपस में झगड़ना शुरू कर दिया। उनका प्यार बीमार हो गया था। उसे असंगतता की बीमारी हुई और अंत में मर गया। तलाक हो जाने के बावजूद भी, काफी समय तक, उनके मिलने और झगड़ने का सिलसिला जारी रहा। वे दोनों न तो इकट्ठे रह सकते थे और न ही अलग हो पा रहे थे। उनके आपसी झगड़ों के कारण कुछ इस प्रकार के थे जैसे नताशा का पति को गधा समझना और समझना कि वह उसकी खूबसूरती के काबिल नहीं है। नताशा के विचार से, उसकी खूबसूरती, उसके व्यक्तित्व का एक बहुत महत्त्वपूर्ण पहलू था जिसके कारण उसे विशेष इज़्ज़त मिलनी चाहिए थी। इसके विपरीत उसके पति के अनुसार 'खूबसूरती' हमेशा न रहने वाली एक नश्वर चीज़ थी। और नताशा की यह 'खूबसूरती' अधिक से अधिक बीस साल बाद उससे विदा ले लेगी। जबकि 'बफादारी' नामक गुण शाश्वत है। समय के साथ उसका कोई अवमूल्यन नहीं होता। वैसे भी पति होने के नाते उसका दर्जा नताशा से ऊँचा था और वह एक अच्छा पति था। हो सकता है कि उस समय वह एकदम ठीक न बैठता हो। किन्तु उसे विश्वास था कि भविष्य में वह नताशा के लिए एकदम सही बैठता। पर अठारह साल की नादान उम्र में भाविष्य के बारे में सोचना संभव नहीं था। उस समय तो यही लगता है कि अभी तो बहुत लम्बी जिंदगी है और उसमें बहुत कुछ मिलेगा···।

तलाक होने के बाद एक बार फिर से उनकी मुलाकात बीस साल बाद हुई। नताशा के पति ने दूसरी शादी कर ली थी। उसके एक बेटी थी, जिसका नाम उसने नताशा के नाम पर ही 'नताशा' रखा था। वह अब किसी दूसरे शहर में रहता था। एक बार नताशा अपने ऑफिस के किसी काम से उसी शहर में गई जहाँ वह रहता था। नताशा को पता था कि उसका पहला पति वहाँ पर रहता है। उसने टेलीफोन के पूछताछ विभाग को पति का नाम बतला कर उसका फोन नम्बर मालूम कर लिया। फोन मिलाने पर नताशा को अपने पहले पति की आवाज सुनाई पड़ी। भले ही उसने बीस साल बाद यह आवाज सुनी थी किन्तु उसे आवाज में कोई फर्क नहीं महसूस हुआ। आवाज, आत्मा का प्रतिबिम्ब होती है और आत्मा कभी बूढ़ी नहीं होती। अतः उनकी बातचीत उसी पहिले वाली युवा आवाज में हुई।

"नमस्कार--नताशा ने फोन पर कहा—हैरान हो गए ?"

"आप कौन हैं ?"—उसके कान खड़े हो गए।

"तुम्हारी पत्नी—नम्बर एक"

इस पर फोन के दूसरी ओर एकदम चुप्पी छा गई मानो फोन कट गया हो।

"हलो"—नताशा ने फिर से कहा।

"अभी पहुँचता हूँ"—उसके भूतपूर्व पति ने कहा—"बताओ कहाँ मिलूँ ?"

नताशा ने उसे अपने होटल का नाम और कमरा नम्बर बतला दिया।

रिसीवर रखने के बाद नताशा को कुछ घबराहट-सी होने लगी। उसे कुछ समझ नहीं आ रहा था कि उसने ऐसा किस लिए किया। क्यों उसे फोन किया और यहाँ पर बुलाया।

नताशा तैयार हो रही थी। उसने सफेद रंग का फ्रेंच ब्लाउज पहना परन्तु बाद में कुछ सोचकर काले रंग का ब्लाउज बदल कर पहन लिया। उसके शरीर की बनावट को वह अधिक उभारता था हालाँकि चेहरे के लिए वह उतना अच्छा साबित नहीं हो रहा था। चेहरे और शरीर में से उसे एक को चुनना था।

शीघ्र ही दरवाजे पर दस्तक सुनाई दी। नताशा को इतनी जल्दी दस्तक होने की कतई उम्मीद नहीं थी। उसने दरवाजा खोला। सामने वह खड़ा दिखाई पड़ा। इन, पिछले बीस सालों में भले ही वह थोड़ा भारी हो गया था किन्तु उसका चेहरा और उसके हाव-भाव सब पहले जैसा ही था। उसका मुख्य भाव उसकी भूरी आँखों में झलक रहा था।

"कितनी बदल गई हो तुम ?"—वह बोला और साथ ही अपने कथन की सत्यता की सहमति में सिर हिलाया। मानो अपने कथन की पुष्टि कर रहा हो। खूबसूरती समय के साथ बदलती है। यात्रा में पीछे छूटने वाले स्टेशनों की तरह सुन्दरता भी जीवन यात्रा में पीछे छूटती जा रही थी। उसका यह कथन आज बीस वर्ष बाद भी सत्य था। वह ठीक ही कहता था—

"तुम तो वैसे के वैसे ही हो"—नताशा ने जवाब दिया।

उसका इशारा साफ इस ओर था कि वह पहिले की तरह गधा ही रहा।

पिछले बीस सालों में नताशा सचमुच बदल गई थी, यदि नताशा के रूप की तुलना प्रकृति से की जाए तो बीस साल पहिले वह एक हरा मैदान थी तो अब वह एक खेत बन गई थी। अलबत्ता—अच्छा क्या है—हरा मैदान या खेत—यह कौन जानता है।

हैरानगी की बात थी कि आज बीस साल बाद भी उनका झगड़ा उसी वाक्य को लेकर फिर से शुरू हो गया, जिसको लेकर वो बीस साल पहले अलग हो चुके थे। ऐसा लगता था

मानो उनके बीच, बीस साल की यह दूरी कभी थी ही नहीं। और अभी-अभी ही इस वाक्य को लेकर झगड़कर अलग हुए हों।

कुछ देर बाद वे भोजन करने रेस्टोरेन्ट में गए। वहाँ उन्होंने अँगूरी शराब भी पी। नताशा का पति उसे बतलाने लगा कि तलाक के बाद वह एक लम्बे अर्से तक बहुत दुखी रहा। उसने दूसरा विवाह भी इसी डर से किया कि कहीं इस दुख को सहते-सहते वह शराबी न बन जाए।

"चलो, अपने पर काबू पा लिया तुमने"—नताशा ने सान्त्वना देते हुए कहा। वह इस अप्रिय प्रसंग को खत्म कर देना चाहती थी— "जो बीत गया सो बीत गया।"

"मैं कितना अधिक दुखी था"—उसने 'दुखी' शब्द पर विशेष जोर दिया। वह उसे बतला देना चाहता था कि यह दुख भरा समय उसके लिए कितना कष्टदायी था।

"जिन्दगी में कष्ट सहना भी अच्छा होता है"—नताशा ने कहा जैसे कि वह अपना बचाव कर रही हो—"कष्ट सहने से ही आत्मा मजबूत होती है।"

"यह गलत है"—उसने नताशा से असहमति प्रगट करते हुए कहा—"याद नहीं किसने कहा है—"सुख ही आदमी को आदमी बनाता है—दुख आत्मा को सुखा देता है। ठीक उसी प्रकार जैसे बंजर जमीन में कोई ढंग की चीज पैदा नहीं होती सिवाय जंगली घास के।

उसके विचारों में सचमुच ही कोई फर्क नहीं आया था। पहले वह नताशा को प्यार करता था, बाद में नफरत करने लगा। उसने नताशा को अभी तक भी क्षमा नहीं किया था। जिसका मतलब था कि वह किसी न किसी रूप में हमेशा उसके साथ थी।

उन्होंने कुछ जाम और पीए। इस दौरान नताशा ने उसे अपनी थीसिस के बारे में बतलाया कि उसने अपनी थीसिस में एक प्रकार की छोटी मक्खियों के वंशागत कोड का अध्ययन किया है। इन मक्खियों को फल अच्छे लगते हैं। उड़ते समय यह मक्खियाँ धूल के कणों जैसी लगती हैं। किसी जीवाणु की तरह नहीं। इन्हीं मक्खियों की नस्ल बदलने के बारे में उसने कुछ महत्त्वपूर्ण नतीजे निकाले हैं। उसके ये नतीजे मानव समाज के लिए बहुत उपयोगी हैं।

नताशा के पति ने भी उसे अपने पेशे के बारे में जानकारी देते हुए बतलाया कि डॉक्टरी पढ़ाई खत्म करके वह नकली दातों का विशेषज्ञ बन गया हैं। और उसके पास कुछ बढ़िया विदेशी सामग्री है जिसकी बहुत माँग है। इसलिए उसके पास बहुत अधिक काम रहता है। नताशा को यह सब बतलाने से उसका अभिप्राय उसे यह जताना था कि उसके पास पैसे की कोई कमी नहीं है और नताशा ने तब—बीस साल पहिले—उससे रिश्ता तोड़कर अच्छा नहीं किया, जल्दबाजी से काम लिया। अब तो वह उसके लिए एकदम ठीक बैठता।

"तुमने भी शादी कर ली है क्या?"

"हाँ,"—नताशा झूठ बोली—क्योंकि उसकी शादी पूरे मायनों में 'शादी' नहीं थी।

"क्या अन्य पुरुषों के साथ भी तुम्हारे संबंध हैं?"—यही बात उसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि औरतों से उसकी केवल यहीं माँग थी कि वे अपने पति के प्रति वफादार हों।

"शर्म नहीं आती तुम्हें यह पूछते!"—हैरानगी से नताशा ने कहा।

"मुझे इसका केवल हाँ या ना में जवाब दो।"

"नहीं, किसी के साथ नहीं।"

नताशा के इस उत्तर से उसका मूड बिगड़ गया और वह खामोश हो गया। पुरानी

जिन्दगी का वह सब कुछ जो शान्त होकर उसके मन की तह में बैठ गया था, फिर से उद्वेलित हो गया। जैसे छड़ी से तालाब को कुरेद देने से नीचे जमी हुई काई और मिट्टी ऊपरी सतह पर आ जाती है।

उन्होंने एक-दूसरे से विदा ली सम्भवत: अगले बीस साल तक के लिए क्योंकि वह जिस शहर में रहता था वह एक बहुत छोटा शहर था। उधर नताशा का काम कम ही पड़ता था। और सच तो यह था कि उन्हें एक-दूसरे की कोई जरूरत भी नहीं थी।

तलाक के बाद, नताशा का इरादा था कि वह जल्दी ही दूसरा विवाह कर लेगी और उसके विचार से ऐसा करना कोई मुश्किल भी नहीं था। यदि वह सड़क पर खड़े होकर जोर से आवाज़ लगाकर कहे : "मैं शादी करना चाहती हूँ" तो उसके इच्छुकों की भीड़ इकट्ठी होकर एक लम्बी कतार लग जाएगी। किन्तु नताशा बहुत भोली थी और उसे अपने ऊपर कुछ अधिक ही विश्वास था। असलियत तो यह है कि खुशी की तलाश में तो हर आदमी रहता है किन्तु खुशी को ढूँढ कोई बिरला ही पाता है। ऐसे आदमियों को उँगलियों पर गिना जा सकता है। ज़्यादा से ज्यादा सैंकड़ा भर लोग होंगे ऐसे किन्तु इतने बड़े मानव समाज में इन सैंकड़ा भर लोगों की क्या गिनती···। पर नताशा को खुशकिस्मति से ऐसे सौ लोगों का तो कहना ही क्या, ऐसे दस में से एक होने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। नताशा कितायव से प्रेम करने लगी थी। इस बायोकैमेस्ट्री के प्रोफेसर कितायव के नाम के साथ चौदह अन्वेषण और अनुमान जुड़े हुए थे जो उन्होंने क्रमश: जमीन के विकास और उसकी आयु पर किए थे। जिससे लगता था कि उसकी खोपड़ी में दिमाग न होकर कोई शक्तिशाली पावर हाउस हो, जिसमें नित नए विचार पैदा होते रहते थे। वह अपने इन नए विचारों को चारों ओर बिखेरता रहता था। वह एक उदार व्यक्ति था, अपने इन उपयोगी विचारों को बाँटने में वह किसी प्रकार की कोताही नहीं करता था। वह, सोने के अंडे देने वाली उस मुर्गी के समान था, जिसे अपने हर अंडे का लालच नहीं होता क्योंकि उसे विश्वास होता है कि उसका अगला अंडा भी सोने का ही होगा।

देखने में तो कितायव — गंजा, पीला, कमजोर एक बूढ़े की तरह लगता था किन्तु नताशा को इसकी कुछ परवाह नहीं थी। सुन्दर पति का अनुभव उसे पहिले हो चुका था। कितायव के सामने उसे अन्य सब पुरुष फीके तथा बुद्धू लगते थे।

बहुत समय तक तो कितायव को नताशा के इस प्रेम पर विश्वास ही न हुआ। बाद में, विश्वास हो जाने पर, वह नताशा के साथ पति की तरह रहने लगा और इसका अभ्यस्त हो गया। नताशा से उसका विवाह नहीं हुआ था और उसकी विवाहिता पत्नी एक दूसरी ही स्त्री थी किन्तु उसकी पत्नी उनके बीच किसी तरह की कोई बाधा नहीं डालती थी। नताशा ने भी शादी की माँग कितायव से नहीं की, उनका जीवन, बिना किसी दुनियावी परिवर्तन के, उसी प्रकार चल रहा था। कितायव के सुनहरे दिमाग में लगातार परिवर्तन होता रहता था किन्तु दुनियावी परिवर्तन उसके लिए कोई मायने नहीं रखता था। कभी-कभी नताशा को लगता कि वह कल, एकदम कल ही उसके सामने विवाह प्रस्ताव रखने वाला है, कभी सोचती नहीं, ऐसा कभी होगा ही नहीं। फिर सोचती इस तरह अंदाज लगाने से तो अच्छा है कि सीधे जाकर पूछ ही लूँ—फिर ख्याल आता, प्रश्न पूछने में तो शब्दों का प्रयोग होगा और शब्द मूर्त रूप हैं जबकि प्यार तो एक संगीत की तरह है— शब्दों के बगैर— कम से कम बिना प्रश्नों के तो है ही।

कितायव एशियाई और अफ्रीकी देशों की गोष्ठी में भाग लेने बाकू गया हुआ था। आज सुबह ही उसने फ़ोन करके नताशा को दो दिन के लिए बाकू बुलाया था। नताशा ने 'क्यों' तक भी पूछना उचित नहीं समझा। स्पष्ट था कि कितायव वहाँ पर उसकी कमी महसूस कर रहा था बाकी के दिन वह उसके बगैर नहीं काट पा रहा था। इन दो दिनों में से भी नौ घण्टे तो इन्तजार में ही बर्बाद हो चुके थे। इधर नताशा मास्को, एयरपोर्ट पर बैठी थी और उधर वह बाकू एयरपोर्ट पर—अपना सब काम छोड़कर नताशा की इन्तज़ार से समय बर्बाद करता हुआ। साथ ही, शायद यह अफसोस करते हुए कि बेकार में यह झंझट मोल लिया।

हॉल की छत में लगे हुए लाउडस्पीकर से यात्रियों को हवाई जहाज में बैठ जाने के लिए कहा गया। यह सुनकर सारे सर्कस वाले भी उठ खड़े हुए, और उनके कुत्ते एक सुर में भौंकने लगे जैसे सूचना समझकर खुश हो रहे हों।

हवाई जहाज में नताशा ने अपनी सीट पेटी बाँध ली। हवाई यात्रा के डर और उड़ान के कारण उसे मतली आ रही थी। शुरू में हवाई जहाज धक्के के साथ चल रहा था। वह कई बार नीचे की ओर भी आया। जितनी बार भी हवाई जहाज नीचे को आता, नताशा का दिल-उछलकर गले तक आ जाता, उसे लगता जहाज अब गिरा कि अब गिरा। नताशा को मौत का इतना डर नहीं था जितना कि मौत तक पहुँचने के कठिन रास्ते का। रास्ता भी लम्बा होता है—करीब तीस सैकिंड का। सबसे बुरी बात तो इसमें यह है कि इस दौरान इन्सान होश में रहता है। एक दुर्घटना में नताशा का दूर का एक रिश्तेदार वालिक खान में दबकर मर गया था। उसके ऊपर चालीस टन वज़न के पत्थर गिर पड़े थे। अत: उसे निकालने के लिए कई ट्रालियों की सहायता लेनी पड़ी थी। जब उसे पत्थरों के नीचे से निकाला गया तो उसकी भवें सफेद हो चुकी थीं। भले ही वह जवान था। इस दुर्घटना में वह कम से कम बीस या साठ सैकिंड तक जीवित भी रहा होगा। जिसमें उसे पूरा होश रहा होगा अपनी यातनाओं का। वालिक की पत्नी नादका, इटली की प्रसिद्ध अभिनेत्री अन्ना मनयानी के समान पागलों की तरह बार-बार अर्थी पर गिरे जा रही थी। उन दक्षिणी प्रदेशों में मातम भी अपने प्रकार का एक नाटक था। जिसमें चीखों के द्वारा अन्दर का दुख बाहर निकालने की कोशिश की जाती है और साथ ही विधि के विधान के प्रति असहमति प्रकट करने की भी। इस असहमति को प्रगट करने के लिए रोते हैं, आहें भरते हैं। और शायद इसलिए भी जिससे कि उसकी आत्मा का बोझ हल्का पड़ जाए और वे आगे की जिन्दगी जी सकें।

नादका बार-बार पति की अर्थी के ऊपर गिरती और लोग उसे उठाते। इस दृश्य को एक फोटोग्राफर तस्वीरों में उतार रहा था। अभी इस दुर्घटना को हुए हफ्ता भी नहीं हुआ था कि नादका के घर में पेतका रात गुजारने लगा। दरअसल में नादका के पति के होते हुए ही पेतका उसके जीवन में अपनी जगह बना चुका था और उन्होंने यह एक हफ्ता भी मुश्किल से निकाला। पड़ोसी इस बात से नाखुश थे। घर-घर सुनने में आता—"अभी तो मय्यत भी नहीं उठी थी।" नादका का पति के प्रति इस विश्वासघात का दुख, सबसे अधिक उसकी माँ यानी वालिक की सास को था। वह नादका के घर आती और उसकी युवा बेटी से पूछती—"उसने रात यहीं गुजारी थी?"

"हाँ, गुजारी थी।" बेटी उदास स्वर में जवाब देती—

"पलंग पर?" नादका की माँ कुछ डरकर पूछती।—

"और कहाँ ?"—लड़की हैरानगी से कहती—"क्या पलंग के नीचे ?"

यह सुनकर नादका की माँ रोना शुरू कर देती और हाथ मार-मार कर कहती—"हे भगवान, इस सबसे तो लगता है जैसे वालिक कभी इस घर में था ही नहीं।" माँ को सबसे अधिक दुख इस बात का था कि नादका वालिक को इतनी जल्दी भूल गई। वालिक की मौत जैसे दो बार हुई हो—एक दफ़ा जिन्दा की और दूसरी दफा मुर्दा…।

नताशा भी इसी बात से डरती थी क्योंकि उसे मालूम था कि इस दुनिया में जिन्दा लोग सिर्फ जिन्दा लोगों को ही याद रखते हैं। अतः यदि वह इस हवाई यात्रा में मर जाती है, तो कितायव उसे बिलकुल भले ही न भूले किन्तु उसे अपनी याददाश्त के पीछे के कोने में डालकर, अन्य स्त्रियों की ओर अवश्य आकर्षित होगा। किसी को भूल जाना भी तो उस व्यक्ति की एक तरह की दूसरी मौत ही है।

नताशा ने अपनी कुर्सी का सिरहाना पीछे करके अपनी आँखें बन्द कर लीं क्योंकि हवाई जहाज अपनी अपेक्षित ऊँचाई पर पहुँच चुका था और उसमें झटके आने बन्द हो गए थे। इससे नताशा के दिल की घबराहट भी खत्म हो गई थी। उसने अपने चारों ओर एक नज़र दौड़ाई और फिर नीचे की ओर झाँका।

आस-पास के सभी लोग सोए थे। उन्हें देकर 'युद्ध के बाद मैदान' नामक तस्वीर की याद आ जाती थी। नताशा के बराबर की सीट पर एक नवयुवक बैठा था। वह देखने में बास्केट बाल का खिलाड़ी लगता था। नताशा से वह करीब डेढ़ हाथ लम्बा था। नताशा ने मुड़कर खिड़की से देखा बाहर आकाश में अंधेरा था। हवाई जहाज के पंख से निकलती एक रोशनी दिखाई पड़ रही थी।

अचानक ही जैसे नताशा के दिमाग ने काम करना बन्द कर दिया हो और उसमें 'केवल यह ठीक नहीं है' शब्द निकल रहे हों। मानो ये शब्द टेप करके, किसी ने उसके खाली दिमाग में चला दिए हों। और एक अजनबी आवाज़ भावना रहित ढँग से लगातार बोलती जा रही हो 'यह ठीक नहीं है।' किन्तु शरीर, दिमाग से अलग, अपने नियानुसार काम कर रहा था—नताशा ने पास में बैठे हुए बास्केट बाल के खिलाड़ी का हाथ पकड़ लिया इतने जोर से कि उसकी उँगलियाँ नवयुवक के हाथ में गड़ गईं। उस समय उसके दिमाग में कितायव का भी ख्याल नहीं आया।

"ओह !"—नवयुवक के मुँह से हल्की-सी चीख निकल गई। उसके लिए यह एकदम अप्रत्याशित था—दर्द भी और सम्पर्क भी।

"आग लग गई है।"—नताशा ने खबर की गंभीरता के विपरीत अत्यन्त शान्त स्वर में कहा।

यह सुनकर नवयुवक ने खिड़की से ध्यानपूर्वक बाहर की ओर देखा।

"यह तो सिगनल है—रास्ता दिखाने के लिए"—वह बोला।

"इसकी क्या जरूरत है ?"—नताशा ने अविश्वास से कहा।

"हमारा हवाई जहाज़ किसी दूसरे जहाज़ से टकरा न जाए इसलिए।"

नताशा फिर से खिड़की से बाहर देखने लगी। सचमुच ही रोशनी एक नियमित गति से जल-बुझ रही थी—दिल की धड़कन की तरह। किन्तु आग में किसी प्रकार की नियमितता नहीं होती। इस समय कुर्सियों के बीच से होकर एक एयर होस्टेस गुजरी, वह अपने काम में

व्यस्त और किसी भी प्रकार के आतंक की भावना से रहित थी। यदि किसी दुर्घटना की आशंका होती तो उसका व्यवहार इतना सामान्य न होता।

हवाई जहाज़ के अन्दर बत्तियाँ बुझा दी गईं। ज़ाहिर था कि यात्रियों को सोने के लिए कहा जा रहा था। नताशा ने आँखें बन्द कर लीं। पास बैठे नवयुवक ने भी अपनी सीट पीछे की ओर कर ली। इससे उन दोनों के सिर एकदम करीब आ गए, इतने करीब, मानो वे दोनों एक ही पलंग पर लेटे हुए हों। नताशा नवयुवक के सामीप्य की गर्मी महसूस करने लगी, इसके बावजूद भी नताशा की इच्छा नहीं हुई कि वह अपना सिर पीछे हटा ले। उल्टा वह तो उसके और भी करीब आ जाना चाहती थी जिससे उसे, धरती और आकाश के बीच इतना अकेलापन न महसूस हो। इसी समय नवयुवक ने अपनी कोहनी नताशा की ओर खिसकाई-एकदम न के बराबर, मुश्किल से आधा सेंटीमीटर। पर नताशा को उतनी-सी गति का भी अहसास हो गया, उसने अपना हाथ पीछे नहीं खिसकाया। नवयुवक की कोहनी से, यौवन ऊर्जा निकल रही थी। इस ऊर्जा ने नताशा को अपने में समेट लिया और उसे लगा मानो वे दोनों एक ही बादल में उड़ने लगे हैं। हवाई जहाज़ के अन्दर अंधेरा और सन्नाटा था। इतना सन्नाटा कि नताशा को उस नवयुवक के दिल की धड़कनों की आवाज़ भी हथौड़े की चोट के समान सुनाई पड़ रही थी। नताशा ने अनजाने ही अपना सिर नवयुवक के कंधे पर टिका दिया। नवयुवक ने भी अपना चेहरा नताशा के बालों पर रख दिया। उनके दो दिलों की धड़कनें मिलकर एक हो गईं। नताशा को अब हवाई जहाज़ के गिर पड़ने का रंचमात्र भी डर नहीं लग रहा था। यदि हवाई जहाज़ गिरेगा भी तो क्या डर। वे दोनों इकट्ठे थे।

"तुम क्या बाकू के रहने वाले हो?"—नताशा ने उससे पूछा।

ऐसे में, एक-दूसरे के बारे में कोई जानकारी न होना, अजीब बात थी। इसीलिए कुछ बात करना आवश्यक था।

"हाँ, बाकू का।"

"लगते तो तुम रूसी हो···"

"वहाँ रूसी भी रहते हैं।"

"लेकिन किसलिए"

"सुन्दर शहर है इसलिए···"

"मॉस्को तुम क्या करने गए थे?"

"वहाँ पर खेल का कैम्प लगा था।"

"तुम बास्केटबाल के खिलाड़ी हो?"

"हाँ! बास्केट बाल खेलता हूँ—"

वे आपस में फुसफुसाकर बात कर रहे थे, भावनाओं से उनके गले रुँधे हुए थे। सम्मोहक लालसा से अपना ध्यान हटाने के लिए वे बातों का सहारा ले रहे थे किन्तु सम्मोहन पर काबू पाना कठिन हो रहा था उनके लिए।

नवयुवक ने थोड़ा झुककर नताशा का चुम्बन ले लिया। उसके होंठ अत्यन्त सावधान और कोमल थे। नताशा का दिल उछलकर गले में आ गया। कुछ उसी तरह जैसे कि हवाई जहाज़ उछल कर हवाई गर्त में फँस गया हो।

नताशा को ज़िन्दगी में पहली बार ऐसा रोमांचक अनुभव हुआ था।

"तुम्हारे और कौन-कौन हैं ?"—नवयुवक ने पूछा।

"मेरा मंगेतर ! मैं उसी के पास जा रही हूँ।"

"अच्छा···हाँ अभी तुम युवा हो—"

अँधेरे में वह नताशा की उम्र का अन्दाज नहीं लगा पाया था।

"तुम भी किसी से प्रेम करते हो ?"

"हाँ, मेरी भी मंगेतर है—स्नेझाना। भगवान की ऐसी ही इच्छा थी।"

"वह बुल्गेरिया की रहने वाली है ?"—नताशा ने अनुमान से कहा।

"हाँ, बुल्गेरिया की ही है। मैं उसे भगवान की इच्छा समझता हूँ। आज जो मैंने तुम्हारे सामीप्य में महसूस किया है वैसा। पहले कभी किसी अन्य के साथ नहीं किया। मैं तो जानता भी नहीं था कि ऐसा भी होता है।"

"कैसी अनुभूति हुई तुम्हें ?"

"पता नहीं !" जैसे एक बिजली सी कौंध गई हो।"

नताशा ने उससे कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखा। उसने अभी तक उसे ठीक से देखा भी नहीं था—युवा, गठा हुआ चेहरा और व्याकुल आँखें। नताशा को महसूस हुआ कि उसे सिर्फ आँखों से देखना ही काफी नहीं। उसने अपना हाथ बढ़ाकर नवयुवक का चेहरा अपने हाथ में लेकर एक अंधे की तरह टटोल कर देखा। जैसे वह अपनी उँगलियों से उसका नाक नक्श याद करने की कोशिश कर रही हो। नवयुवक को भी नताशा के इस व्यवहार से हैरानगी नहीं हुई। उस समय जो कुछ भी उनके बीच गुज़र रहा था वह उसे स्वाभाविक लग रहा था। केवल स्वाभाविक ही नहीं, ऐसा ही होना चाहिए था, लगा। बत्ती के वो सिगनल मानो हवाई जहाज़ के सिगनल न होकर इन दो आत्माओं का एक-दूसरे को पहचान लेने की निशानी हो।

"जिन्दगी कैसी गुज़र रही है ?" नताशा ने पूछा।

"दुख पूर्ण। मैं बहुत दुखी हूँ।"

"किस बात का दुख है तुम्हें ?"

"मैं अपनी माँ को दुबारा से जिन्दा करना चाहता हूँ। क्या किसी मरे हुए आदमी को जिन्दा करना संभव नहीं ?"

"नहीं।"

"तुम्हें कैसे मालूम ?"

"मैं जीवविज्ञान शास्त्री हूँ, इसलिए यह बात खूब अच्छी तरह जानती हूँ। दुनिया में यही एक ऐसी बात है जो करना असंभव है। बाकी और तो सब कुछ करना संभव है।"

"पर पुराने जमाने में, जब तरपान घोड़ों की पूरी नस्ल ही खत्म हो गई थी, तो उन्हें चयन और संस्करण के द्वारा पुनर्जीवित करना संभव हो सका था। उसी का नतीज़ा है कि आज अस्कानिय-नोवा के पास इन घोड़ों के झुण्ड के झुण्ड हैं।

"इसमें सिर्फ नस्ल को ही जीवित करना संभव हो सका किसी घोड़े विशेष को नहीं। घोड़े विशेष को जीवित करना तो एकदम असंभव है। जीव विशेष अनन्य है।"

"बहुत से लोगों की धारणा हैं कि नई पीढ़ियों के द्वारा पुरानी पीढ़ियों को जिन्दा किया जा सकता है, साथ ही उनके व्यक्तित्व को भी।"

प्रकति पीढ़ियों में परिवर्तन करना चाहती है। लोग जन्म लेते हैं, बूढ़े होते हैं और मर

जाते हैं जिससे कि नई पीढ़ी के लिए स्थान बन सके। इस जीवन चक्र को मनुष्य विपरीत दिशा में नहीं चला सकता।

"मेरी माँ तो बूढ़ी भी नहीं हुई थी। वह तो जवानी में ही मर गई, उन्होंने पूरी आयु नहीं भोगी।

"तुम्हें सच के साथ समझौता कर लेना चाहिए।"

"यह मेरे लिए संभव नहीं। मैं माँ के बगैर जिन्दा नहीं रह सकता। मैं तो माँ के साथ ही चला जाना चाहता था···। तुम भी सोचती होगी कि मैं पागल हो गया हूँ।"

"नहीं, ऐसा नहीं।"

नताशा को सचमुच ही 'माँ को दुबारा जीवित' करने की उसकी तीव्र इच्छा पर हैरानगी नहीं हुई क्योंकि वह जानती थी कि नवयुवक को इस ओर धकेलने वाली कौन-सी शक्ति है। एक ओर नादका थी, जो पति की मृत्यु से पहले ही उससे अलग हो गई थी और मृत्यु हो जाने पर उसे कोई फर्क नहीं पड़ा था। दूसरी ओर यह नवयुवक था जो माँ की मृत्यु हो जाने पर भी उससे अलग नहीं हो पा रहा था। माँ के साथ ही चिपटा हुआ था। वह इस वियोग से समझौता करने में असमर्थ था। किसी ऐसे रास्ते की तलाश में था जिससे या तो वह माँ के साथ चला जा सकता, या फिर माँ को लौटा सकता। दोनों में से उसने माँ को लौटा लाने का रास्ता चुना था।

"हम दोनों का इस संसार में एक-दूसरे के अलावा और कोई नहीं था: वह मेरे लिए थी और मैं उसके लिए। मैं जब एक महीने का और माँ उन्नीस वर्ष की थी, तभी मेरे पिता ने हमें छोड़ दिया था। मैं तो इतना भी नहीं जानता कि वे थे भी या नहीं। मैंने उन्हें देखा तक नहीं था। हम बहुत गरीब थे। अक्सर ही ऐसे दिन आते जब हमारे पास केवल प्लेट भर, बिना माँस का सूप होता था। एक बार तो पूरी सर्दियाँ मैंने घर बैठकर गुजारीं क्योंकि मेरे पास पहनने के लिए गर्म जूते नहीं थे···।"

नताशा कुर्सी पर पीछे की ओर पीठ लगाए हुए थी और उसका चेहरा नवयुवक की ओर था जिससे नवयुवक के शब्द तथा आवाज़ साँस के संग उसके अन्दर तक चले जा रहे थे। नवयुवक उसे सुनाने लगा उसकी माँ ने ड्रामा स्कूल में शिक्षा प्राप्त की थी, परन्तु किसी ड्रामा कम्पनी ने उसमें दिलचस्पी नहीं ली। जिससे स्पष्ट था कि वह एक अच्छी अभिनेत्री नहीं थी। वह 'ज्ञान' नामक सोसाइटी में अभिनय का काम करती थी। उदाहरण के तौर पर, यदि मैक्सिम गोर्की के जीवन पर वार्ता होती तो वह, अपनी जमीन छूती हुई फ्राक और मलमल के लम्बे मफलर में स्टेज पर आकर मफलर से कभी तूफान तो कभी सागर का अभिनय करते हुए गोर्की की कविता 'तूफान' का पाठ करती। संभवतः वह अपनी रोज़ की पोशाक-स्कर्ट और ब्लाऊज़ में भी यह अभिनय कर सकती थी परन्तु वह एक अभिनेत्री थी इसलिए भाव अभिनय अनुरूप सज्जा के साथ करना आवश्यक समझती थी। उसकी आंतरिक इच्छा और बाहर की वास्तविकता में मेल नहीं बैठता था। उसकी प्रतिभा बौनी है, इस सत्य को वह मानना नहीं चाहती थी। सृजन के घुन से खाया हुआ, शायद ही कोई ऐसा आदमी हो जो यह मानने को तैयार हो कि उसमें प्रतिभा नहीं है। एक बार वह बीमार पड़ी और फिर उठी नहीं। अस्पताल में ही उसकी मृत्यु हो गई। करीब एक-साल हो गया उसकी मृत्यु हुए। वह, उसका बेटा—रात दिन हमेशा उसके पास रहता था। उसकी जेब हमेशा मुड़े-तुड़े रूबलों से भरी रहती थी, जो कि

वह अस्पताल की आया को देता रहता था, भले ही माँ का सब काम स्वयं वह अपने हाथों से करता था। एक दिन डॉक्टर ने जो माँ का इलाज कर रहा था, कहा, "बस थोड़ा धैर्य और रखो, अब यह अधिक नहीं जिएँगी। हद से हद दो या तीन दिन ..।" नवयुवक ने डॉक्टर की ओर देखा किन्तु कुछ समझ नहीं पाया कि डॉक्टर के कहने का क्या मतलब है। वह तो अपना सारा जीवन माँ की सेवा में गुज़ार देने के लिए तत्पर था—बिना खाए, बिना सोये और यहाँ तक कि खड़े-खड़े ही। काश उसकी माँ साँस भर ले सकती और पलकें झपका सकती। उस दिन सुबह के समय जब वह सिगरेट पीने के लिए सीढ़ियों से जाकर लौटा तो उसकी कुछ समझ में नहीं आया—माँ वहाँ पर थी भी और नहीं भी। माँ अपना शरीर वहाँ छोड़कर कहीं दूर चली गई थी। उस वार्ड में एक स्त्री और थी, माँ की पड़ोसिन। उसने अपनी काँपती हुई उँगली से संकेत कर फुसफुसाकर कहा, "वह मर गई—" हाँ···! नवयुवक ने भी उसी तरह फुसफुसाकर उत्तर दिया। "बाहर जाकर कहो, इनको यहाँ से हटा दें।"—"नहीं, तुम उसको छुओ मत ! —लेकिन क्यों ?··· "ऐसा ही करते हैं।" उसे विश्वास था कि माँ को अभी भी वापिस लाया जा सकता है, उस जगह से, जहाँ वह अभी-अभी गई थी "नहीं, यह मेरी बर्दाश्त से बाहर है, मैं तो पागल हो जाऊँगा।"—मैं आपकी कोई मदद नहीं कर सकती"—"किसी को बुला दीजिए, —बुला तो मैं देती हूँ किन्तु अब हो कुछ नहीं सकता।" वह स्त्री फुसफुसाकर शान्त स्वर में बोल रही थी। वह भी फुसफुसाकर बोल रहा था। साथ ही वह उस स्त्री को समझाने की भी कोशिश कर रहा था। यह बातचीत दो ऐसे व्यक्तियों के बीच हो रही थी जो अपना मानसिक संतुलन खो बैठे थे।

पहले उसने जाकर उस डॉ० को सूचना दी जो माँ का इलाज कर रहा था। उसके बाद वह मुख्य डॉक्टर के पास गया। वहाँ पर उसने बहुत अनुनय विनय की कि किसी तरीके से उसकी माँ को दुबारा से जीवित कर दिया जाए, साथ ही वह अपनी इस धृष्टता के लिए लगातार क्षमा माँगता रहा। किन्तु उन्होंने, उसके एक इंजेक्शन लगाकर, उसे घर भेज दिया। घर पहुँचकर उसने अपनी कलाई की नस काट डाली थी।

"और स्नेझना ?"—नताशा ने पूछा।

"मैंने उसके विषय में सोचा ही नहीं। वह मेरे लिए कोई अर्थ नही रखती थी।"

—कुछ देर दोनों चुप रहे।

"तुम क्या सोचती हो कि मैं पागल हो गया हूँ ?"—नवयुवक ने दुबारा से पूछा।

"नहीं, मैं ऐसा नहीं समझती। बात सिर्फ यह है कि तुम अभी बहुत छोटे हो और तुम में दुख सहने की शक्ति नहीं है, तुम्हें अभी दुख सहना नहीं आया।"

"संभवतः तुम ठीक कह रही हो किन्तु माँ को मरना नहीं चाहिए था। यह बेइन्साफी है। उसका जीवन बहुत छोटा और दुखों से भरा था। उसने सदा अपमान ही सहा—अभिनेत्री के रूप में भी और स्त्री के रूप में भी। उसका मुआवज़ क्या यही है ? मौत ?"

"प्रत्येक व्यक्ति वही काटता है जो बोता है। यह एक निष्ठुर सत्य है।"

"किन्तु माँ ने तो स्नेह और सरलता ही बोई थी।"

"इसका मतलब है कि उसने बीज उस जगह नहीं बोए जहाँ उसे बोने चाहिए थे।"

"अर्थात् ?"—नवयुवक को कुछ समझ में नहीं आया और उसने अपना चेहरा आगे की ओर बढ़ाया। उसका चेहरा बात समझ न पाने के कारण तन गया था।

"अर्थात्, तुम्हारी माँ ने न तो ठीक पेशा चुना और न ही ठीक पुरुष को पति के रूप में चुना।"

"भले ही उसने पति ठीक न चुना हो किन्तु पुत्र का चुनाव तो ठीक था उसका। मैं उसे दुनिया में सबसे अधिक प्यार करता था और करता हूँ।"

"सब भाग्य का खेल है···।"

"नहीं !···फुसफुसाकर गुस्से से बोला—"यह सरासर बेइंसाफी है।" आवेश में उसकी मुट्ठियाँ भिंच गई, उन्हें दाँतों में दबाकर वह रोने लगा।

नताशा ने कभी किसी पुरुष को रोते हुए नहीं देखा था। हाँ ! अपने पहले पति को अवश्य कभी-कभी उसने शराब के नशे में रोते देखा था। लेकिन वे आँसू दूसरी ही तरह के होते थे।

नताशा ने नवयुवक की मुट्ठी को दाँतों के बीच से हटाकर, उसकी उँगलियों को सीधा किया। और अपना चेहरा उसके हाथों में थमा दिया। जिससे नवयुवक उसके सामीप्य का अनुभव कर सके। और वे दोनों, आकाश और धरती के बीच, एक-दूसरे को सहारा दे सकें।

"तुम स्नेझना से विवाह करके एक बच्ची पैदा कर लो—नताशा ने सलाह दी—बच्ची का नाम अपनी माँ के नाम पर रख लेना—क्या नाम था तुम्हारी माँ का ?"

"अलेक्सान्दरा।"

"बस, अलेक्सान्दरा, नाम रख देना उसका। नाम भी सुन्दर है और तुम्हें बच्ची को लाड़ से पुकारने के लिए कई नाम भी मिल जाएँगे : आल्या, सान्दरा, शूरा, साशा···बच्ची की शक्ल भी तुम पर ही जानी चाहिए क्योंकि लड़कियों की शक्ल बाप पर और लड़कों की माँ पर जाती है। अतः सान्दरा की शक्ल तुम्हारी माँ से मिलती हुई होगी और इस प्रकार तुम अपनी माँ को पुनः जीवित करने में सफल हो जाओगे।"

"आपका क्या नाम है ?"

"नताशा !"

"हवाई जहाज़ नीचे उतर रहा है। कृपया अपनी कुर्सी सीधी रखें और पेटी बाँध लें।" —होस्टेस ने अपनी व्यावहारिक आवाज़ में कहा।

बत्तियाँ जला दी गई थीं। यात्रियों ने शीघ्रतापूर्वक अपनी पेटियाँ बाँध लीं। नताशा ने खिड़की की ओर मुँह इस तरह किया जिससे नवयुवक तेज़ रोशनी में उसकी शक्ल ठीक से देख सके। किन्तु इस पर भी वह उन दोनों की उम्र का अन्तर देखने में असमर्थ रहा। जैसे कि शायद बिजली की कौंध ने उसके दिमाग में स्थाई परिवर्तन कर दिया हो।

"क्या हमारी मुलाकात फिर नहीं होगी ?" उसने प्रश्न किया।

"नहीं"—नताशा ने उत्तर दिया—"यह संभव नहीं, मैं अकेली नहीं हूँ।"

"तो क्या हुआ ? क्या आप कुछ समय नहीं निकाल सकतीं ?"

"हो सकता है निकाल भी लूँ किन्तु इससे लाभ ?"

नवयुवक प्रत्युत्तर में चुप रहा और कहता भी क्या ?

हवाई जहाज़ आवाज़ करता हुआ नीचे उतर रहा था। जमीन छूते समय भी हवाई जहाज़ में वैसे ही झटके महसूस हुए जैसे कि उठते समय हुए थे। हवाई जहाज़ का नीचे का हिस्सा जोर से हिल रहा था इससे नताशा को मितली आने लगी।

हवाई जहाज़ का कप्तान कोई जन्म जात चालक तो था नहीं। ज़ाहिर था कि उसने हवाई जहाज़ उड़ाने की शिक्षा इस दुनिया में आकर ही ली थी।

हवाई अड्डे को शहर से अलग करने के लिए लोहे की रेलिंग लगी हुई थी। कितायव रेलिंग के दूसरे किनारे पर खड़ा हुआ नताशा के आने वाले दरवाज़े की ओर देख रहा था। वह काफी उत्तेजित था। वह एक कुलीन किन्तु खूंखार जानवर की तरह लग रहा था।

नताशा एकदम दरवाज़े की ओर न बढ़कर, लोहे की रेलिंग के बराबर में एक ओर खड़ी कितायव की ओर तटस्थ भाव से देख रही थी तत्पश्चात उसने धीरे से आवाज़ दी—"कितायव—!"

कितायव शीघ्रता से मुड़कर रेलिंग की ओर बढ़ा। उसने रेलिंग के बीच में से हाथ निकालकर नताशा को गले लगा लिया और भाव-विभोर हो जोर से एक चुम्बन ले लिया। कितायव के होंठ पतले और सख्त थे। उसका यह चुम्बन नताशा के हृदय को आन्दोलित न कर पाया। वह केवल होंठों तक ही सीमित रह गया।

सामान की प्रतीक्षा करते हुए, कितायव हवाई जहाज़ के इतनी देर से पहुँचने पर अपनी अप्रसन्नता ज़ाहिर कर रहा था। पूरी रात बर्बाद हो गई थी और अगला दिन भी। इस पर नताशा कह सकती थी "इसमें मेरा क्या कसूर है, न बुलाते···।" किन्तु नताशा एक दोषी की मुद्रा में चुपचाप खड़ी थी। कितायव तो उसके दोष के प्रति अनभिज्ञ था। पर वह अपना दोष स्वयं जानती थी : मृत्यु जैसे संकट के क्षण में भी कितायव को याद करना तो दूर उसने एक पर पुरुष के संग रात गुजारी थी। दोहरा विश्वासघात !

यात्रियों का सामान अन्दर आना शुरू हो गया था। सामान लाने वाली चौड़ी पेटी धीरे-धीरे घूम रही थी। पेटी पर सामान-सूटकेस, बैग, पर्स आदि आ आकर इस तरह गिर रहे थे जैसे कहीं आसमान से गिर रहे हों। वे सभी लोग जो अभी कुछ समय पहले तक सम्मानित यात्री थे, जिनकी नींद भी पूरी नहीं हुई थी। इस समय जनसाधारण की भाँति सामान लाने वाली पेटी की ओर एकटक देख रहे थे। कुछ इस प्रकार की उत्सुकता से जैसे कि इन्तजार में हों। कि उन्हें सैंटा क्लाज़ के हाथों कौन-सा तोहफा मिलने वाला है। भले ही मिलना उन्हें केवल अपना एक सूटकेस ही था।

अचानक नताशा की निगाह अपने सहयात्री नवयुवक पर पड़ी। ज़मीन पर उसका व्यक्तित्व और भी अधिक प्रभावशाली लग रहा था। उसका विश्वासोत्पादक चेहरा : सीधा, लम्बा, सुन्दर चेहरा और मज़बूत गर्दन ! ऐसी गर्दन कार्टून फ़िल्म में लोथर की होती है। नवयुवक अवाक्-सा कितायव की ओर देख रहा था। उसके मन में तरह-तरह के प्रश्न उठ रहे थे—क्यों, नताशा उसे छोड़कर, ऐसे सूखे और खूसट बूढ़े के पीछे जा रही है? क्यों, मुर्दे को जिन्दा कर देने वाला, अमृत नहीं ढूँढा जा सकता ? क्यों, राजकुमारी को राक्षस से नहीं बचाया जा सकता···" उसका गहरे नीले रंग का खेल वाला बैग, जो देखने में भी भारी लग रहा था, कई बार उसके सामने से होकर बराबर के सूटकेसों से टकराता, अन्य सूटकेसों को अपने नीचे दबाता हुआ, चला जा रहा था। ठीक उसी प्रकार नवयुवक के अन्तस में भी अनेक सवाल एक-दूसरे से टकराते और दबते जा रहे थे जिससे उसकी आँखें बड़ी और गहरी होती जा रही थीं।

कितायव ने समान की पेटी से, जाना पहचाना नताशा का सूटकेस उठाया। फिर इन्सपैक्टर को सामान का टोकन दिखाकर वे बाहर की ओर चल दिए। बाहर निकलने से

पहले नताशा ने एक बार फिर पीछे मुड़कर देखा। नवयुवक का सिर एक पक्षी की तरह झुका हुआ था और उसकी आँखें उस बंजारा लड़के की तरह लग रही थीं।

एक बार की बात है, नताशा अपनी माँ के साथ, शहर के बाहर वाले अपने बंगले पर रहने के लिए गई हुई थी। वहाँ एक दिन एक बंजारन उनके घर के आँगन में आई। उसकी गोद में एक बहुत खूबसूरत बच्चा था। बच्चे ने अपनी मैली हथेली सामने फैला रखी थी। उस औरत ने नताशा वगैरह से खाना, कपड़े और पैसे माँगे। बंजारन ने अपनी तरफ से अधिक से अधिक माँगा क्योंकि वह अच्छी तरह जानती थी दस रूबल माँगेगी तो एक मिलेगा। नताशा की माँ घर के अन्दर जाकर कुछ ऐसी चीज ले आई जिन्हें देने में उन्हें अधिक अफसोस न हो—कुछ खाना, पैसे और एक पुराना गाउन। बच्चे की फैली हुई हथेली पर माँ ने एक ताजा भुना हुआ आलू छिलके समेत रख दिया। तभी यह सोचकर कि आलू गर्म है उन्होंने बच्चे के नन्हें हाथों से आलू छीन लिया उसी क्षण में बच्चे की आँखें अपमान के कारण फैल गईं और उनमें आँसू छलक आए। और वह रोने लगा—धीरे-धीरे किन्तु बिलख-बिलख कर उस व्यक्ति की तरह जिसका बड़ा अपमान हुआ हो। वह समझ नहीं पाया था कि आलू उसी की भलाई के लिए वापस ले लिया गया था। वैसे ही यह नवयुवक भी समझ नहीं पाया था कि नताशा उसी की भलाई के लिए उससे दूर जा रही थी। उसकी आँखें भी उस बंजारे बालक की तरह रोती हुई आँखें थीं।

आदमी और उसके फर्ज का रिश्ता भी धरती और पेड़ के रिश्ते के समान है। पेड़ों की जड़ों की तुलना उस बंजारन की मजबूत बाँहों से की जा सकती है। ये जड़ें धरती में गहराई तक पैठ कर जमीन को भी पकड़े रहती हैं और स्वयं को भी खड़ा रखती हैं। जमीन को पेड़ों की आवश्यकता है और पेड़ों को धरती की। दायित्व जीवित का मृत के प्रति न होकर जीवित का जीवित के प्रति होता है। मनुष्य का कर्त्तव्य है कि जितने भी पेड़ उखड़ें उनकी जगह नए पेड़ अवश्य लगाए जो कि धीरे-धीरे जड़ पकड़ कर बढ़े हों। यदि एक पेड़ उखड़ने पर दूसरा न लगाया गया तो इसका अर्थ होगा कि व्यक्ति अपनी मौत स्वयं बुला रहा है क्योंकि वह एक ऐसे गढ्डे के सामने खड़ा है जिसको उसने स्वयं खोदा है।

नताशा कितायव के पीछे चली जा रही थी। उसकी गर्दन पर नवयुवक की निगाह एक अटल किरण की तरह टिकी हुई थी। करीब एक हफ्ते तक नताशा उसकी निगाह की इस चुभन को महसूस करती रही।

इस संदर्भ में पहले पति को याद करने का तो सवाल ही नहीं उठता। केवल उसका इस सबसे इतना ही वास्ता है कि तब, जिन्दगी के शुरू में एकदम आसान था कच्ची जड़ों को तोड़ मरोड़ कर, निकाल कर फेंक देना क्योंकि तब उसे अपने सामने एक लम्बी जिन्दगी नजर आती थी।

मूल रूसी से अनूदित : **मंजरी कुमार**

संस्था उपलब्धि

साहित्य अकादेमी के महत्त्वपूर्ण कार्य एवं योजनाएं

□ रणजीत कुमार साहा

साहित्य अकादेमी अपने सक्रिय कार्यकाल के पैंतीस वर्ष पूरे करने जा रही है। भारत सरकार ने मार्च, १९५४ में एक स्वायत्त शासी संगठन के रूप में इसकी स्थापना की थी। भारतीय साहित्य के विकास तथा ऊँचे साहित्यिक प्रतिमान कायम करने, विभिन्न भारतीय भाषाओं में होने वाले साहित्यिक कार्यों तथा क्रियाकलापों को अग्रसर करने उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने तथा उनके माध्यम से देश की सांस्कृतिक एकता को उन्नयन करने की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही इसकी स्थापना की गई थी। १२ मार्च, १९५४ को साहित्य अकादेमी के उद्घाटन के अवसर पर डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने जो उद्गार व्यक्त किया था, उनका एक अंश उद्धृत किया जाना उपयुक्त होगा :

> "साहित्य अकादेमी शीर्षक दो शब्दों के मेल से बना है : 'साहित्य' संस्कृत है, 'अकादेमी' ग्रीक। इस नाम से हमारा विश्वव्यापक दृष्टिकोण और आकाँक्षा सूचित होती है। 'साहित्य' का अर्थ है, वाङ्मय या रचना, 'अकादेमी' का अर्थ है, इस विषय में रुचि लेने वाले व्यक्तियों की सभा। इसलिए 'साहित्य अकादेमी' उन सब व्यक्तियों की सभा है, जो रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य में रुचि लेते हैं। इस अकादेमी का उद्देश्य साहित्य के क्षेत्र में विख्यात व्यक्तियों का सम्मान करना, उदीयमान साहित्यकारों को प्रोत्साहन देना, जनता की अभिरुचि को परिष्कृत करना और साहित्य तथा साहित्यिक आलोचना का मानदंड ऊँचा करना है। अकादेमी ने इन्हीं उद्देश्यों को अपने सामने रखा है।"

अकादेमी अपने संविधान के अन्तर्गत भारतीय अंग्रेजी सहित कुल बाईस भाषाओं में अपनी गतिविधियों का संचालन करती है। इसका मुख्यालय नयी दिल्ली स्थित रवीन्द्र भवन ३५, 'फ़ीरोजशाह मार्ग है और इसके अन्य क्षेत्रीय कार्यालय बंबई, मद्रास और कलकत्ता में कार्यरत हैं। इस प्रकार भारतीय संविधान में स्वीकृत पन्द्रह भाषाओं के अतिरिक्त, जिन भाषाओं को अकादेमी ने मान्यता दी है— वे हैं : डोगरी, कोंकणी, मैथिली, मणिपुरी, नेपाली, राजस्थानी तथा अंग्रेजी (भारतीय)।

अकादेमी ने भारतीय भाषाओं की कालजयी एवं प्रमुख रचनाओं की परस्पर अनूदित कृतियों को भी प्रकाशित कराया है। इनमें साहित्य का इतिहास तथा समीक्षा संदर्भ-ग्रंथ, ग्रंथ-सूची तथा महत्त्वपूर्ण लेखकों की परिचयात्मक सूची भी सम्मिलित है।

अकादेमी ने अपनी स्थापना के तत्काल बाद ही, १९५४-५५ में, यूनेस्को के सहयोग से भारतीय गौरव-ग्रंथों के विदेशी भाषाओं में अनुवाद का कार्य आरम्भ किया था। इस कार्य में आरंभिक कठिनाइयाँ भी सामने आयीं। लेकिन अनुवादकों के उत्साह से अकादेमी का संकल्प यशस्वी हुआ और 'सेलेक्शन्स फ्राम आदि ग्रंथ,' 'द अयोध्या कैंटो आव द रामायण एज़, टोल्ड वाई कम्बन,' 'ऑलमेन आर ब्रदर्स,' 'चेम्मीन,' 'द पॉयेट्स टेल,' 'वाइल्ड बापू आफ गराम्बी' तथा 'पोइम्स आव सुब्रह्मण्य भारती' कृतियाँ प्रकाशित हुईं।

यूनेस्को के सहयोग से संस्कृत, हिन्दी, बाङ्ला, उर्दू तथा मराठी की कालजयी कृतियाँ भी प्रकाशित हुईं। कालिदास, भास, बिल्हण, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचन्द, सुब्रह्मण्य भारती, बंकिमचन्द्र, सतीनाथ मादुरी, विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय, माणिक बंद्योपाध्याय, तुकाराम, विद्यापति, तकषी शिवशंकर पिल्लई और एस० एन० पेंडसे की कृतियों के अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा समेत अन्य भाषाओं में भी अनुवाद प्रस्तुत किये गये। इसी तरह पश्चिमी देशों की प्रतिनिधि एवं कालजयी कृतियों के अनुवाद भी इसी योजना के अंतर्गत हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में किये गये। इनमें से प्रमुख साहित्यकारों के नाम हैं—मोलियर, थोरो, गोएथे, सोफ़ोक्लीज, माकियावेली, सरवान्तीस, टॉलसटॉय, विक्टर ह्यूगो तथा शेक्सपीयर।

भारतीय लेखकों को एक ऐसा ही ग्रंथ "नेशनल बिब्लियोग्राफ़ी ऑन इंडियन लिटरेचर" (१९०१-१९५३) चार खण्डों में प्रकाशित है, जिसमें प्रमुख भारतीय भाषाओं की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का अकारादिक्रम से विवरण दिया गया है। इसी प्रकार का एक महत्त्वपूर्ण संदर्भ-ग्रंथ "हू इज़ हू आफ इंडियन राइटर १९८३" है, जिसमें बाईस भाषाओं में विद्यमान और सृजनरत भारतीय साहित्यकारों की परिचय-प्रविष्टि उनकी जन्मतिथि, मातृभाषा, जन्मस्थान, प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ, साहित्यिक सम्मान उपाधि, प्रशस्ति तथा पुरस्कृत कृतियों की प्रमाणिक जानकारी अद्यतन सूचनाओं के साथ दी गई है। इनका पूरक संस्करण निर्माणाधीन है।

साहित्य अकादेमी "भारतीय साहित्य का विश्वकोश" (इनसाइक्लोपीडिया आफ़ इंडियन लिटरेचर") जैसी महत्त्वपूर्ण योजना पर भी पिछले कई वर्षों से कार्य कर रही है और इसके दो खण्ड (ए से डी और ई से आई वर्णमाला तक) प्रकाशित हो चुके हैं। तीसरा खण्ड प्रकाशनाधीन है। आशा है, इस योजना के पूरा हो जाने पर एक महत्त्वपूर्ण अभाव को दूर किया जा सकेगा।

अकादेमी का आरंभ से ही यह प्रयास रहा है कि महत्त्वपूर्ण भारतीय साहित्य ने केवल विशिष्ट बल्कि सामान्य पाठक तक पहुँचे। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए "भारतीय साहित्य निर्माता" (मेकर्स आफ़ इंडियन लिटरेचर सीरिज) ग्रंथ-शृंखला के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं (अकादेमी द्वारा मान्यता प्राप्त) के लगभग १५० नवीन एवं प्राचीन साहित्यकारों की जीवनी एवं कृतित्व पर पुस्तिकाओं का प्रणयन किया जा चुका है और विभिन्न भाषाओं में इसके प्रामाणिक अनुवाद भी उपलब्ध हैं। इन पुस्तिकाओं (मोनाग्राफ़) की कीमत भी बहुत ही कम (चार या पाँच रुपये मात्र) रखी गयी है और इस लोकप्रिय शृंखला की बहुत-सी पुस्तिकाओं के कई संस्करण प्रकाशित किए जा चुके हैं। और इनमें से विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा सहायक

सामग्री के रूप में संस्तुत हैं। मोटे तौर पर प्राचीन (१००० ई० तक), मध्यकालीन (१०००-१८०० ई० तक) तथा आधुनिक कला (१८०० ई० के उपरान्त) में विभाजित इस शृंखला द्वारा व्यापक पाठक वर्ग को लाभ पहुँचा है।

इसी क्रम में विभिन्न भाषाओं के साहित्य का इतिहास ग्रंथ शृंखला के अंतर्गत अब तक तमिल, तेलुगु, कन्नड, सिन्धी, मराठी, बाङ्ला, भारतीय अंग्रेजी, मलयालम, राजस्थानी, डोगरी, नेपाली, गुजराती, मैथिली और ओड़िया भाषाओं के साहित्य का इतिहास प्रकाशित हो चुका है। आशा है, हिन्दी समेत अन्य भाषाओं के इतिहास-ग्रंथ भी जल्दी ही प्रकाशित होंगे।

अकादेमी ने अपनी स्वीकृत भाषाओं के साहित्य की विभिन्न विधाओं के प्रतिनिधि अंशों का संचयन कर कालक्रमानुसार, उन्हें तीन खण्डों में संयोजित कर रही है। प्रस्तावित तीन संकलनों में इतिहास के तीन प्रमुख काल खंडों—आदिकालीन, मध्यकालीन एवं आधुनिक—से संबद्ध सर्वेक्षण एवं समालोचनाओं को अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रस्तुत किया जायेगा। इस योजना के अंतर्गत आधुनिक भारतीय साहित्य (१८५०-१९७५) से सम्बद्ध संकलन कार्य लगभग पूरा हो चुका है और विभिन्न भाषाओं से प्राप्त सामग्री के अनुवाद कार्यों एवं प्रविष्टियों को संयोजित किया जा रहा है।

इसी प्रकार साहित्य अकादेमी ने लोक वृतों के प्रमाणिक संकलन के उद्देश्य से लोक कथाओं के कई संग्रहों का प्रकाशन किया है। लोक कथाओं की यह विशिष्ट धरोहर देश के विभिन्न क्षेत्रों में सदियों से अपनी वाचिक परंपरा में सुरक्षित रही है, भले ही उसमें न्यूनाधिक परिवर्तन होते रहे। अपनी-अपनी क्षेत्रीयता एवं विशिष्टता को जुगाये रखने के बावजूद इन कहानियों का आशय हमारे मर्म को छू जाता है। प्रादेशिक एवं आंचलिक दृष्टिकोण से इन कहानियों के चयन का आधार यह रहा है कि जहाँ प्रत्येक क्षेत्र और भाषा का प्रतिनिधित्व हो वहाँ उनका वैशिष्ट्य भी बना रहे। इस क्रम में अकादेमी ने कर्नाटक, आंध्र, बिहार, डोगरी, पंजाब, बंगाल एवं कश्मीर की लोक कथाओं का प्रकाशन किया जा चुका है। तथा इनके अनुवाद भी प्रकाशित हैं।

अकादेमी "इंडियन लिटरेचर" (अंग्रेजी, द्विमासिक), "समकालीन भारतीय साहित्य" (हिन्दी त्रैमासिक) तथा "संस्कृत प्रतिभा" (छमाही) पत्रिका भी नियमित रूप से प्रकाशित करती रही है, जिसमें अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत भाषा-माध्यम से भारतीय भाषाओं के समकालीन सर्जनात्मक साहित्य का नियमित परिचय देश-विदेश के सुधी पाठकों को मिलता रहा है। कहना न होगा, इन पत्रिकाओं ने साहित्य के क्षेत्र में अपना सराहनीय एवं प्रतिनिधि योगदान किया है तथा भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे रचनात्मक साहित्य संभार को—न केवल भारतीय पाठकों के बल्कि उन विदेशी विद्वानों, पाठकों तथा आलोचकों के सम्मुख रखा है, जो यह जानने को सदैव उत्सुक रहे हैं कि आज के भारतीय साहित्य का सर्जनात्मक स्वर और स्वरूप कैसा है। साथ ही, आधुनिक एवं समकालीन रचना-बोध के साथ-साथ प्राचीन भाव-बोध एवं दृष्टिकोण का परिचय भी पाठकों को अपनी भाषा में मिलता रहा है।

अकादेमी ने भारतीय साहित्य के क्षेत्र में अकादेमी द्वारा स्वीकृत भाषाओं के विशिष्ट कृतियों के रचनाकारों को वार्षिक पुरस्कार के द्वारा, जिसके अंतर्गत दस हज़ार रुपये की राशि, शाल एवं प्रशस्ति-पत्र दिए जाते हैं—एक अभिनव कीर्तिमान स्थापित किया है। अब पुरस्कार की यह राशि तीस हजार रुपये की जा रही है। इस योजना के अंतर्गत वर्ष १९५५ से वर्ष

१६८८ तक विभिन्न (बाईस) भारतीय भाषाओं के लगभग पाँच सौ साहित्यकारों को उनकी पुरस्कृत कृतियों के लिए सम्मानित किया जा चुका है। इन कृतियों का जहाँ सारे देश में स्वागत होता है तथा वहाँ मूल एवं अनुवाद के माध्यम से पाठक इन कृतियों को पढ़ने को सहज ही समुत्सुक हो उठते हैं। अकादेमी ने इन कृतियों का परस्पर भारतीय भाषाओं से अनुवाद का कार्यक्रम भी हाथ में लिया है, जिसके अंतर्गत कई पुस्तकें (अनूदित) प्रकाशित हो चुकी है।

अकादेमी के मुख्यालय, नयी दिल्ली के अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्यालयों, बम्बई, मद्रास एवं कलकत्ता में समय-समय पर विचार-संगोष्ठियाँ, काव्य-पाठ, जन्म-शतवार्षिकी, साहित्य-समारोह लेखक-शिविर तथा कार्यशिविर का आयोजन किया जाता है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर (१८६१-१६४१) की जन्म-शतवार्षिकी १६६१ के अवसर पर आयोजित रवीन्द्रसंगोष्ठी के बाद अब तक ऐसी कई महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ आयोजित की जा चुकी हैं जो किसी भी संस्था के लिए गौरव की बात हो सकती हैं। ग़ालिब, प्रेमचन्द, तुकाराम, सुब्रह्मण्य भारती, समर्थ रामदास, बुल्लेशाह, पूरनसिंह, शरत्चन्द्र, कोल्हटकर, श्रीअरविन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भाई वीर सिंह, कुमारन आशान, बाबा फ़रीद, इक़बाल, नानालाल, अमीर खुसरो, लेनिन, शेक्सपियर, गोपबन्धु दास, बी० एम० श्रीकण्ठय्या, नारायणराव हुइलगोल, टी० पी० कैलासम, राजेन्द्र सिंह बेदी (अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अम्बिकागिरि रायचौधुरी, लक्ष्मण शास्त्री जोशी, गोपीनाथ कविराज, मैथिली शरण गुप्त, बाबू गुलाब राय और जयशंकर प्रसाद जैसे साहित्यिक व्यक्तित्व पर विद्वतापूर्ण आलेख पढ़े गये हैं। और उन पर पूरी गंभीरता से विचार-विमर्श होता रहा है। महाभारत, रामायण तकनीकी युग की चुनौतियाँ और आज का पाठक और ऐसी ही कई समसामयिक प्रवृत्तियों पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का सफलतापूर्वक आयोजन किया जा चुका है। ये आयोजन इस बात के द्योतक हैं कि न केवल राष्ट्रीय बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य परिदृश्य को प्रभावित करने वाले साहित्यकारों तथा प्रवृत्तियों को परि-रेखित तथा रेखांकित करने के लिए अकादेमी सदैव सक्रिय रही है। देश-विदेश के विशिष्ट विद्वानों ने अकादेमी द्वारा आयोजित इन संगोष्ठियों में भाग लेकर इसके संकल्प को गौरवान्वित किया है।

अकादेमी द्वारा वरिष्ठ साहित्यकारों को महत्तर सदस्यता से भी सम्मानित किया जाता है। इस सदस्यता से अलंकृत साहित्यकारों में कुछ विशिष्ट नाम हैं : सर्वश्री ताराशंकर बनर्जी, डी० आर० बेन्द्रे (अंबिका तनय दत्त) रघुपति सहाय फ़िराक़, गोपीनाथ कविराज, काकासाहेब कालेलकर, सुमित्रानन्दन पन्त, एन० राधाकृष्णन, सी० राजगोपालाचारी, वी० राघवन, विश्वनाथ सत्य नारायण, महादेवी वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, मास्ति वेंकटेश आयंगार, कालिन्दीचरण पाणिग्रही, सुकुमार सेन, शिवराम कारन्त तथा उमाशंकर जोशी।

अकादेमी द्वारा प्रायोजित यात्रा अनुदान द्वारा भारत के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को जानने तथा वहाँ के जीवन को निकट से जानने की सुविधा भी लेखकों को प्रदान की जाती है। दो या दो से अधिक साहित्यिक प्रवृत्तियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी विद्वत-वृत्ति दी जाती है। अकादेमी, जैसा कि लिखा जा चुका है, एक भारतीय भाषा से अन्य भारतीय भाषाओं के साथ-साथ भारतीयेतर भाषाओं में साहित्यिक कृतियों के अनुवादों को प्रोत्साहन देती है या इस क्षेत्र में सहायता प्रदान करती है। इस कार्य में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं विशेषकर युनेस्को से विशेष सहायता मिलती रही है। इस प्रकार के योगदान से न केवल प्रतिनिधि रचनाओं के अनुवाद

ही सुलभ हो पाए हैं बल्कि सारे विश्व के उन पाठकों की भारतीय साहित्य में रुचि बढ़ी है, जो भारतीय भाषाओं के माध्यम से हमारी कालजयी कृतियों को पढ़ पाने में अब तक असमर्थ थे। साहित्य अकादेमी द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं में चौदह सौ से भी अधिक ग्रंथ प्रकाशित किए जा चुके हैं और विभिन्न भारतीय भाषाओं में कार्य-निष्पादन, स्तर तथा विक्रय की दृष्टि से भारत की सबसे बड़ी प्रकाशन-संस्था है।

मौलाना आज़ाद की ग्रंथावली (चार खण्डों में, उर्दू में) के अतिरिक्त ऐसे कई शब्द-कोश तथा संदर्भ ग्रंथ हैं, जिनके कई संस्करण हो चुके हैं। साहित्य अकादेमी ने भारतीय साहित्य का संश्लिष्ट इतिहास जोकि भारत के पुनर्जागरण काल से (१८००-१९१० ई०) संबद्ध होगा, तैयार करा रही है और इसकी आधारभूत सामग्री संयोजित की जा रही है। इसी तरह भारतीय साहित्य से संबंधित एक वृहद संयोजना (तीन खण्डों में) प्रस्तावित है जिससे कि देश एवं विदेश के पाठकों को भारतीय साहित्य की प्रवाहमान धारा का परिचय प्राप्त हो सके।

भारत जैसे बहुभाषाई परिवेश में देश के विभिन्न क्षेत्रों के सक्रिय एवं समर्पित अनुवादकों को साथ लाने, एक मंच प्रदान करने के लिए अकादेमी ने एक वृहत कार्य अपने हाथ में लिया है। उन्हें राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय स्तर पर तथा लक्ष्य भाषा (स्रोत भाषा से) के प्रति अधिक जागरूक करने तथा रचनात्मक अनुवाद से सम्बन्धित सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पहलुओं की जानकारी देने के लिए, आधार जुटाने और सम्मुखीन चुनौतियों के प्रति मन्नद्ध करने के लिए समय-समय पर सावधिक साहित्य अनुवाद कार्यशालाएँ आयोजित की जाती रही हैं। इन कार्यक्रमों से अनुवादकों के मन में नये उत्साह का संचार हुआ है।

अकादेमी ने राष्ट्रीय स्तर पर साहित्यिक कृतियों के अनुवादकों की एक पंजिका तथा 'पैनल' बनाने का कार्य भी हाथ में लिया है ताकि विभिन्न भाषाओं में कार्यरत सक्षम अनुवादकों की सूची बनायी जा सके और प्रस्तावित कार्यों तथा विभिन्न संस्थाओं तथा अनुवाद एजेंसियों के लिए उनकी सेवा प्राप्त की जा सके।

अकादेमी एवं इंडिया इंटरनेशल सेंटर के सहयोग से प्रायोजित 'लेखक से भेंट' कार्यक्रम की राजधानी में विशेष चर्चा होती रही है क्योंकि इसमें किसी विश्रुत साहित्यकार का उपस्थित सुधी श्रोता मंडली से सीधा परिचय करवाया जाता है और उनकी रचना-प्रक्रिया, सृजन-संकल्प के साथ उनकी रचनाएँ सुनने को मिलती हैं। इस विशिष्ट कार्यक्रम में प्रो० विनायक कृष्ण गोकाक, श्री अमृत लाल नागर, श्रीमती अमृता प्रीतम, नयनतारा सहगल, श्री शंभु मित्र, प्रो० गंगाधर गाडगील, श्री अख्तर-उल-ईमान तथा श्री गिरीशकार्नाड भाग ले चुके हैं। इस अवसर पर प्रकाशित सचित्र परिचय-पत्रिका का अपना विशेष महत्व होता है तथा आमंत्रित साहित्यकार द्वारा श्रोताओं के प्रश्नों के उत्तर बड़े ही जीवंत क्षण की सृष्टि करते हैं। अकादेमी का साहित्यिक मंच (लिटररी फॉरम) भी वर्षों से ऐसे साहित्यिक आयोजन करता रहा है।

पिछले ३-४ वर्षों से साहित्य अकादेमी अपने विशिष्ट वार्षिक कार्यक्रम 'साहित्योत्सव' के माध्यम से उन प्रबुद्ध लेखकों एवं श्रोताओं को आमंत्रित करती है जो अकादेमी द्वारा आयोजित संगोष्ठियों, काव्य-पाठ और साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित लेखकों को अपने बीच पाना और सुनना चाहते हैं। इस तरह के आयोजन अपने आपमें स्वयं सम्पूर्ण होते हैं। अन्य प्रचार एवं सूचना माध्यमों ने भी इसमें गहरी दिलचस्पी दिखाई है और समम-समय पर दूरदर्शन द्वारा इन कार्यक्रमों को प्रसारित भी किया जाता रहा है। इसी अवसर पर, प्रतिवर्ष

संवत्सर व्याख्यान का आयोजन होता है। ये व्याख्यान साहित्य एवं समाज में व्याप्त मूल्यों के प्रति गहरी संबद्धता जतानेवाले साहित्यिक आंदोलनों से संबंधित सोच, आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्ति, किसी महान साहित्यकार या महान कृति के बारे में या किसी मौलिक प्रस्थान से संबंधित होते हैं। अकादेमी का पहला महत्त्वपूर्ण व्याख्यान प्रसिद्ध कवि-साहित्यकार एवं चिंतक सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' द्वारा दिया गया। उनका व्याख्यान 'स्मृति के परिदृश्य' शीर्षक से प्रकाशित भी है। इसी क्रम में दूसरा व्याख्यान बाङ्ला एवं अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक श्री अन्नदाशंकर राय द्वारा दिया गया।

साहित्य अकादेमी का पुस्तकालय भारतीय भाषाओं तथा भारतीय अंग्रेजी का बड़ा ही व्यवस्थित पुस्तकालय है। इसमें लगभग अस्सी हज़ार पुस्तकें हैं। इससे संबद्ध वाचनालय में सभी भारतीय भाषाओं की प्रतिनिधि पत्र-पत्रिकाएँ भी पाठकों के लिए उपलब्ध की जाती हैं। न केवल राजधानी का एक बड़ा पाठक-वर्ग इन सुविधाओं से लाभान्वित होता है बल्कि सारे भारत के विद्वान अवसर मिलने पर या अवकाश के क्षणों में इस पुस्तकालय में आते हैं। पुस्तकालय द्वारा समय-समय पर विषय-केन्द्रित पुस्तक-सूची भी प्रकाशित होती रही है।

साहित्य अकादेमी ने राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय जो साख प्राप्त की है, उसमें इसके संस्थापक अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू की संकल्पना ही मुख्य प्रेरणा रही है। वे लगभग दस वर्ष तक इसके अध्यक्ष रहे। इसके बाद डॉ० राधाकृष्णन, डॉ० ज़ाकिर हुसैन, डॉ० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय, उमाशंकर जोशी तथा डॉ० विनायक कृष्ण गोकाक इस राष्ट्रीय संस्था का मार्गदर्शन करते रहे। सम्प्रति इसके अध्यक्ष हैं असमिया भाषा के प्रसिद्ध साहित्यकार-कवि डॉ० वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, जो साहित्य अकादेमी तथा भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार, दोनों से सम्मानित हैं। अकादेमी के कार्य का संचालन सामान्य परिषद् करती है। इसका गठन (इसके सदस्यों के चयन एवं मनोनयन के बाद) पाँच वर्षों के लिए होता है। प्रत्येक भाषा के लिए एक सलाहकार मंडल का गठन किया जाता है जो समय-समय पर अपनी भाषा के लिए कार्य प्रस्ताव के साथ-साथ संपादित कार्य-समीक्षा करते हैं। भाषा सलाहकार मंडल, शासी परिषद् विभिन्न कार्य-योजनाओं के लिए गठित परिचालन समिति अपने अध्यक्ष की स्वीकृति से कार्य करती रही है। साथ ही, अकादेमी के सचिव की कार्य-निष्पादन क्षमता पर भी संस्था की गरिमा और महिमा निर्भर करती है। अकादेमी को आरम्भ से ही ऐसे योग्य सचिवों का मार्गनिर्देश प्राप्त हुआ। डॉ० कृष्णा कृपालानी, डॉ० प्रभाकर माचवे, डॉ० भारत भूषण अग्रवाल (उप सचिव) डॉ० केलकर इसके सचिव रहे।

जैनेन्द्र कुमार का महाप्रयाण

□ **विजयेन्द्र स्नातक**

हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार, विचारक और दार्शनिक चिन्तक श्री जैनेन्द्र कुमार का २४ दिसम्बर १९८८ को भारती नगर, नई दिल्ली में निधन हो गया। उनका यह महाप्रयाण सर्वथा अप्रत्याशित नहीं था। २३ नवम्बर सन १९८६ में गुड़गाँव (हरियाणा) के कॉलेज में भाषण देने के बाद उन्हें पक्षाघात का दौरा पड़ा और वे अचेत हो गये। अचेत होने के साथ ही उनकी वाक् शक्ति समाप्त हो गई। वाणी के मौन हो जाने पर अर्ध चेतनावस्था में उन्होंने पच्चीस महीने जिस आभ्यन्तर-अरन्तुद पीड़ा में काटे उस कष्ट-कथा का वर्णन असम्भव है। जैनेन्द्र जी ८४ वर्ष हमारे बीच रहे। हिन्दी साहित्य को समृद्ध करने के साथ उन्होंने भारतीय तत्व चिन्ता को अपनी नैसर्गिक प्रतिभा से जिस रूप में व्यक्त किया वह एक मनीषी दार्शनिक की शैली थी जिसका अनुकरण संभव नहीं है।

श्री जैनेन्द्र कुमार का जन्म २ जनवरी १९०५ ई० को अलीगढ़ जनपद के कौड़ियागंज गाँव में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम हस्तिनापुर में हुई। इनके मामा श्री भगवानदीन ने यह संस्था स्थापित की थी। भगवानदीन उच्च कोटि के विचारक थे। उनके संपर्क में जैनेन्द्र जी ने अपनी कुमारावस्था का समय व्यतीत किया था। सत्य, अहिंसा, आस्तिकता अपरिग्रह आदि सात्विक विचारों का बीज इसी आश्रम में उनके मानस में मामा भगवानदीन जी द्वारा बोया गया था। इसी आश्रम में अध्ययन करते हुए जैनेन्द्र ने प्राइवेट छात्र के रूप में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। आगे पढ़ने के लिए काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया किंतु उसी समय महात्मा गाँधी का असहयोग आन्दोलन शुरू हो गया और युवा जैनेन्द्र पढ़ाई छोड़-कर आन्दोलन में शरीक हो गये। आन्दोलन ठंडा पड़ा तो जैनेन्द्र को जीविका की चिन्ता हुई। जीविका मिलना उन दिनों आसान नहीं था। जैनेन्द्र के पास कोई डिग्री नहीं थी, पैतृक सम्पत्ति नहीं थी, ऐसी हालत में इधर-उधर भटककर जैनेन्द्र दिल्ली आ गये। उन दिनों लेखकों को पत्र-पत्रिकाओं से पारिश्रमिक नहीं मिलता था। जैनेन्द्र की अपनी 'विशाल भारत' में छपी 'खेल' शीर्षक कहानी पर चार रुपये पारिश्रमिक के रूप में मिले थे। इस पर जैनेन्द्र ने लिखा है, "चार रुपये का मनीआर्डर क्या आया, मेरे आगे तो तिलिस्म खुल गया। इन तेईस-चौबीस बरसों की दुनिया में बिता कर भी मैं क्या तनिक उस द्वार की टोह पा सका था जिसमें से रुपये का आगमन होता है। रुपया मेरे आगे फरिश्ते के मानिन्द था, जिसका जन्म जाने किस लोक में होता है।" जैनेन्द्र उन दिनों पूरी तरह निठल्ले थे। उन्हें निठल्ला शब्द बेहद प्रिय भी था। शायद इस प्रियता के पीछे उनका अपना अनुभव ही काम करता रहा हो।

जैनेन्द्र का पहला उपन्यास 'परख' है । परख में सत्यधन और कट्टो के प्रणय-प्रसंग को जिस शैली से व्यक्त किया गया है उसे हिन्दी उपन्यास साहित्य में मनो-विश्लेषण की शैली के नाम से अभिहित किया जाता है । सत्यधन का संसार बहुत सीमित-संकीर्ण संसार है । वह कट्टो और गरिमा के साथ रहकर जिस अन्तर्द्वन्द्व को झेलता है वह जैनेन्द्र की शैली में ही लिखा जा सकता है । काल का आदि-अन्त अनिर्णीत है उसके असीम विस्तार में आत्मसत्ता की पहचान करना एक दुष्कर कार्य है । 'परख' का सत्यधन इसी पहचान के लिए अपने अहं को विगलित करना चाहता है । सत्यधन कहता है, 'यह दुनिया एक है । अनेकों ऐसी-ऐसी असंख्य दुनियाओं में से एक है । मैं उस पर एक नगण्य बिन्दु हूँ—फिर अहंकार कैसा ? यह काल कब से चला आ रहा है कुछ आदि नहीं । कब तक चलेगा— कुछ अन्त नहीं । इस अनादि-अनन्त काल सागर के विस्तार में मेरे सादि-सान्त जीवन बुदबुद की भी क्या कुछ गणना है ? अपना सब कुछ मिटा-कर इस स्कीम में विलय हो जाना जिससे मेरे जैसे और बुदबुदों को अवकाश मिले !···धरती में गड़कर धरती के तल को जरा ऊँचा कर जाना । भविष्य की पुष्टि के लिए अपने जीवन और वर्तमान को स्याह कर जाना !" परख की वस्तु का यदि विश्लेषण किया जाए तो जैनेन्द्र के कथा-शिल्प की मौलिकता को एक सीमा तक समझा जा सकता है । प्रेमचन्द ने 'परख' पढ़कर जो टिप्पणी की थी वह जैनेन्द्र के लिए उत्साहवर्धक और हिन्दी पाठक के लिए विस्मयजनक थी । प्रेमचन्द ने जैनेन्द्र में बाङ्ला लेखक शरच्चन्द्र और रूसी लेखक गोर्की का समवेत रूप देखा था । अपनी पहली कृति से कोई लेखक साहित्य जगत् में चर्चित और सम्मानित हो यह मात्र संयोग न होकर प्रतिभा का परिचायक है ।

जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-साहित्य को जिस नये क्षेत्र से परिचित कराया वह प्रेम और काम, विवाह और प्रेम, नारी और पुरुष सम्बन्धों की विभिन्न दशाओं में परिणति तथा सामाजिक परिवेश से सम्बन्ध रखना है । प्रेमचन्द ने अपने कथा साहित्य में सामाजिक एवं राजनीतिक संदर्भों की विस्तार से व्याख्या की थी । मनोजगत् के सूक्ष्म स्तरों का अवगाहन उनका क्षेत्र नहीं था । जैनेन्द्र ने 'परख' से 'दशार्क' तक सभी उपन्यासों में मनोजगत् का परत-दर-परत का विश्लेषण प्रस्तुत कर कथा-कहानी को घटना वर्णन से हटाकर घटना के घटित होने के कारण तक पहुँचाया । घटना की व्याख्या के साथ व्यंजना वृत्ति से उसके गुह्य स्तरों की छानबीन के लिए पाठक को भी प्रेरित किया । चूँकि जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की केन्द्रीय संवेदना प्रेम है अतः प्रेम के कार्य कारण सम्बन्धों की व्याख्या में उनका मन स्वभावतः रमता है । प्रेम की व्याख्या या परिभाषा देने में जैनेन्द्र ने अपने दार्शनिक चिन्तन को छोड़ा नहीं है । कहीं प्रभु प्रेम को सत्य मानकर और सब प्रकार के प्रेम को उन्होंने मागा ठहराया है । प्रेम भक्ति से सार्थक होता है, भक्ति बनकर वह निर्वेयक्तिक हो जाता है । उससे नर में नारायण भाव पैदा होता है । 'अनामस्वामी' शीर्षक उपन्यास में प्रेम और काम का भिन्न दृष्टिकोण से जैनेन्द्र ने निरूपण किया है । 'काम प्रेम के बिना हो तक नहीं सकता । असल पुरुषार्थ है प्रेम, उसी के कारण काम भी पुरुषार्थ है तो इसलिए कि उसमें का प्रेम रह जाय, रति कट जाए । स्व-रति नीचे से सच-मुच कट जाती है तो काया कर्षण दिव्य हो जाता है । जैनेन्द्र ने प्रेम के परिपाक के लिए विरह को स्वीकार किया है । उन्होंने लिखा है प्रेम विरह में फलता है मिलन में सूखता है । काम और प्रेम के साथ दाम्पत्य या विवाह के विषय में जैनेन्द्र ने बड़ी उलझन भरी ऊहापोह की है । जैनेन्द्र के लिए विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं व्यवस्था का प्रश्न है । यह प्रश्न क्या यों टाले टल

सकता है ? यह गाँठ है कि जो बँधी कि खुल नहीं सकती, टूटे तो टूट भले ही जाय, लेकिन टूटना कब किसका श्रेयस्कर है ? इसी संदर्भ में भिन्न दृष्टिकोण से भी उन्होंने विवाह और प्रेम पर विचार व्यक्त किये हैं। 'जयवर्धन' में विवाह की व्याख्या है—"विवाह यों प्रतिज्ञा है, पर सच कहिए, सामयिक सुविधा से वह अधिक है। प्रेम तो उसमें साथ देता नहीं। प्रेम मुक्त है, विवाह आबद्ध है। अंत में विवाह बस निर्वाह ही रहता है। ईर्ष्या से बाँधे तभी बँधा रहता है।" अनाम स्वामी में विवाह की बात दूसरे ढंग से प्रस्तुत की गई है। 'प्रेम पवित्र है और विवाह अनावश्यक है। किसी को विवाहित बनाना बंदी बनाना है। विवाह से व्यक्तित्व का और स्वातंत्र्य का अपहरण होता है।' विवाह को कोल्हू मानकर चलने से विवाह पर दायित्व का बोझ भर लाद देता है। कोल्हू जिसमें आदमी पिसता है, पीसता है और किसी बड़े काम के लायक नहीं रहता। जैनेन्द्र ने अपने 'अनंतर' उपन्यास में प्रेम को एक खुले मंच पर अवस्थित कर उसे विवाहेतर सम्बन्धों से जोड़ा है। यहीं से पत्नी और प्रेयसी का प्रश्न उभरता है। यह प्रश्न संवाद का विषय न बनता यदि जैनेन्द्र इसे विवादों के झमेले से बाहर निकाल कर खुली चर्चा न बनाते। नयी-पुरानी पीढ़ियों के बीच पत्नी और प्रेयसी का प्रश्न द्वन्द्वात्मक शैली से संघर्ष कर रहा था। प्रेयसी को मर्यादा की सीमा में कोई स्थान नहीं था, फिर भी समाज में प्रेयसियाँ थी और अपने प्रेमियों के साथ मजे से मौज कर रहीं थी। जैनेन्द्र ने उन्हें स्वीकारा, पुचकारा और समाज की मर्यादा में स्थापित करना चाहा। इस प्रयत्न में जैनेन्द्र ने नैतिकता को नहीं छोड़ा, उनके तर्क प्रेयसी के पक्ष में बने रहे और उस सत्य की ओर इंगित करते रहे जो वड़े वृक्ष के साथ चतुर लोगों द्वारा छिपाया जा रहा था।

जैनेन्द्र ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की चर्चा अपने उपन्यासों में कई बार कई तरीकों से की है। 'परख' उपन्यास से ही यह प्रश्न उनके सामने महत्व का रहा है। स्त्री के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में पच्चीस वर्ष के युवा जैनेन्द्र के मत से स्त्री की स्थिति दयनीय नहीं है। वे लिखते हैं—'बात वास्तव में यह है कि पुरुष काम बनाता है या बिगाड़ता है। इसी तरह पुरुष कुछ नहीं बिगाड़ता, जो कुछ बनाती बिगाड़ती है स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को-कुटुम्ब को बनाती है, जाति और देश को भी, मैं कहता हूँ स्त्री ही बनाती है। फिर इन्हें बिगाड़ती भी वही है। आनन्द भी वही है और कलह भी, हराव भी और उजाड़ भी, दूध भी और खून भी, रोटी भी और स्कीमें भी और फिर अपनी मरम्मत और श्रेष्ठता भी—सब कुछ स्त्री ही बनाती है। धर्म स्त्री पर टिका है, सभ्यता स्त्री पर निर्भर है, और फैशन की जड़ भी वही है। एक शब्द में कहो, दुनिया स्त्री पर टिकी है।" स्त्री के सम्बन्ध में जैनेन्द्र के ये विचार किसी सामाजिक दबाव से नहीं, आभ्यन्तर प्रेरणा और अनुभव से अनुस्यूत हैं। इनमें अतिशयोक्ति की झलक भले ही हो किन्तु स्त्री के प्रभाव को इनमें पूरी तरह देखा जा सकता है। स्त्री के सम्बन्ध में जैनेन्द्र ने इतना अधिक लिखा है कि यदि उसका संकलन किया जाय तो पूरा एक ग्रंथ स्त्री-महिमा और त्रिया-चरित पर तैयार हो सकता है। स्त्री को व्यक्ति और समाज के स्तर पर देखना और पूरी संवेदना के साथ उसे निरूपित करना एक कठिन कार्य है। जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-साहित्य में पहली बार इस जोखिम भरे कठिन कार्य को हाथ में लिया और पूरी सतर्कता के साथ उसका निर्वाह किया।

जैनेन्द्र कुमार को कुछ समीक्षकों ने उनकी आस्तिक विचारधारा और सत्य-अहिंसा पर आस्था के कारण गाँधीवादी विचारक ठहरा दिया था। जैनेन्द्र ने अपने लेखों और भाषणों

में स्वयं को गाँधीवादी न होने की बात अनेक बार कही। उनका कहना था कि मैं किसी वाद विशेष से प्रतिवद्ध होकर चल ही नहीं सकता। गाँधी मुझे प्रिय हैं किन्तु मैं गाँधीवादी नहीं हूँ। सत्य पर मेरी आस्था है, अहिंसा में मेरा अटूट विश्वास है किन्तु मेरा सत्य और मेरी अहिंसा, गाँधी का सत्य और गाँधी की अहिंसा नहीं है।

जैनेन्द्र ने जीवन का लक्ष्य जिज्ञासा को जीवित रखना माना है। जिज्ञासा यदि जीवित होकर कुछ सोचने, जानने, खोजने की प्रेरणा न दे तो मनुष्य का संसार सूना हो जाता है। जैनेन्द्र ने अपने विचारात्मक ग्रंथों में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न पर गंभीर विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनमें अहिंसा के मूल उत्स पर विचार करते हुए उसे किसी घातक प्रहार या दंश से नहीं जोड़ा है। हिंसा तो मन और वचन से भी होती है, कर्म तो तीसरी कोटि में आता है। जैनेन्द्र के विवेचन में अहिंसा के लिए व्यक्ति को सम्पूर्ण समर्पण के साथ निरीह बनना होता है। प्रतिशोध शून्य प्रतिकारहीन मनःस्थिति में अविचल भाव से स्थित होकर परिस्थिति से जूझना अहिंसा की शर्त है। मन दोलायमान न हो, शान्त और स्वस्थ रहे तभी अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा संभव है। जैनेन्द्र की अहिंसा किसी शास्त्र की परिभाषा में नहीं बँधती। अहिंसा को जैनेन्द्र ने दार्शनिक स्तर पर प्रतिष्ठित कर उसकी व्याख्या की है, इसलिए हम उसे गाँधी की अहिंसा नहीं कह सकते।

जैनेन्द्र को हिन्दी साहित्य में कथा शिल्पी साहित्यकार के रूप में जाना जाता है। कथा के क्षेत्र में नवयुग का प्रवर्तन करने के कारण सामान्य पाठक का ध्यान उनके कथाकार रूप पर ही अधिक जाता है किन्तु जैनेन्द्र मूलतः उच्चकोटि के विचारक और चिन्तक हैं। विचारक के रूप में यदि उन्हें किसी तुलना के लिए परखा जाय तो स्वतंत्रचेता दार्शनिक सुकरात के अधिक समीप ठहरते हैं। सुकरात ने अपने युग की जड़ मान्तताओं को स्वीकार नहीं किया, आत्मा की आवाज को सुनकर उसे सर्वोच्च स्थान दिया। जैनेन्द्र के चिन्तन में सुकरात जैसी मौलिक सूझ-बूझ की चेतना लक्षित की जा सकती है। जैनेन्द्र का दार्शनिक चिन्तन किसी भारतीय दर्शन की परम्परा में नहीं है। शंकर और रामानुज जैसे दार्शनिकों को उन्होंने शास्त्र के माध्यम से नहीं जाना, गौतमबुद्ध और महावीर स्वामी के मन्तव्यों को उन्होंने परम्परा और आभ्यन्तर प्रेरणा से पहचाना अवश्य किन्तु इनका अनुवर्त्तन नहीं किया। जैनेन्द्र आस्तिक थे किन्तु उनकी आस्तिक भावना किसी मूढ़ाग्रह पर टिकी नहीं थी। जगत् की सर्वश्रेष्ठ रचना मनुष्य के ऊपर भी किसी सार्वभौम शक्ति का शासन है और वही सत्ता सर्वान्तिर्यामी बनकर संसार में व्याप्त है। कर्मकांड या बाह्य पूजा-पाठ से उस सत्ता के साथ तादात्म्य संभव नहीं, अतः मत-मतान्तरों के क्रिया कलाप जैनेन्द्र के लिए कभी आकर्षण का विषय नहीं बन सके। जैनेन्द्र की आस्तिक-आस्था का केन्द्र उनकी अपनी सीमाओं के बोध के साथ अनन्त-असीम शक्ति सम्पन्न किसी अदृश्य सत्ता में अटूट विश्वास था। उस सत्ता के स्वरूप विवेचन की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। जैन-परिवार में जन्म लेने पर भी जैन दर्शन को उन्होंने आँख मूंदकर कभी स्वीकार नहीं किया। जहाँ तक मेरी जानकारी है, जैनेन्द्र ने कभी शास्त्र निवद्ध पारम्परिक दर्शन ग्रंथों का पारायण नहीं किया था। अपने मौलिक चिन्तन को ही वे सदा अपने वैचारिक क्षेत्र में प्रमुख स्थान देते रहे। उनके कथा-साहित्य में यह मौलिक दार्शनिक मन्तव्य स्थान-स्थान पर उभरते रहे हैं। कथा सूत्र के टूटने की उन्हें चिन्ता नहीं रही, हाँ, विचार-सूत्र अवश्य गहन होता रहा है।

जैनेन्द्र ने अपने वैचारिक लेखन में व्यक्तिमन और समष्टिमन दोनों को स्थान दिया है।

समष्टिमन को विवृत करके के लिए उन्होंने अनेक लेख-निबंध तथा प्रश्नोत्तर शैली से विशाल काव्य ग्रंथ लिखे हैं। उनके विचार-साहित्य को यदि पूरी पकड़ के साथ टटोला जाय तो कहना न होगा कि हिन्दी साहित्य जगत् में कोई दूसरा लेखक उनके समकक्ष नहीं ठहरता। 'समय और हम' शीर्षक ग्रंथ के प्रश्नकर्ता श्री वीरेन्द्र कुमार गुप्त ने दार्शनिक जैनेन्द्र की चर्चा करते हुए लिखा है "अपने कृतिकार जीवन के आरंभ से ही जैनेन्द्र जी उन सत्यों की प्रेरणा से लिखते हैं जिनका साक्षात्कार उन्होंने अपनी बुद्धि से नहीं, अपनी सम्बुद्धि से, अन्तर के गहनतम में किया है। जैसे-जैसे यह सत्य-साक्षात्कार स्पष्ट, परिष्कृत, सम्पूर्ण होता गया, उनका विचारक रूप निखरता गया, और साथ ही उनका कथाकार उन्हीं की अपनी दृष्टि में गौण होता गया।" जैनेन्द्र का विभिन्न तत्वों का विश्लेषण मात्र परम्परागत या अकादमीय न होकर, सर्वथा मौलिक एवं अकाव्य है। यह हो सकता है कि उनके विचार जटिल और दुर्बोध होने के साथ कुछ अटपटे, अव्यावहारिक, असाधारण और तर्कातीत प्रतीत हों किन्तु यदि उनकी गूढ़ता और गंभीरता पर गहरे उतर कर विचार किया जाय तो उनमें वैचारिक सत्य के साथ तत्व चिन्ता की पकड़ मिलेगी। जैनेन्द्र ने अहं का विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए इस विषय को बड़े व्यापक आयाम पर अवस्थित किया है। अहं केवल व्यक्ति का ही नहीं होता, समूह का संगठित अहं होता है। राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद आदि ऐसे ही संश्लिष्ट, संगठित अहं हैं। इसीलिए आज के आतंकवाद और संत्रास का जुम्मेवर वे विज्ञान को नहीं, अहं के निषेधात्मक रुख को मानते हैं। अहं को इस व्यापक रूप में देखना और उसके घातक प्रभाव का निरूपण जैनेन्द्र-विचार धारा की महत्त्वपूर्ण देन है। अहं का व्यक्तिपरक विगलन ही मानव जाति के लिए कल्याणकारी नहीं है। सामूहिक अहं (राष्ट्रवाद) का विगलन करके ही हम विश्व शान्ति, सौमनस्य और सौहार्द का वातावरण बना सकते हैं।

जैनेन्द्र ने अपने अनेक ग्रंथों में भौतिक विज्ञान, राष्ट्रवाद, समाजवाद, साम्यवाद, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, पूंजीवाद, समाजवाद आदि पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। राष्ट्रवाद का जैनेन्द्र ने विचार के धरातल पर समर्थन नहीं किया। समाजवाद को शोषणमुक्त समाज की व्यवस्था के रूप में स्वीकार तो किया है किन्तु सामान्य आवश्यकताओं की सुलभता तक उसे सीमित नहीं माना है। पूंजीवाद के विषय में भी जैनेन्द्र का चिन्तन आज के समाज शास्त्रियों से भिन्न है। पूंजीवाद व्यक्ति के स्वार्थ से सम्भूत एक एकांगी जीवन-पद्धति है जो परिग्रह पर आश्रित है। परिग्रह समाज की कल्याण कामना को छोड़कर आतम-सुख का प्रेरक बनता है अतः संतों ने इसे त्याज्य ठहराया है। जैनेन्द्र ने अपने चारों तरफ परिग्रह को कभी पनपने नहीं दिया। अपरिग्रह उन्हें काम्य था और वे सदैव इसके पक्ष में अपना मत व्यक्त करते रहे। धन-सम्पत्ति की अनिवार्यता और उपयोगिता का निषेध न करने पर भी इसे भीतर से संग्रहणीय वे कभी नहीं मान सके। सिद्धान्त रूप में अपरिग्रह विश्व शान्ति के लिए आवश्यक है।

विश्व की संस्कृति और सभ्यता आज संकट में है। अणु-आयुधों की विनाशकारी तैयारी और संत्रास की भीषण विभीषिका में डूबे हुए विश्व को आज जिस वैश्विक चेतना की आवश्यकता है वह कहीं लुप्त नहीं हुई है। मानव के पार्श्व में यह चेतना उसके सुख-संतोष के लिए चक्कर काट रही है किन्तु मोहान्ध मानव उसे देख नहीं पा रहा है। युद्ध, वैमनस्य, द्वेष, संत्रास और भय के वातावरण में विश्व के अधिकांश देश आत्मरक्षा के उपाय खोज रहे हैं। जैनेन्द्र ने इस समस्या पर कई रूपों में विचार किया है। मानव की पारस्परिकता को विश्व शान्ति के लिए

केन्द्र में रखकर वर्ग भेदहीन समाज की कल्पना करना तो सरल है किन्तु उसको चरितार्थ करना उतना ही कठिन भी है। जैनेन्द्र ने 'समय, समस्या और सिद्धान्त' शीर्षक ग्रंथ में प्रश्नोत्तर शैली में इस विषय पर विचार व्यक्त किये हैं, और उनकी मान्यता है प्रत्येक धर्म, प्रत्येक जाति और प्रत्येक राष्ट्र अहंकार की भावना से मुक्त होकर पारस्परिकता से आचरण करने लगे तो द्वेष और आतंक की विभीषिका से संसार मुक्त हो सकता है। शोषण मुक्त समाज की स्थापना के लिए मानवीय पारस्परिकता मूल्यों की आवश्यकता है।

'समय और हम' शीर्षक ग्रंथ में ४५० प्रश्नों के उत्तर हैं। उनमें शायद ही कोई ऐसा विषय हो जो विवेचन के स्तर ग्रहण न किया गया हो। 'समय समस्या और सिद्धान्त' में ६०० पृष्ठों में उन सभी प्रश्नों को सामने रखा गया है जो ईश्वर, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि आध्यात्मिक जिज्ञासाओं के साथ व्यक्तिमन, समाज, राष्ट्र, जनकल्याण, आदि पर प्रकाश डालते हैं। जैनेन्द्र की दो दर्जन निबंध और लेख आदि संकलित कृतियाँ हैं जिनमें उन सभी प्रश्नों पर विचार किया गया है जो सामयिक समस्याओं के साथ शाश्वत जीवन मूल्यों से सम्बन्ध रखती हैं। शिक्षा साहित्य, संस्कृति, दर्शन, इतिहास, व्यवस्था राजनीति, राजतंत्र, राज्य कान्ति, राज्य शासन, लोकचेतना, लोकतंत्र, वर्ग चेतना, विवाह, विवाहेतरकामसम्बन्ध, भाषा और भाषावाद, अहिंसा, असहयोग, अपरिग्रह, आध्यात्मिक चेतना, आत्मा-परमात्मा, अर्थतंत्र, ईश्वर-ईश्वरीय नियम, कृषि-उत्पादन, ग्राम स्वराज्य, गाँधी, जीवनमूल्य, धर्मनीति, निःशस्त्रीकरण, परमार्थ, पंथ-सम्प्रदाय, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म, पब्लिक सेक्टर, आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका कोई सीमित दायरा नहीं है। जिज्ञासु मन में जितने प्रश्न उठते हैं उन सबको समेटकर जैनेन्द्र जी ने उत्तर दियेहैं। इन प्रश्नोत्तरों को पढ़कर विस्मय होता है कि जैनेन्द्र का बौद्धिक विमर्श इतना व्यापक और विस्तृत कैसे बन पाया था। दादा धर्माधिकारी ने जैनेन्द्र की प्रतिभा को वर्नाडशा और टॉलस्टॉय के समकक्ष माना है। दूसरे समीक्षकों ने वर्टेण्डरसेल से इनकी तुलना की है। वस्तुतः विचारक जैनेन्द्र की प्रतिभा का सही मूल्यांकन करना सरल काम नहीं है। अतीत, वर्तमान और अनागत को हस्तामलक के रूप में देखने वाले जैनेन्द्र न तो योगी थे और न स्वप्नदर्शी साहित्यकार। वे तो एक साधारण मानव थे जिन्हें निसर्ग से असाधारण प्रतिभा का वरदान प्राप्त था। उन्होंने आरंभ में कथा साहित्य को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। बाद में चिन्तन के स्तर पर उन सभी जिज्ञासाओं के समाधान खोजे और उनके उत्तरों में अपनी मौलिक शैली को स्थान दिया। जैनेन्द्र का वैचारिक क्षितिज विस्तार-सीमा का अतिक्रमण करता है।

जैनेन्द्र कुमार के साहित्य का मर्म उनके विचार-दर्शन में खोजा जाना चाहिए। मैं नहीं समझता कि कोई ऐसा प्रश्न या कोई ऐसी जिज्ञासा होगी जो जैनेन्द्र के चिन्तन में स्थान न पा सकी हो। उनके उपन्यासों और कहानियों में भी वैचारिक क्षितिज का विस्तार देखा जा सकता है। 'परख' की कहानी युवा जैनेन्द्र की, सुनीता, कल्याणी और 'त्यागपत्र' दार्शनिक जैनेन्द्र की, 'मुक्तबोध', 'जयवर्धन', 'विवर्त', 'व्यतीत' और 'अनाम स्वामी' प्रौढ़ जैनेन्द्र की तथा 'दशार्क' जैनेन्द्र की प्रौढ़ि प्राप्त वय की रचना है। जैनेन्द्र ने लगभग साठ वर्ष तक साहित्य सृजन किया। इन साठ वर्षों में सैकड़ों कहानियाँ, एक दर्जन उपन्यास और तीन दर्जन वैचारिक निबंध लेख और प्रश्नोत्तर विषयक ग्रंथों का उन्होंने प्रणयन किया। उनका विपुल साहित्य इस सदी के श्रेष्ठतम साहित्य में परिगणित होगा, इसमें सन्देह का अवकाश नहीं है। कथा शिल्पी जैनेन्द्र, विचारक जैनेन्द्र, तत्त्व चिन्तक दार्शनिक जैनेन्द्र, भारतीय मनीषा के जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति सदैव साहित्याकाश में चमकते रहेंगे।

स्मृतियाँ

□ हिमांशु जोशी

बचपन में एक कहानी पढ़ी थी—'जान्ह्वी !' बहुत अच्छी लगी थी—'कागा चुन-चुन खाइयो···मोहे पिया मिलन की आश···।' ऐसा ही कोई गीत था, जिसे जान्ह्वी छत पर कौवों को उड़ाते हुए गुनगुनाती थी !

पता नहीं क्यों, मुझे लगता था, मैंने जान्ह्वी को देखा है। मैंने जान्ह्वी को गुनगुनाते सुना है। मैं जान्ह्वी को जानता हूँ···।

नैनी झील। किनारे हरी-हरी ठंडी दूब। मजनू के वृक्षों की जल पर झुकी कमनीय घटाएँ। हम कई छात्र मल्लीताल के किसी बुक डिपो से पाठ्यक्रम की कुछ नई पुस्तकें खरीद कर लाए थे ! सब अपनी-अपनी पुस्तकें पलट ही रहे थे कि वहीं बैठे-बैठे मैंने यह कहानी पूरी पढ़ डाली थी।

छात्रावास में आकर फिर पढ़ी।

और फिर न जाने कितनी बार पढ़ी !

वर्षों बाद !

मैं अपने को दिल्ली में पाता हूँ। दरियागंज, स्थित फैज बाजार से गुजर रहा होता हूँ। 'ऋषि भवन' की सीढ़ियों के पास एक तख्ती लगी दीखती है—जैनेन्द्र कुमार !

मेरे पाँव अपने आप सीढ़ियाँ चढ़ने लगते हैं।

सीढ़ियाँ समाप्त होते ही दरवाजा है। खुला है। कोई किताबों का जैसा कार्यालय लगता है। कमरे में जगह-जगह नई पुस्तकें बिखरी हैं।

मैं भीतर जाता हूँ।

जैनेन्द्रजी तख्त पर बैठे हैं। हल्की-सी चादर ओढ़े कुछ पढ़ रहे हैं। नीला-नीला कमरा। नीले पर्दे। सोफे की गद्दियाँ भी हल्के नीले रंग की। मुझे याद आ रहा है, वह सोफा जो ३५ वर्ष पूर्व मैंने १९५४ में देखा था, आज भी उनकी बैठक में पड़ा, अपना बुढ़पा बिता रहा है।

जैनेन्द्रजी हर प्रश्न का उत्तर बड़ी गम्भीरता से देते हैं।

—साहित्य रोटी नहीं देता।

—मैं तो आस्तिक हूँ। मानता हूँ, कर्त्ता कोई और है। इस कारण बहुत से झंझटों से मुक्त हो गया हूँ। पर प्रेमचंद जी ऐसा नहीं सोचते थे···।

—दुनिया से व्यक्ति को मुक्ति मिल सकती है, पर अपने से नहीं ! अहं का विसर्जन ही मुक्ति का मार्ग है…।

लौटता हूँ तो मन में कहीं अच्छा लगता है।

सरल।

आत्मीय !

कहीं कोई बनावट नहीं।

इसके पश्चात जैनेन्द्र जी से कई बार मिला। हज़ारों बार—गत पेंतीस वर्षों में। परन्तु उन्हें सदैव वैसा ही अकृत्रिम पाया ! निपट मानव !

साहित्य में उनकी मान्यताएँ कुछ अलग रहीं। सोच भी किंचित भिन्न थी। जैनेन्द्र की अपेक्षा मैंने अपने को प्रेमचंद की परम्परा के अधिक निकट पाया। कई बार बहसें भी उनसे कर लेते थे। परन्तु यह उनकी उदारता ही नहीं, महानता भी थी, कि उन्होंने सदैव हमें स्नेह दिया। एक पारिवारिक आत्मीयता ! बुजुर्गों का बड़प्पन !

उन्हें गए आज दस दिन हो गए। पर मुझे लगता है, जैसे वे गए नहीं, अभी यहीं हैं। अभी-अभी प्रदीप का फोन आएगा ! बातों के अंत में 'मौसम का हाल' की तरह यह भी बतलाएगा कि बाबूजी का स्वास्थ्य वैसा ही चल रहा है। परसों ही मेडीकल इन्स्टीट्यूट में चेकअप कराया…

उस दिन कुछ-कुछ अंधियारा हो आया था। भारती नगर पहुँचा तो विनीता (बाबूजी की पुत्रबधू) कुछ उदास-सी बैठी थी।

'आज चार दिन हो गए भाई साहब, बाबूजी ने कुछ खाया नहीं। दवा भी नहीं ले रहे हैं ! न खाने की जिद पकड़ बैठे हैं। हम सब लोग कोशिश कर-कर के हार गए हैं…।'

मुझे लगता है, कहीं यह विनोबा भावे का जैसा अनशन तो नहीं !—जान लेवा ! बाबू जी अपना कष्ट तो झेलते ही हैं, परन्तु अपने साथ-साथ सामने वालों की पीड़ा भी स्वयं भोगते हैं ! शायद सामने वालों के कष्ट से मुक्त होने के लिए ही उन्होंने अब यह मार्ग निकाला हो !

हम बाबूजी के कमरे में जाते हैं।

बाबूजी वैसे ही रूठे-रूठे से लेटे हैं—अकेले !

'कैसे हैं बाबूजी ?'

बाबूजी पर जैसे कोई प्रतिक्रिया नहीं !

'कुछ खाएँगे ?'

बाबूजी वैसे ही मौन ! केवल मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखते रहते हैं—निर्निमेष! बोल तो पाते नहीं। इसलिए उनके हाव-भावों से मन की स्थिति का जायजा लेते हैं।

कुछ क्षण खड़ा रहने के पश्चात, मैं पास ही रखी कुर्सी अपनी ओर खींचता हूँ।

'देखिए न, तीन-चार दिन हो गए, बिना खाए…!' विनीता मंद स्वर में बड़बड़ाती है, जैसे स्वयं को सुना रही हो !

बाबूजी उसी स्थिर दृष्टि से देखते रहते हैं।

मुझे लगता है, उनकी आकृति में धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन-सा आ रहा है। वे विनीता की ओर देखकर हाथ से इशारा करते हैं, बोलने का किंचित प्रयास भी। पर केवल अस्फुट स्वर

सुनाई देता है। टूटा-टूटा।

हम समझ जाते हैं, बाबूजी की इस मुद्रा का अर्थ है—अरे, भाई, देख क्या रहे हो? मेहमान को कुछ खिलाओ। चाय-वाय पिलाओ!

'अभी खिलाते हैं बाबूजी! पहले आप तो कुछ खाइए न!' विनीता कहती है।

बाबूजी सिर हिला देते हैं—मना करते हुए।

उनके लिए विशेष रूप से लाए गए भूरे, गोल बिस्कुट विनीता प्लेट में रखकर मेरी ओर धीरे से बढ़ाती है!

वही प्लेट मैं बाबूजी के आगे कर देता हूँ। मेरे बार-बार आग्रह करने पर वे बिना देखे ही, यों ही अँगुलियों से अनायास छू कर बिस्कुट गिनने लगते हैं। निगाहें छत पर हैं। पर अँगुलियाँ छू-छू कर गिन रही हैं। चार होने चाहिए, पूरे चार! कम हों तो वे नाराज हो जाते हैं।

गिनने के पश्चात, किंचित आश्वस्त होते हैं—हाँ, चार ही हैं, पूरे चार!

फिर हौले से, वे उसी हाथ से (दूसरा पक्षाघात के कारण निष्क्रिय हो गया है) एक बिस्कुट मेरी ओर बढ़ाते हैं।

मैं मना कर देता हूँ, 'नहीं-नहीं! मैं नहीं खाता!'

बाबूजी के चेहरे पर एक साथ कई भाव आते हैं और ओझल हो जाते हैं!

'पहले आप खाइए बाबूजी, फिर हम लेंगे! नहीं तो हम भी नहीं खाएँगे···!' मैं कहता हूँ।

उनके हाथ में थमा बिस्कुट हाथ में ही थमा रह जाता है—हवा में काँपता हुआ। अंत में वे हार मान जाते हैं। और कुतर-कुतर कर बिस्कुट खाने लगते हैं।

विनीता का मुरझाया चेहरा खिल उठता है, 'हम तो मनाते-मनाते हार गए थे···।'

एक नहीं, पूरे दो बिस्कुट वे खा जाते हैं।—निरीह भाव से!

ऐसे ही निरीह भाव के अनेक चित्र हैं।

'पूर्वोदय के ऑफिस में दिलीप रहता है। सतीश भी। तुम भी वहीं रह जाओ, उनके साथ!'

मैं वहीं रह जाता हूँ, उनके साथ।

एक दिन चाबी मेरे पास है। कमरा बंद करके शाम को मैं व्यासजी के साथ लालकिले तक घूमने चला जाता हूँ। लगभग आधे घंटे बाद लौटता हूँ तो देखता हूँ ताला टूटा पड़ा है। कमरे से घड़ी, शॉल, कैमरा, मूर्तियाँ—सब गायब!

मैं विस्फारित नेत्रों से देखता रह जाता हूँ।

भाग-दौड़ शुरू होती है।

पुलिस में रपट दर्ज!

सुबह पुलिस अधिकारी दलबल सहित हाजिर होता है।

'यहाँ कौन-कौन रहता है?' पूछा जाता है।

उत्तर दे दिया जाता है।

अधिकारी मेरी ओर देखता हुआ पूछता है, 'आप लेखक हैं, लिखते हैं! कोई और धंधा नहीं करते?'

बाबूजी सामने खड़े हैं। देख रहे हैं। एक-दो सवाल अभी पूछे ही हैं, कि वे बोल पड़ते हैं, 'देखिए, जिस तरह आपने मेरे बेटे दिलीप से कोई प्रश्न नहीं पूछा उसी तरह आप इनसे भी कोई प्रश्न नहीं पूछेंगे ! आप इन्क्वायरी कीजिए। चोर पकड़िए। एक भले आदमी को क्यों परेशान कर रहे हैं ? यह भी कोई बात है ··।'

बाबूजी मेरे बारे में अधिक कुछ भी नहीं जानते ! मैं भला भी हो सकता हूँ और बुरा भी, क्योंकि मेरे माथे पर कुछ लिखा नहीं है। परन्तु वे समझते हैं, जानते हैं, ऐसा नहीं हो सकता।

जैनेन्द्रजी में अद्‌भुत सहिष्णुता थी। अद्‌भुत धैर्य ! साहित्य में उन्होंने कम विरोध नहीं सहा ! परन्तु मन में कभी भी कटुता को स्थान नहीं दिया।

'मनीषा' की त्रिदिवसीय कथा-गोष्ठी है। दिल्ली के प्रायः सभी कथाकार हैं। साहित्यिक खेमों में गम्भीर मोर्चाबंदी है। भीषण तनाव !

संयोजकों में रामानंद दोषी, डॉ० सुरेश अवस्थी तथा मेरा नाम है।

डॉ० सुरेश अवस्थी मित्रों का प्रतिरोध सह नहीं पाते। कहते हैं, 'मेरा नाम हटा दीजिए !'

मैं भरी गोष्ठी में घोषित करता हूँ कि अवस्थी जी अब संयोजक-मंडल में नहीं हैं।

मोहन राकेश कहलवाते हैं, 'इस सत्र की अध्यक्षता जैनेन्द्रजी करेंगे तो हम नहीं आएँगे !'

मैं गोष्ठी में घोषित करता हूँ कि जैनेन्द्रजी इस सत्र की अध्यक्षता नहीं करेंगे !

जैनेन्द्रजी सामने बैठे हैं। उनके प्रशान्त चेहरे में कहीं कोई प्रतिक्रिया नहीं। गोष्ठी बिखरे नहीं, इसलिए चुपचाप सब सह जाते हैं।

अहिंसा पर आस्था रखने वाले जैनेन्द्र जी स्वयं अपने प्रति इतने निर्मम हो सकते हैं, सच नहीं लगता।

जैनेन्द्रजी के बड़े बेटे दिलीपजी का असमय देहान्त हो गया है। युवा पुत्र। अविवाहित। जैनेन्द्रजी से बाह्य रूप में कुछ सैद्धांतिक मतभेदों के बावजूद, भीतर से कहीं, उतने ही गहरे जुड़े।

लोग संवेदना प्रकट करने आ रहे हैं।

ऐसा वज्रपात !

परन्तु जैनेन्द्रजी स्थितिप्रज्ञ की तरह बैठे हैं, जैसे कुछ हुआ ही नहीं दिलीपजी के अलावा दुनिया जहान की बातें हो रही हैं।

इतना गहरा आघात कोई पिता इतने सहज रूप में सह सकता है, सच नहीं लगता।

जैनेन्द्रजी शतरंज खेल रहे हैं।

'बाबूजी, दिलीप जी के जाने पर आपको दुःख नहीं हुआ ?

देर तक सोचने के बाद बाबूजी कहते है, 'दुख हुआ है, इसीलिए तो दुख प्रकट नहीं होता !'

और वे फिर शतरंज की बाजी में अपने को खोने का प्रयास करते हैं।

दिलीपजी की ऊनी बण्डी पहने रोज सुबह घूमने निकल जाते हैं।

सारी बातें सहज रूप से लेने की, उनमें विलक्षण क्षमता रही।

इस बार बहुत लम्बे अर्से बाद ७/३६, दरियागंज जाता हूँ। अपनी नन्हीं-सी कोठरी में, जिसे बैठक भी कह सकते हैं, जिसमें खराद की विषैली धूल उड़-उड़ कर आ रही है— जनेन्द्रजी बैठे हैं। सामने एक आगंतुक हैं। उनके हाथ में एक छपा हुआ कार्ड है। यमुना पार किसी बस्ती में कोई सांस्कृतिक समारोह आयोजित कर रहे हैं, जिसकी अध्यक्षता जैनेन्द्रजी को करनी है।

वे सज्जन कह रहे हैं, 'सारी व्यवस्था हो गई है। पंडाल बना लिया है! कल शाम छह बजे हमारा एक कार्यकर्ता आएगा! उसके पास अपना स्कूटर है, उसमें बिठला कर आपको ले आएगा···।'

जैनेन्द्रजी उसी दार्शनिक मुद्रा में देख रहे हैं। चुप हैं।

दो पहिए स्कूटर वाली बात सुनकर किंचित अटपटा-सा लगता है।

'कैसे ले जाएँगे—?'

'क्यों, अभी कहा न, स्कूटर है, हमारे साथी के पास, वह ले जाएगा!' वे उत्तर देते हैं।

मैं और भी संयत होकर, शान्त भाव से पूछता हूँ, 'कुल कितना खर्चा आ रहा है, समारोह में?'

'यही कोई ३८ हजार तक···।'

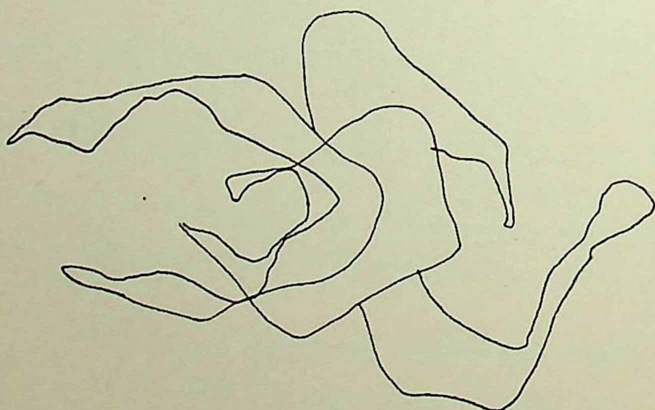
यह सुनते ही मुझे तनिक आवेश-सा आता है, अपने सांस्कृतिक समारोह में आप इत्ता सारा खर्च कर रहे हैं, और ७८ साल के वयोवृद्ध जैनेन्द्रजी को दो पहिया स्कूटर पर ले जाने की बात कर रहे हैं—अध्यक्षता कराने! एक नेता को बुलाते तो कार की व्यवस्था करते! आप समझते क्या हैं लेखक को—यतीम! भिखारी!'

जैनेन्द्रजी सन्न रह जाते हैं।

वह आदमी इस विस्फोट से घबरा जाता है, 'नहीं, नहीं गाड़ी लेकर मैं खुद आऊँगा···' कहता हुआ वह खिसियाता चला जाता है।

'बाबूजी, आप भी···।' मैं उसी रौ में हूँ, 'सवाल आपका नहीं है। स्कूटर का भी नहीं है। सवाल है—हमारे समाज में लेखक की स्थिति क्या यही है···!'

'अरे, भाई समाज-वमाज दो दिन में तो बदलता नहीं···बदलते-बदलते भी वक्त लग जाता है न! उसे समझ ही होती तो ऐसा कहता!'



प्रेमचंद के पत्र जैनेन्द्र के नाम

□ कमलकिशोर गोयनका

प्रेमचंद के जैनेन्द्र के नाम लिखे छः पत्र यहाँ प्रस्तुत हैं। ये पत्र दोनों लेखकों के आत्मिक सम्बन्धों की कहानी कहते हैं। प्रेमचंद और जैनेन्द्र में आयु का बड़ा अन्तर था; एक स्थापित लेखक थे और दूसरा एकदम युवा लेखक, जिसकी छुटपुट चीजें छपी ही थीं। प्रेमचंद को जैनेन्द्र में प्रतिभा दिखी और उन्होंने जैनेन्द्र को अपना सबसे प्रिय युवा लेखक बना लिया। ये पत्र दोनों के घनिष्ठ सम्बन्धों की एक झलक देते हैं—जीवन के सुख-दुःख से लेकर साहित्य की गतिविधियों में दोनों साथ-साथ चलते प्रतीत होते हैं, यद्यपि दोनों की लेखन-शैली भिन्न-दिशाओं की ओर उन्मुख थी।

(१)

सरस्वती प्रेस
२५ नवम्बर, १९३०

प्रिय मित्रवर,

वन्दे।

पत्र मिला। सच्चा आनन्द हुआ। 'परख' मैंने पढ़ लिया था और पढ़कर मुग्ध हो गया था। इसकी आलोचना दिसम्बर के 'हंस' में कर रहा हूँ, जो विशेषांक होगा। 'परख' के चारों चित्र—सत्य, कट्टो, बिहारी और गरिमा—खूब हुए हैं। सत्य का गम्भीर, मानसिक संग्राम। बिहारी का उससे भी पवित्र किन्तु सरल और विनोदमय लगा। कट्टो तो देवी है। आपकी शैली और चरित्र प्रदर्शन का ढँग मुझे बहुत पसन्द आया। मैंने 'सरस्वती' वाली आलोचना नहीं देखी, लेकिन आपके उपन्यास की तारीफ़ तो उन्हें करना ही चाहिए था। मैं ऐसी रचना पर आपको बधाई देता हूँ।

अन्य प्रकाशकों की स्थिति इस समय अच्छी नहीं है। मौलिक उपन्यास तो कई अच्छे निकले हैं। प्रसाद जी का 'कंकाल', उग्र जी का 'शराबी', वृन्दावनलाल वर्मा का 'गढ़कुण्डार'। 'गढ़कुण्डार' तो रोमान्स है, पर, 'कंकाल' बहुत ही सुन्दर है, लेकिन मौलिक उपन्यासों को छोड़-कर अनुवादों का बाजार ठंडा पड़ा है। 'मैग्डलीन' खुद अपने प्रेस में छपवाने का इरादा कर

रहा हूँ। आजकल मेरा 'ग़बन' छप रहा है, वह निकल जाय तो इसे शुरू करूँ।

'हंस' के छः अंक निकल चुके हैं। सितम्बर और अक्तूबर में प्रेस और पत्रिका जमानत माँगे जाने के कारण बन्द पड़े रहे। प्रेस के आर्डिनेन्स उठ जाने पर फिर निकले हैं।

मेरी पत्नी जी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गईं। कल फैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था, पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया।

और क्या लिखूं? मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आप गुजरात में स्वास्थ और प्रसन्न हैं। हम लोग भी अच्छी तरह हैं। एक बार फिर 'परख के लिए बधाई लीजिए। हिन्दी उपन्यास अब चेतेगा, इसमें संदेह नहीं। एक साल के अन्दर 'कंकाल', 'परख' 'गढ़कुण्डार', 'शरावी' जैसी पुस्तकें निकल चुकीं—यह भविष्य के लिए शुभ लक्षण हैं। न जाने आपसे कब मुलाकात होगी। मालूम होता है, युग बीत गया।

भवदीय

धनपतराय

(२)

नवलकिशोर प्रेस,
प्रकाशन विभाग, लखनऊ
१७ दिसम्बर, १९३०

प्रिय जैनेन्द्र जी,

वन्दे।

पत्र मिला। वाह! आपने कहानी लिख दी होती तो क्या पूछता। मैंने तो इस वजह से नहीं कहा था कि आपको कष्ट पर कष्ट क्या दूँ? अभी तक समय है, हालांकि छपाई शुरू हो गयी है, पर आपकी कहानी मिल जाती तो आखिर वक्त भी दे देता। क्या अब भी मुश्किल है?

'परख' की आलोचना मैं 'माधुरी' या 'हंस' में करूँगा। मेरे पास दो प्रतियों में से एक भी नहीं बची। एक तो जेल भेज दी थी, दूसरी एक महिला ले गयीं और अभी तक लौटा रही हैं। इसलिए उसका असर जो दिल पर पड़ा था, वही लिखूंगा। 'गढ़कुण्डार' तो नई चीज़ है, मगर मेरा मन उसके पढ़ने में न लगा। दो-एक चरित्रों का चित्रण उसमें अच्छा हुआ है। उसकी अलोचना भी करूँगा।

'ग़बन' अभी तैयार नहीं हुआ। तीन सौ पृष्ठ छप चुके हैं। अभी एक सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली निभाये जाता हूँ। कथा को बीच में शुरू करना या इस तरह शुरू करना कि उसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाये मेरे लिए मुश्किल है। पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूंगा, पर इस तरह जिस तरह पड़ा हुआ धन मिल जाय। आप या प्रसाद जी पा जायें तो मुझे समान

हर्ष होगा । आपकी ज्यादा ज़रूरत है, इसलिए ज्यादा खुश हूँगा ।

पुत्र मुबारक । ईश्वर चिरायु करे । या यों कहूँ ! चिरायु हो । मैं तो पुराने ख़याल का आदमी हूँ । दो पुत्रों तक तो बधाई दूँगा, इसके बाद जरा सोचूँगा ।

'हंस' और 'माधुरी' दोनों ही यथास्थान भेज दी जायेंगी । 'शराबी' और 'गढ़कुण्डार' दोनों ही की एक-एक प्रति मिली थीं । वे दोनों भी मैंने पढ़कर जेल भेज दीं । अब तो उनके आने पर किताबें वापस होंगी । आख़िर आप कब तक आवेंगे ? 'माधुरी' में दो में से एक भी आलोचना के लिए नहीं आयी ।

अब आपके उस प्रश्न का जवाब कि 'परख' को मैं प्रसाद स्कूल के निकट क्यों समझता हूँ । मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता, आपने ही एक बार 'प्रसाद स्कूल' 'प्रेमचंद स्कूल' की चर्चा की थी । शैली में जरूर कुछ अन्तर है, मगर वह अन्तर कहाँ है, यह मेरी समझ में खुद नहीं आता । आपकी शैली में स्फूर्ति-सजीवता-कहीं अधिक है । चुटकियाँ, चुलबुलापन कहीं अधिक है । प्रसाद जी के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है । Realist हममें से कोई भी नहीं है । हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखता है । मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ । आपसे मिलने पर 'परख' के विषय में बातें होंगी—तब तक 'ग़बन' भी तैयार हो जायेगी

आशा है, आप प्रसन्न होंगे ।

भवदीय

धनपतराय

पी० एम०—अगर हो सका तो मैं 'शराबी', 'गढ़कुण्डार' और 'कंकाल' तीनों ही किसी तरह मँगवाकर भेजूँगा । समालोचना अवश्य कीजियेगा, 'हंस' के लिए ।

(३)

सरस्वती प्रेस,

१७ जनवरी, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

आशीर्वाद । तुम्हारे दोनों पत्र मिले । उसके दो दिन पहले मैंने एक कहानी 'भारत' के लिए लिखी थी । बड़ी मनहूस कहानी निकली । कुछ इसी तरह का उसका विषय था । बच्चा चला गया । ख़त पढ़ते ही पहले तो कलेजा सन्न हो गया, लेकिन फिर मन शान्त हो गया । यही जीवन के कड़वे अनुभव हैं । इन्हें झेले जाओ तो सब कुछ सरल हो जाता है । फिर रोयें भी तो किसके सामने ? कौन देखने वाला है ? किसी को अपना समझें क्यों ? अपना केवल इतने ही के लिए समझो कि उसके प्रति हमारे कर्त्तव्य हैं । ज्ञान-वान तो मैं जानता नहीं । ऐसे आघातों से कलेजे पर घाव लगता ही है, लेकिन लगना चाहिए नहीं । तुम रोये नहीं, इससे मेरा चित्त बहुत शान्त हुआ । तुम यहाँ होते तो तुम्हारी पीठ ठोंकता । यही तो परीक्षा के अवसर हैं ।

भगवती और माता जी को बहुत समझाया। देवियों का हृदय बहुत कोमल होता है। बच्चा उनके अंग का एक भाग-सा था। होते ही उसी के झगड़ों में लग जाती थीं। अब उन्हें कितना सूना-सूना लगता होगा। माता जी ने दुनिया के सुख-दुःख देखे हैं। उनको मैं क्या समझाऊँ, लेकिन भगवती से कहूँगा धैर्य से काम लो। बच्चे को तुमने पाला-पोसा, फिर भी वह तुमसे रूठकर चला गया। उसकी स्मृति क्या उससे कम प्यारी है ? मैं तो समझता हूँ, वह और भी प्यारा हो गया है, समझो कि अब तुम्हारी गोदी में खेल रहा है, बल्कि तुम्हारे हृदय के अन्दर है। कहीं गया नहीं, भीतर जो बैठा है, अब बाहर की गर्मी, सर्दी, रोग, व्याधि का इस पर कुछ असर न होगा। फिर क्यों रोते हो ?

चतुर्वेदी भी आये थे। दो दिन खूब बातें हुईं। प्रसाद जी से भी भेंट हुई। मैं समझता हूँ उनमें बहुत कुछ सफाई हो गयी है। कहानी के विषय में मेरी उनसे बातचीत हुई, मैंने उन्हें समझाने की चेष्टा की। वह अपनी तरफ से अड़े रहे, लेकिन उसे इधर-उधर भेजकर एक झगड़ा खड़ा करना उन्हें भी पसन्द नहीं है।

चैक से बीस रुपये भेजता हूँ। रुपये मँगवाने में डाक का समय निकल गया। अभी शिवपूजन सहाय जी घर से नहीं लौटे। आते ही कहानी ले लूंगा। सुदर्शन जी एक फ़िल्म कम्पनी में छः सौ रुपये पर नौकर हो गये।

और तो सब कुशल हैं।

तुम्हारा

धनपतराय

(४)

सरस्वती प्रेस,

१ अगस्त, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र मिला। बच्चे का हाल सुनकर चिन्ता हुई। अब तो अच्छा हो रहा होगा। इधर मैं भी स्वस्थ नहीं हूँ। लेकिन काम किये जाता हूँ।

आजकल हिन्दी में अजीव धांधली है। जिसकी पुस्तक की बुरी आलोचना कर दो वह लड़ने पर तैयार हो जाता है। इसलिए मैंने इरादा किया है कि कहानी और उपन्यासों की आलोचना करना ही छोड़ दूं। जिसकी तारीफ़ कर सकूंगा, उसकी आलोचना करूँगा, जिसकी तारीफ़ न कर सकूंगा, उसे किनारे रख दूंगा। 'सरस्वती' ने तो वह लेख छापा ही था, अब 'सुधा' और 'माधुरी भी टिप्पणियाँ करते जाते हैं।

पुस्तकों की खपत बहुत कम है। फिर भी 'अज्ञेय' जी की पुस्तकें भिजवा देना। 'हस्त-रेखा' की आलोचना अच्छी हो तो करवा देना।

बच्चा अच्छा होगा। भगवती को आशीर्वाद। बेटी अच्छी है, और सभी चले जा रहे हैं।

तुम्हारा

धनपतराय

(५)

अजन्ता सिनेटोन, परेल, बम्बई-१२
३ अगस्त, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

पत्र मिला। मैं २३ को बनारस गया था। ३१ को वापस लौटा। बेटी और उसकी माँ को लेता आया। लड़कों को प्रयाग कायस्थ पाठशाला में भरती करा दिया। तुम्हारा लेख, कहानी, अज्ञेयजी की कहानी और मेरी कहानी सब छप रही हैं।

सिनेमा के लिए कहानियाँ लिखना मुश्किल हो रहा है, लेकिन जरूरत ऐसी कहानियों की है जो खेली भी जा सकें, जो ऐक्टरों के लिए सुलभ हों। कितनी ही अच्छी कहानी हो, अगर योग्य पात्र न मिलें तो कौन खेलेगा? अद्‌भुत की जरूरत मैं नहीं समझता! मेरी दोनों कहानियाँ साधारण हैं। अगर तु‌ कोई चीज़ लिखो तो यहाँ कुछ प्रवन्ध हो सकता है। पहले सिनापसिस ही लिख भेजो। उससे कहानी के प्लाट का अन्दाजा हो जायेगा।

'जागरण' सोशलिस्ट पेपर हो गया है। काशी में बा० सम्पूर्णानन्द से जो बातें हुई उनसे मालूम हुआ कि वह एक पत्र निकालना चाहते हैं। बड़ा अच्छा है, किसी तरह निकल जाय, तो मेरे सर से बला टले। तुमने अज्ञेय जी के साथ पत्र निकालने का विचार क्यों छोड़ दिया?

मैं सकुशल हूँ।

तुम्हारा

धनपतराय

(६)

अजन्ता सिनेटोन, परेल, बम्बई-१२
२८ नवम्बर, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

इधर बहुत दिनों से तुम्हारा कोई पत्र नहीं मिला। आशा है, अब तुम स्वस्थ हो गये हो। प्रवासीलाल जी से मालूम हुआ तुम्हारी कोई कहानी 'हंस' के लिए आयी है। बड़ी खुशी हुई।

साहित्य सम्मेलन वालों ने मुझसे उपन्यास-कला पर एक लेख लिखने को कहा है, जो साहित्य परिषद् में पढ़ा जाय। मैंने तो लिख दिया, मुझे ऐसे लेखों की उपयोगिता में विश्वास नहीं। जिनमें प्रतिभा है, वे आप लिखने लगते हैं, जैसे बतख का बच्चा तैरने लगता है। जिनमें प्रतिभा नहीं, उन्हें लाख कला का उपदेश कीजिए, कुछ नहीं कर सकते।

रुद्रनारायण अग्रवाल को तो जानते हो। वही युवक जो दिल्ली में कई बार मुझसे मिलने आया था, जिसके घर एक दिन मैं न्योता खाने भी गया था। परसों उसका पत्र मिला। तपेदिक हो गया और लखनऊ के टी० बी० अस्पताल में पड़ा है। कोई सहायक नहीं, कोई हमदर्द नहीं।

ऐसे महेनती और प्रतिभा के धनी आदमी कम होंगे। 'वार एण्ड पीस', 'रिज़रेक्शन', 'वेनिटी-फ़ेयर' आदि पुस्तकों के अनुवाद कर डाले, लेकिन 'रिज़रेक्शन' के सिवा कोई पुस्तक न छपी, प्रकाशकों के पास पड़ी हुई हैं, और आज वह गरीब मर रहा है। यह है अभागे साहित्य-सेवियों का हाल।

प्रयाग में 'लेखक संघ' का विवरण तुम्हें मिला होगा। बहुत से साहित्यिक उसमें मिल गये हैं, लेकिन कोई दिमाग़ वाला आदमी अभी नहीं नज़र आता। यूँ हमारे यहाँ दिमाग वाले आदमी हैं ही कितने? तुम इस संघ में आ मिलो और ऐक्टिव इंट्रेस्ट लो तो शायद कुछ हो। मेरा नाम सभापति के लिए पेश किया गया है। मेरे जैसा सभापति जिस संस्था का हो वह क्या होगी? मैंने डॉ० भगवान दास, पं० वेंकटेश नारायण तिवारी या पं० नरेन्द्रदेव जी का नाम प्रोपोज़ किया है।

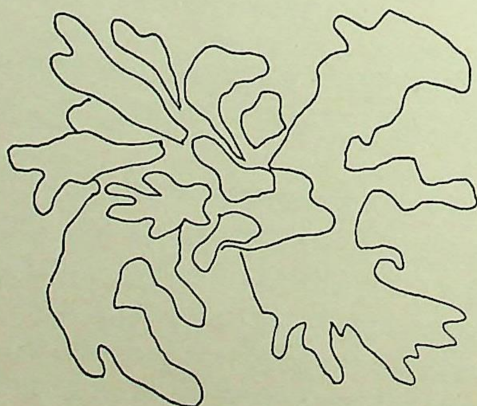
फिल्मी हाल क्या लिखूँ? 'मिल' यहाँ पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरे होते नज़र नहीं आते। ये प्रोड्यूसर जिस ढँग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उसकी लीक से ज़ौ भर भी नहीं हट सकते। वल्गैरिटी को यह लोग एंटरटेनमेन्ट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मन्त्रियों को षड्यन्त्र, नकली लड़ाई, बोसे बाज़ी यही इनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे, लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्ज़दार हो गया था। कर्ज़ा पटा दूँगा। मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाकी हैं, उधर मन ही नहीं जाता। यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूँ। वहाँ धन नहीं है, मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट कर रहा हूँ।

सेठ गोविन्ददास जी यहाँ आये हुए हैं। उनकी भी सिनेमा कम्पनी खुली है। महावीर कहाँ हैं?

और सब कुशल है।

सप्रेम,

धनपतराय



सहज, सरल, दुर्गम्य जैनेन्द्रजी

□ वीरेन्द्र जैन

बाबूजी के यहाँ काम करते दिनों तक मैंने उनकी एकाध रचना ही पढ़ी थी। जब नौकर हुआ तो चाहा कि पहले पढ़ तो लूँ अन्यथा बेचूँगा कैसे ? सो एक-एक कर उनकी रचनाएँ पढ़ डालीं। रोज ही बाबूजी पूछते, "कल क्या पढ़ा वीरेन्द्र ?" और मैं बता देता, फलां पढ़ी··· और मैं जो-जैसा समझ में आता था बता देता था।

उस दिन में 'व्यतीत' पढ़कर आया था। वही प्रश्न, मेरा उत्तर भी वही, अगला अनुच्चरित प्रश्न और इस बार मैंने जो उत्तर दिया वह अकल्पनीय था—मैंने कहा, "बाबूजी, इस उपन्यास को पढ़कर मालूम हुआ कि आप हिंदी साहित्य के देवानंद हैं ?"

बाबूजी यूँ ही देखा किए मेरी तरफ। सिर-पैर साथ ही में न आया।

"यह देवानंद कौन ?"

"एक फिल्म अभिनेता है।"

"तो···"

"बात यह है बाबूजी", मैंने रहस्योद्‌घाटन-सा करते हुए बताया, "कि प्रदीप भैया ने बताया था कि यह उपन्यास आप और आपके आसपास के जीते-जागते लोगों पर ही है। इसका जो कथानायक है यानि कि 'आप' उसके इर्दगिर्द तमाम नारी-पात्र मँडराते से दीखते हैं। ठीक ऐसी ही स्थिति हमारे पूर्व परिचित अभिनेता देवानंद की होती है फिल्मों में, कि जिस फिल्म में वह हो उसकी तमाम नारी पात्राएँ उसी के इर्द-गिर्द घूमती-सी दीखें, कहानी का ताना-बाना इस बात को ध्यान में रखकर बुना जाता है वहाँ।"

सुनकर बाबूजी हँस दिए, "बहुत खूब, वीरेंद्र !"

बात आयी-गयी हो गयी···

कुछ दिनों के अवकाश के बाद मैं काम पर आया। बाबूजी को पहले से मालूम नहीं था कि मैं आज लौट रहा हूँ सो यह सोचकर कि आज लिखवाना तो है नहीं, कहीं घूमने या मिलने-जुलने चले गये। मैं भाभी (श्रीमती जैनेन्द्र) के साथ बतिया रहा था। वे पूछ रही थीं कि कहाँ गया था, तेरी शादी हुई या नहीं, कब करेगा, कैसी लड़की चाहिए, दहेज तो नहीं चाहता वगैरह वगैरह।

इस बीच जाने कब बाबूजी आये और सीधे घर में भीतर चले गये। हमें उनका आना तब मालूम हुआ जब ऐन मेरे सामने आकर उन्होंने 'व्यतीत' की एक प्रति मुझे थमाते हुए कहा, "वीरेंद्र, तुमने विवाह में तो बुलाया नहीं, मगर बहू को मेरी ओर से यह पुस्तक दे देना।" सुन-

कर भाभी रूसीं, "तुम से किसने कहा कि वीरेंद्र का विवाह हो गया है ?" खूब तमाशा हुआ फिर तो और इस बीच मैं किताब को पलट गया । बाबूजी ने लिखा था, "वीरेंद्र की सहधर्मिणी को स्नेह के साथ" और फिर पुनश्च करके लिखा था । "यही क्यों ? क्योंकि इसे पढ़कर वीरेंद्र ने मुझे एक नया नाम दिया था—हिन्दी साहित्य का जाने तो कौन आनंद ।"

भाभी का गुस्सा शांत होने पर बाबूजी बोले, "वीरेंद्र, तब तो यह प्रति वापस करनी होगी ।" अब रूसने की बारी मेरी थी । मैंने कहा, "बाबूजी, अभी नहीं हुआ विवाह तो क्या, कभी तो होगा । मैं इसे अपने पास रख छोड़ूंगा और विवाह बाद अपनी पत्नी को देकर कहूँगा कि बाबूजी को तुम्हारे आने का दिनों से इंतजार था ।"

बाबूजी कभी गुस्साते नहीं थे और मुझे यह देखकर बेहद आश्चर्य होता था । ऐसा संभव है भला कि जीवन में कोई अवसर ऐसा आये ही नहीं, कि आदमी का दिमाग गर्माए ही न ! एक बार मैं काफी उद्विग्न-सा इधर-उधर घूम रहा था, भैया (प्रदीप जी) के प्रति एक शिकायत थी मन में मगर कहने की राह नहीं दीख रही थी, कहूँ तो किससे ? सभी तो भैया के पक्षधर । यकायक बाबूजी ने पूछा, "कोई द्वंद्व है क्या वीरेंद्र ?"

"है तो पर···" मैंने शमन का रास्ता मिलता देखा तो कहा ।

"क्या ?"

"आज आठ तारीख हो गयी, भैया बिना वेतन दिए जाने कहाँ चले गये ।"

"देते तो हैं न ?" बाबूजी ने हँसते हुए पूछा ।

"हाँ ।"

"मेरा अनुभव तो इससे उलटा है ।"

"आपका अनुभव कहाँ से होगा, आपने तो कभी नौकरी की ही···"

"की है भई ।" मेरा आशय समझ जैनेन्द्र जी ने कहा ।

"कब ? कहाँ ?"

"बहुत पहले, एक अखबार था 'महारथी' उसमें डिस्पैच क्लर्क का काम मिला था । तेईस दिन वह नौकरी चली, बाद उसके किसी प्रसंग में अखबार की जमानत जब्त हो गयी, उन्होंने हमारा हिसाब कर दिया । हिसाब का चैक लेकर बैंक जाना हुआ तो बताया गया कि खाते में रकम है ही नहीं, वह चैक यूँ ही जाकिट की जेब में रखा रहा । एक रोज अम्मा ने जाकिट धोने के लिए उठायी तो चैक देखकर हैरान । कई दिनों तक मन ही मन नाराज बनी रहीं । आखिर कह ही तो दिया एक रोज कि बेटे हरदम मुझसे रुपया-धेला लेते हो और खुद कमाया सो हमें बताया तक नहीं । मैं चाहकर भी अम्मा को सच नहीं बता सका कि उसे सुनकर तकलीफ ही बढ़ेगी ।

बाबूजी के पास अपने हर काम को उचित सिद्ध करने वाले अकाट्य तर्क हरदम मौजूद रहते थे । एक बार जब सुना कि उन्होंने अणुव्रत पुरस्कार में मिले एक लाख रुपये दान कर दिये हैं तो मैंने शिकायत की कि बाबूजी आपके पास ऐसा कौन-सा खजाना है जो इतनी बड़ी रकम दान कर दी । आपको याद है न, जब मेरे वेतन का प्रसंग आया था आपके सामने, तब आपने चाहा था कि आप मेरी मदद कर दें, बाद को जब मुझे वेतन मिलेगा तब मैं वापस कर दूँगा,

मगर तब ऐसा नहीं हो पाया था। आप चाहकर भी मेरी मदद नहीं कर पाये थे क्योंकि आपके बैंक खाते में कुल थे ही एक सौ तीस रुपये और···शिकायत सुनकर धीरे से मुस्कराए बाबूजी बोले, "तो क्या तुम यह मान बैठे हो कि मैं कोई दीन-हीन गरीब हूँ ?"

"ठीक ऐसा ही तो नहीं, मगर इतना तो मानता हूँ कि आपकी स्थिति एक लाख रुपया एक मुश्त दान करने की नहीं, यह तो साहू परिवार जैसों के लिए ही संभव है और वे ऐसा करते भी हैं।"

बाबूजी के चेहरे की मुस्कराहट मेरी दलील पूरी होते न होते बढ़ गयी। मैं कुछ-कुछ समझ तो गया कि मैं अपनी ही दलील से धराशायी होने जा रहा हूँ, मगर क्यों, ऐसा क्या कह दिया था मैंने, यह नहीं जान पा रहा था।

बाबूजी बोले, "मेरी और साहू शांतिप्रसाद की स्थिति में मुझे तो कोई अंतर कभी नहीं मालूम हुआ।"

मैं अवाक्! क्या कह रहे हैं बाबूजी! होश में तो हैं बाबूजी!

मेरी ऊहापोह का कुछ क्षण आनंद लिया बाबूजी ने, फिर-बोले, "एक उदाहरण तुमने दिया न, अब एक उदाहरण मेरा भी सुन लो। एक बार मैं और शांतिप्रसाद जी नजीबाबाद जा रहे थे—कार से। रास्ते में शांतिप्रसाद जी ने पूछा, "चाय पियेंगे भाई साहब ?" मैंने कहा, सहजता से सुलभ हो तो पी लेंगे। ड्राइवर से कह दिया गया कि आगे जो भी ठीक-ठाक-सी चाय की दुकान दीखे, वहाँ रोकना। खैर, हम दोनों चाय की दुकान में पहुँचे। चाय मँगायी मुझे वहाँ अपनी मनपसंद चीज 'मूँगरे' दीखे। वे मँगा लिए गये। खा-पीकर चलने को हुए तो होटल वाले ने पीछे से आवाज दी, "पैसे !"—पैसे—होटल था, घर तो था नहीं, पैसे तो देने ही हुए। मगर पैसे न मेरे पास, न शांतिप्रसादजी के। खैर, ड्राइवर को आवाज दी उसने पैसे चुकाये और तब हम मुक्त हुए। तो बताओ, पैसे के मामले में मैं और साहूजी क्या एक-सी स्थिति में नहीं रहे ?"

जिन दिनों 'दशार्क' लिखवा रहे थे, एक रोज लिखना समाप्त होते ही मैंने अपनी एक पुस्तक 'प्रतीक : एक जीवनी' बाबूजी को भेंट की कि यह मेरा उपन्यास है, कल ही प्रकाशक से पहली प्रति मिली है सो आपको समर्पित करना चाहता हूँ।

बाबूजी ने सहर्ष उसे रख लिया।

दूसरे दिन जब मैं नियत समय पर पहुँचा तो बोले कि आज तो लिखना नहीं होगा वीरेंद्र।

मैं हैरान! सुबह के छः बजे हैं, अब दस बजे तक, जब तक 'सारिका' का दफ्तर नहीं खुलता, मैं कहाँ निष्प्रयोजन भटकूँ!

मैं उठने को हुआ तो बोले, "लिखना नहीं होगा मगर तुम्हें छुट्टी भी नहीं मिल रही है।"

तब ?

"आज बातचीत करेंगे हम," बाबूजी बोले, मैं असमंजस में, इतना माद्दा मुझमें कहाँ कि जैनेंद्र से चार घंटे बतिया सकूँ। मैं तो उन्हें सुन भर सकता था, सुनकर लिपिबद्ध कर सकता था, वही अनुभव था मेरा, वही अहो भाग्य।

और बाबूजी ने चर्चा छेड़ी भी तो क्या—मेरे उपन्यास 'प्रतीक : एक जीवनी' की कथा-भूमि ! वही उपन्यास जो मैं गये रोज उन्हें समर्पित कर गया था। मेरे लिए यही बड़ी, अकल्पनीय, अद्वितीय उपलब्धि थी कि मेरी रचना को किसी ने इस त्वरित गति से पढ़ा और पढ़ा किसने जिसे इस अपेक्षा से प्रति दी ही नहीं थी ! और तब भी वह पढ़ गया—अपने तमाम कामों को मुल्तवी करके ? रात भर जागकर ? अपनी रचना के सृजन को बीच ही में छोड़कर !

मुझसे बातचीत करके, मुझे शाबाशी देकर ही नहीं चुक गये बाबूजी ! 'प्रतीक' की कथा-भूमि से बाबूजी काफी हद तक वाकिफ थे। अनाथालयों की पृष्ठभूमि पर लिखे उस उपन्यास को पढ़ने के बाद बाबूजी ने एक अनाथालय के पदाधिकारियों से संपर्क किया। उन्हें वह उपन्यास दिया इस हिदायत के साथ कि इसे पढ़ो और जानो कि अनाथ बच्चों की तकलीफें क्या होती हैं, उनकी अपेक्षाएं, उनके सपने क्या होते हैं, और तब सही संचालन कर पाओगे तुम इन संस्थाओं का। ऐसी जाने कितनी बातें हैं, घटनाएँ हैं जो यदा-कदा स्मृति के दरवाजे पर आ-आकर बाबूजी के एक नये ही रूप से साक्षात् करवा देती रही हैं। कुछ नितांत व्यक्तिगत तो कुछ सर्वथा सार्वजनीन। उनका साहित्य, उनकी स्मृतियाँ ही तो अब जीवित रखेगा बाबूजी को हमारी स्मृति में। केवल इन्हीं के माध्यम से तो वे हमारे साथ थे वरना तो खुद बाबूजी प्रायः गुनगुनाते थे कविवर भूधरदास जी के ये दोहे—

राजा-राणा क्षत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी बार।।
दल-बल देई-देवता, मात-पिता परिवार।
मरती विरियाँ जीव को, कोई न राखनहार।।
दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में सब जग देखो छान।।
आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
यूँ कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय।।
जहाँ देह अपनी नहीं, वहाँ न अपनो कोय।
घर संपति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय।।
दिये चाम चादरमढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन-गेह।।
धन कन कंचन राज सुख, सबहि सुलभकर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान।।

□□

पत्रिका सम्बन्धी विवरण

पत्रिका का नाम	: इन्द्रप्रस्थ भारती
प्रकाशन की अवधि	: त्रैमासिक
मुद्रक एवं प्रकाशक का नाम	: डॉ० नारायणदत्त पालीवाल
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: सचिव, हिंदी अकादमी, दिल्ली, ए-२६/२७, सनलाइट इन्श्योरेंस बिल्डिंग, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२
सम्पादक	: डॉ० नारायणदत्त पालीवाल
राष्ट्रीयता	: भारतीय
पता	: हिंदी अकादमी, दिल्ली, ए २६/२७ सनलाइट इन्श्योरेंस बिल्डिंग, आसफ अली रोड, दिल्ली-११०००२
स्वामित्व	: हिन्दी अकादमी, दिल्ली (दिल्ली प्रशासन) ए-२६/२७ सनलाइट इन्श्योरेंस बिल्डिंग, आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२

मैं डॉ० नारायणदत्त पालीवाल, सचिव, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर

डॉ० नारायणदत्त पालीवाल

हिन्दी अकादमी के महत्त्वपूर्ण कार्य

१. साहित्यकार सम्मान
२. साहित्यिक कृति पुरस्कार
३. नवोदित लेखक पुरस्कार
४. युवा प्रतिभा प्रोत्साहन
५. छात्र पुरस्कार
६. दिल्ली के साहित्य/लोक साहित्य पर शोध छात्रवृत्ति
७. उत्कृष्ट बाल साहित्य को प्रोत्साहन
८. लघु पत्र-पत्रिकाओं को सहयोग
९. 'उभरते स्वर' एवं 'उगती किरणें' नामक योजनाएँ
१०. साहित्यिक गोष्ठियाँ, सम्मेलन एवं परिचर्चा
११. 'भाषा भारती' कार्यक्रम
१२. भेंट वार्ता एवं साक्षात्कार
१३. संदर्भ पुस्तकालय एवं वाचनालय
१४. भाषा कार्यशाला एवं प्रशिक्षण
१५. विद्यालयों/महाविद्यालयों/विश्वविद्यालयों में सहयोगी आयोजन
१६. स्वयंसेवी संस्थाओं को सहयोग
१७. भाषायी संस्कृति एवं भावनात्मक एकता से सम्बद्ध कार्यक्रम
१८. स्वतंत्रता दिवस एवं गणतंत्र दिवस कवि-सम्मेलन
१९. साम्प्रदायिक सौहार्द्र से सम्बन्धित सहयोगी कार्यक्रम
२० मासिक साहित्यिक गोष्ठियाँ
२१. हिन्दी प्रचार एवं प्रसार के कार्यक्रम
२२. वार्षिक स्मारिका 'संकल्प' का प्रकाशन
२३. त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका 'इन्द्रप्रस्थ भारती' का प्रकाशन
२४. पाण्डुलिपि संग्रह/प्रकाशन योजना

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

सचिव
हिन्दी अकादमी
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२

डॉ० नारायणदत्त पालीवाल, सचिव, द्वारा हिन्दी अकादमी (दिल्ली प्रशासन) के लिए प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली नं ११, विश्वासनगर, दिल्ली-११००३२ में मुद्रित।

हिन्दी अकादमी के महत्त्वपूर्ण कार्य

१. साहित्यकार सम्मान
२. साहित्यिक कृति पुरस्कार
३. नवोदित लेखक पुरस्कार
४. युवा प्रतिभा प्रोत्साहन
५. छात्र पुरस्कार
६. दिल्ली के साहित्य/लोक साहित्य पर शोध छात्रवृत्ति
७. उत्कृष्ट बाल साहित्य को प्रोत्साहन
८. लघु पत्र-पत्रिकाओं को सहयोग
९. 'उभरते स्वर' एवं 'उगती किरणें' नामक योजनाएँ
१०. साहित्यिक गोष्ठियाँ, सम्मेलन एवं परिचर्चा
११. 'भाषा भारती' कार्यक्रम
१२. भेंट वार्ता एवं साक्षात्कार
१३. संदर्भ पुस्तकालय एवं वाचनालय
१४. भाषा कार्यशाला एवं प्रशिक्षण
१५. विद्यालयों/महाविद्यालयों/विश्वविद्यालयों में सहयोगी आयोजन
१६. स्वयंसेवी संस्थाओं को सहयोग
१७. भाषायी संस्कृति एवं भावनात्मक एकता से सम्बद्ध कार्यक्रम
१८. स्वतंत्रता दिवस एवं गणतंत्र दिवस कवि-सम्मेलन
१९. साम्प्रदायिक सौहार्द्र से सम्बन्धित सहयोगी कार्यक्रम
२० मासिक साहित्यिक गोष्ठियाँ
२१. हिन्दी प्रचार एवं प्रसार के कार्यक्रम
२२. वार्षिक स्मारिका 'संकल्प' का प्रकाशन
२३. त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका 'इन्द्रप्रस्थ भारती' का प्रकाशन
२४. पाण्डुलिपि संग्रह/प्रकाशन योजना

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :

सचिव
हिन्दी अकादमी
ए-२६/२७, सनलाइट इंश्योरेंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११०००२

डॉ० नारायणदत्त पालीवाल, सचिव, द्वारा हिन्दी अकादमी (दिल्ली प्रशासन) के लिए प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली नं ११, विश्वासनगर, दिल्ली-११००३२ में मुद्रित।